द्वितीय प्रकरण

भुवनसंख्या

भुवनसस्था का थोडा सा परिचय उपोद्घात मे दे चुके है। अब यहा उसकी अवशिष्ट बातें लिखेंगे। हमारे यहा सब ग्रहो की योजनात्मक गति समान मानी गयी है। वे अपनी कक्षा में एक दिन मे लगभग ११८५८ $\frac{3}{4}$ योजन चलते है और इस प्रकार कल्प भर में जितना चलते है उसे आकाशकक्षा कहते हैं। पृथ्वी के चारो ओर ग्रह जिन मार्गो मे घूमते है उनका नाम कक्षा है। कक्षा की एक प्रदक्षिणा को भगण कहते है। आकाशकक्षा कोई स्वतन्त्र पदार्थ नही है। ग्रहकक्षा इत्यादि का मान लाने के लिए उसकी कल्पना की गयी है। कल्प मे ग्रह अपनी कक्षा की जितनी प्रदक्षिणाएँ करता है अर्थात् उसके जितने भगण होते है, उस सख्या का आकाशकक्षा मे भाग देने से उसकी कक्षा का योजनात्मक मान आता है। सूर्यसिद्धान्तोक्त कक्षामान ये है—

	कक्षामान-योजन		कक्षामान-योजन		कक्षामान-योजन
चन्द्र	३२४०००	सूर्य	४३३१५००	शनि	१२७६६८२५५
बुधशीघ्र	१०४३२०९	मङ्गल	८१४६९०९	नक्षत्रमण्डल	२५९८९००१२
शुक्रशीघ्र	२६६४६३७	गुरु	५१३७५७६४	आकाश	१८७१२०८०८६४००००००

पृथ्वी से चन्द्रमा की दूरी

प्रथम आर्यसिद्धान्त को छोड अन्य सब सिद्धान्तो की योजनाबद्ध ग्रह-दिनगतियाँ समान है, फिर भी प्रत्येक की कल्पदिनसख्या मे थोडा अन्तर होने के कारण आकाशकक्षा और ग्रहकक्षाओं मे भी थोडा भेद है। उन सब को यहा लिखने की आवश्यकता नही है, क्योकि उनमे वास्तविक अश बहुत थोडा है। अधिकाश बाते केवल कल्पित है, तथापि चन्द्रकक्षा बिलकुल कल्पित भी नही है, उसमे सत्य का अश बहुत अधिक है। प्रथम आर्यभट के अतिरिक्त अन्य सभी आचार्यो ने चन्द्रकक्षाप्रदेश मे उसकी कक्षा की एक कला का मान १५ योजन माना है। इस प्रकार सम्पूर्ण कक्षा का मान (३६० × ६० × १५ =) ३२४००० और उसकी त्रिज्या ५१५६६ योजन आती है। यही पृथ्वी से चन्द्रमा की दूरी है। सूर्य सिद्धान्तानुसार पृथ्वी की त्रिज्या ८०० योजन है अत पृथ्वी और चन्द्रमा का अन्तर पृथ्वीत्रिज्या का ६४.४६ गुना हुआ। आधुनिक मतानुसार ५०.९६ गुना है। इससे सिद्ध हुआ कि हमारे सिद्धान्तकारो की निश्चित की हुई पृथ्वी की चन्द्रमा से दूरी और उसकी कक्षा का मान वास्तविक मान के बिलकुल पास है। इतना शुद्ध मान निश्चित करनेवाले वे आचार्य वस्तुत स्तुत्य हैं।

हमारे यहा सब ग्रहो की स्वकक्षामण्डलस्थ योजनात्मक गति समान मानी गयी है और ग्रहो की कल्पभगणसख्या का आकाशकक्षा मे भाग देकर कक्षामान लाये गये है। इसका अर्थ यह होता है कि ग्रहो के प्रदक्षिणाकाल और उनकी कक्षाएं अर्थात् पृथ्वी से उनके अन्तर नियमित रहते है। आधुनिक ज्योतिषशास्त्रानुसार यह नियम अशुद्ध है। केप्लर द्वारा आविष्कृत और न्यूटनादिको द्वारा स्वीकृत आधुनिक सिद्धान्त यह है कि ग्रहों के प्रदक्षिणाकाल के वर्ग और सूर्य से ग्रह पर्यन्त की दूरी के घन नियमित होते है।

पृथ्वी से ग्रहों की दूरी

सूर्यसिद्धान्तानुसार पृथ्वी से सूर्य का अन्तर ६८९४३० योजन अर्थात् भूत्रिज्या का लगभग ८६२ गुना है, परन्तु आधुनिक मतानुसार लगभग २३३०० गुना है। इस प्रकार हमारे सिद्धान्तो मे बताये हुए सूर्य के उस पार के ग्रहो के अन्तर अधिक अशुद्ध है। हमारे ज्योतिषियो ने वेदाधिको द्वारा आकाशकक्षामान और ग्रहो की स्वकक्षा-मण्डलस्थ योजनात्मक दिनगति निश्चित करके तदनुसार कक्षामान और ग्रहो के प्रदक्षिणाकाल नही निकाले है। उन्होने वेदाधिको द्वारा प्रथम प्रदक्षिणाकाल और चन्द्रकक्षामान निश्चित करने के बाद तदनुसार आकाशकक्षा और ग्रहकक्षओ के मान निकाले है, यह बिलकुल स्पष्ट है। क्योकि एक तो पञ्चसिद्धान्तिका मे ग्रहकक्षा और आकाशकक्षा के योजनात्मक मान नही दिये है, चन्द्रकक्षामान भी नही है अत ये मान मूलसूर्यसिद्धान्त मे भी नही रहे होगे। वर्तमान सूर्यसिद्धान्त मे है और मै अनुमान कर चुका हूँ कि वर्तमान सूर्यसिद्धान्त पञ्चसिद्धान्तिका से प्राचीन है, तथापि वर्तमान सूर्यसिद्धान्तोक्त कक्षामानो का उसमे बाद मे प्रक्षिप्त होना असम्भव नही है।[1] दूसरे, प्रथम आर्यसिद्धान्त के अतिरिक्त सब सिद्धान्तो मे चन्द्रकक्षा की एक कला १५ योजन मानी गयी है। तीसरी बात यह कि ग्रहो के कक्षामाननियमित है, उनमे वे सदा भ्रमण करते है उनके स्थान नही बदलते। अत यह कथन व्यर्थ है कि सब ग्रह कल्प मे आकाश की एक प्रदक्षिणा करते है। भास्कराचार्य ने तो सिद्धान्तशिरोमणि के कक्षाध्याय मे स्पष्ट लिखा है—

> ब्रह्माण्डमेतन्मितमस्तु नो वा कल्पे ग्रह क्रामति योजनानि।
> यावन्ति पूर्वैरिह तत्प्रमाण प्रोक्तं खकक्षाख्यमिद मत न ॥३॥

अर्थात् ब्रह्माण्ड परिमित (खकक्षामित) हो अथवा न हो, मेरे मतानुसार कल्प मे ग्रह जितने योजन चलता है उसी को प्राचीन आचार्यो ने खकक्षा कहा है। अत हमारे

---

१. ब्रह्मगुप्तसिद्धान्त (शक ५५०) में कक्षामान हैं, अतः यदि वे सूर्यसिद्धान्त में बाद में आये होंगे तो भी शक ५५० के थोड़े ही दिनों बाद आये होंगे।

ज्योतिषियो ने चन्द्रकक्षा और ग्रहप्रदक्षिणाकाल की सहायता से ग्रहकक्षाएँ निश्चित की है। उन्हे निश्चित करने का आधारभूत सिद्धान्त—प्रदक्षिणाकाल और ग्रहकक्षाएँ नियमित होती है—अशुद्ध होने के कारण कक्षामान भी अशुद्ध हो गये और आकाश-कक्षामान का केवल कल्पित होना स्पष्ट ही है।

यद्यपि हमारे ग्रन्थो के कक्षामान अर्थात् ग्रहमाला के मध्य से ग्रहो के अन्तर अशुद्ध है तथापि इसके कारण उनकी स्पष्टस्थिति मे जो एक प्रकार का अन्तर पड़ता है—जिसे शीघ्र-फलसस्कार कहते है—वह हमारे ग्रन्थो मे दिया है। उसके द्वारा लाये हुए ग्रह मालामध्य से ग्रहो के अन्तर अर्थात् मन्दकर्ण आधुनिक मानो से प्राय मिलते है। नीचे के कोष्ठक मे यह बात दिखायी है। इसमे टालमी के भी मान दिये है। (टालमी के मान बर्जेस के सूर्यसिद्धान्त के अनुवाद से और आधुनिक मान लूमिस के ग्रन्थ से लिये है।)

ग्रह	सूर्यसिद्धान्त		टालमी	आधुनिक
	युग्मपदान्त मे	ओजपदान्त मे		
सूर्य (या पृथ्वी)	१	१	१	१
बुध	३६९४	३६६७	.३७५०	३८७१
शुक्र	.७२७८	७२२२	७१९४	७२३३
मगल	१.५१३९	१.५५१७	१ ५१६०	१ ५२३७
गुरु	५.१४२९	५	५ २१७४	५.२०२८
शनि	९.२३०८	९	९ २३०८	९.५३८८

यहा जो सूर्यसिद्धान्तीय मान लिखे है वे, बुध-शुक्र के मन्दकर्ण उनकी कक्षा की परिधि का अर्थात् ३६० का उनकी नीचोच्चवृत्तपरिधि[1] मे भाग देकर और बहिर्वर्ती[2] ग्रहो के मन्दकर्ण नीचोच्चवृत्तपरिधि का ३६० अश मे भाग देकर लाये गये है।

प्रथम आर्यभट का चन्द्रकक्षामान भिन्न है। उन्होने दशगीतिकापाद मे लिखा है—

शशिराशयष्ठ १२ चक्र तेशकलायोजनानि य ३० व ६० ञ १० गुणा ॥४॥

इसमे बताया है कि चन्द्र कक्षा की कलाओ मे १० का गुणा करने से योजन होते है। अर्थात् एक कला मे १० योजन माने है, पर अन्य सिद्धान्तों मे १५ योजन माने है।

---

१. नीचोच्चवृत्तपरिधियाँ आगे लिखी है और इस विषय का अधिक विवेचन आगे स्पष्टाधिकार में किया है।

२. बुध-शुक्र अन्तर्वर्ती और शेष ग्रह बहिर्वर्ती हैं।

देखने मे यह बात अन्य सिद्धान्तो से विरुद्ध ज्ञात होती है पर वस्तुत विरुद्ध नही है। अन्य सिद्धान्तो का चन्द्रकक्षामान आर्यभट के मान का डेढगुना है पर अन्य मान भी डेढगुने है। जैसे—

	प्रथमार्यसिद्धान्त-योजन	सिद्धान्तशिरोमणि-योजन
भूव्यास	१०५०	१५८१
सूर्यबिम्बव्यास	४४१०	६५२२
चन्द्रबिम्बव्यास	३१५	४८०

भूत्रिज्या

प्रथम आर्यसिद्धान्तानुसार पृथ्वी से चन्द्रमा का अन्तर ३४३७७ योजन है। यह उस सिद्धान्त की भूत्रिज्या ५२५ का ६५ ५ गुना है, अत निष्पत्ति की दृष्टि से आर्य-सिद्धान्त का औरो से विरोध नही है। सख्याएँ भिन्न होने के कारण योजनमान की भिन्नता है। लल्ल प्रथम आर्यभट के प्राय अनुयायी है, इसलिये उनके मान भी प्रथम आर्यभट के अनुसार ही है। द्वितीय आर्यभट के मान अन्य सिद्धान्तो के अनुसार है।

उपर्युक्त विवेचन से भूत्रिज्या का सम्बन्ध है अत. यहा उसका भी थोडा विवेचन करेगे। भिन्न-भिन्न ग्रन्थो के योजनात्मक भूव्यास ये है—

ग्रन्थ	भूव्यास	ग्रन्थ	भूव्यास
पञ्चसिद्धान्तिका	१०१८ ६	ब्रह्मगुप्तसिद्धान्त, सिद्धान्तशिरोमणि, वसिष्ठसिद्धान्त	१५८१
वर्तमान सूर्यसिद्धान्त, सोमसिद्धान्त, शाकल्योक्त ब्रह्मसिद्धान्त	१६००	द्वितीय आर्यसिद्धान्त	२१०९
प्रथमार्यसिद्धान्त, लल्ल	१०५०		

योजनमान

योजन का ठीक प्रमाण ज्ञात न होने के कारण इस बात का पता नही लगता कि हमारे ग्रन्थो के भूव्यास कहाँ तक शुद्ध है। हमारे अधिकांश ग्रन्थो में योजन मे ३२००० हाथ माने है। १९.८ इञ्च का हाथ मानने से योजन मे १० इगलिश मील होते है । इस नियमानुसार सबसे न्यून पञ्चसिद्धान्तिका का भूव्यास भी १०१८६ मील आता है। आधुनिक सिद्धान्तानुसार पृथ्वी का पूर्व पश्चिम व्यास ७९२५ मील है । वस्तुत योजन का मान १० मील से कम होगा।

वाचस्पति और शब्दार्णव कोशो मे १६००० हाथ का योजन बताया है, अत उनके अनुसार योजन मे ५ मील होगे। ईसवी सन् की सातवी शताब्दी के मध्य मे ह्वेनसाग नामक चीनी यात्री भारत मे आया था। उसने सम्पूर्ण भारत का वर्णन लिखा है। उसने स्थानो के अन्तर 'ली' नामक चीनी मापक से लिखे है। उसका कथन है कि[१] प्राचीन पद्धति के अनुसार योजन ४० ली तुल्य है और भारत के वर्तमान राज्यो मे प्रचलित योजन ३० ली का है, परन्तु शास्त्रीय ग्रन्थो मे लिखित योजन १६ ली के बराबर है। ईसवी सन् की सातवी शताब्दी मे चीन मे जो ली प्रचलित थी उसका मान से० मार्टिन ने ३२९ मीटर अर्थात् १०८० इगलिश फुट माना है।[२] इसके अनुसार ह्वेनसाग के बताये हुए तीन योजनो के मान ८$\frac{१}{५}$, ६$\frac{१}{८}$, ३$\frac{१}{४}$, इगलिश मील होते है। अर्थात् उस समय इस देश मे प्रचलित योजन ६$\frac{१}{७}$ मील तुल्य था। ज० कनिघम ने भी ह्वेनसागलिखित भिन्न-भिन्न प्रसिद्ध स्थानो के वर्तमान अन्तरो द्वारा ह्वेनसाग की ६ ली का मान एक मील निश्चित किया है।[३] पर उनका मत है कि ह्वेनसाग ने ये अन्तर उन मार्गों के आधार पर लिखे है जिनसे होकर उसने यात्रा की थी और मार्ग सीधे नही होते इसलिए सरल-रेखात्मक अन्तर जानने के लिए इनमे से एक षष्ठाश घटा देना चाहिए। इस प्रकार कनिघम और से० मार्टिन के योजनमान मिलते-जुलते है। इन सब बातो का विचार करने से मालूम होता है कि ह्वेनसाग के समय ३० ली का योजन प्रचलित था और कनिघम के नियमानुसार ६ ली का मील मानना चाहिए। साराश यह कि उस समय प्रचलित योजन का सरलरेखात्मक मान (३० — ६ =) ५ मील था। ईसवी सन् की सातवी शताब्दी मे ह्वेनसांग के भारत मे आने के कुछ ही पूर्व अथवा उसी के आस-पास यहा ब्रह्मगुप्त विद्यमान थे। उन्होने भूव्यास का मान १५८१ योजन अर्थात् ७९०५ मील लिखा है। यह सूक्ष्म रीतियों द्वारा निश्चित किये हुए वर्तमान व्यास ७९२५ मील के लगभग तुल्य ही है।

अंश

भास्कराचार्य ने सिद्धान्तशिरोमणि के भुवनकोश में लिखा है—

---

१. Julien's Memoirs de Hiouen Tsang 1.59 बर्जेस के सूर्यसिद्धान्तानुवाद का पृष्ठ ३६।

२. Julien's Memoirs de Hiouen Tsang II 251, बर्जेस के सूर्यसिद्धान्तानुवाद का पृष्ठ २८४।

३. कनिंघम के प्राचीन भूगोल के आरम्भ का सामान्य वर्णन देखिए।

निरक्षदेशात् क्षितिषोडशाशे भवेदवन्ती[1] गणितेन यस्मात्।
तदनन्तर षोडशसगुण स्याद् भूमानम्. .. . ॥१५॥

निरक्ष देश से भूगोल के १६वे भाग पर अवन्ती है, इसलिए दोनो के अन्तर मे १६ का गुणा करने से पृथ्वी की परिधि आयेगी।[1] इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि हमारे ज्योतिषी यह जानते थे कि धारातल का एक अश किस प्रकार नापना चाहिए और उससे भूपरिधि किस प्रकार लानी चाहिए। तथापि यह भी सत्य है कि भूपरिधि के एक अश का सूक्ष्म मान जानने के लिए यूरोप की भाति हमारे देश मे पर्याप्त प्रयत्न नही हुए है।

भुवनाधार

हमारे ज्योतिषियो का मत है कि पृथ्वी विश्व के मध्य भाग मे आकाश मे निराधार स्थित है और ग्रह उसके चारो ओर घूमते है। पर ग्रहो के आधार के विषय मे उन्होने स्पष्टतया कुछ नही लिखा है तथापि ग्रह और नक्षत्रो मे गति होने का कारण प्रवह वायु बताया है। इससे ज्ञात होता है कि उनके मतानुसार प्रवह के आधार पर ग्रहादिक आकाश मे स्थित है। द्वितीय आर्यभट ने १६वे अध्याय मे लिखा है—

निजनिजकर्मविपाकैर्जीवैरुपभुज्यते फल चित्रम्।
तद्भोगस्थानानि स्वर्गादिकसज्ञका लोका ॥३॥
अनिलाधारा केचित् केचिल्लोका वसुन्धराधारा ।
वसुधा नान्याधारा तिष्ठन्ति गगने स्वशक्तयैव ॥४॥

यहा कुछ लोको को वायु के आधार पर स्थित बताया है पर ग्रह और नक्षत्रो को लोक नही कहा है। मालूम होता है, हमारे ज्योतिषियो को यह कल्पना नही थी कि ग्रह और नक्षत्र भी हमारे भूगोल सरीखे विस्तृत जड गोल है।

भास्कराचार्य ने पृथ्वी मे आकर्षण शक्ति मानी है; उन्होने गोलाध्याय के भुवन कोश मे लिखा है—

आकृष्टिशक्तिश्च मही तया यत् खस्थ गुरु स्वाभिमुख स्वशक्त्या।
आकृष्यते तत्पततीव भाति ॥६॥

---

१. इसके अनुसार अवन्ती का अक्षांश (३६०–१६) २२ आता है। सम्प्रति उज्जयिनी का अक्षांश २३।६ निश्चित किया गया है।

अर्थात् पृथ्वी मे आकर्षणशक्ति है, वह आकाशस्थ जड पदार्थों को स्वशक्ति से अपनी ओर खीचती है, इससे वे पदार्थ गिरते हुए ज्ञात होते है। यहा पदार्थ के पतन का कारण आकर्षण बताया है। न्यूटन ने भी पदार्थपतन के ही आधार पर पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति का आविष्कार किया, पर उन्होने गणित द्वारा यह भी सिद्ध कर दिखाया कि ग्रहमाला आकर्षणशक्ति द्वारा ही सूर्य के चारो ओर घूमती है। हमारे देश में यह अग्रिम कार्य नही हुआ।

जगत्सस्था के वर्णन मे सब सिद्धान्तो मे धरातलस्थ सप्त समुद्र, सप्त महाद्वीप, पर्वत और नदियो का भी वर्णन है, परन्तु वह वस्तुत भूगोल का विषय है इसलिए विस्तार-भय से यहा नही लिखा है। विषुववृत्तस्थ प्रदेशो मे ध्रुव क्षितिज मे दिखाई देता है और ग्रहादिक क्षितिज पर लम्बरूप मे ही उदित और अस्त होते है, ज्यो ज्यो उत्तर जायँ, ध्रुव क्रमश. ऊँचा दिखाई देता है और ग्रहादिको का दैनन्दिन गतिसम्बन्धी गमन-मार्ग क्षितिज पर तिरछा होता जाता है, ध्रुवस्थान मे सूर्यादि क्षितिज के समानान्तर मार्ग मे भ्रमण करते है, इत्यादि बातो का विवेचन सभी सिद्धान्तो मे रहता है। विस्तार-भय से यहा मूलवचन नही दिये है। उत्तरगोलार्ध मे कुछ अक्षाशो पर राशिचक्र का कुछ भाग कभी भी नही दिखाई देता, कुछ अक्षाशो पर कुछ राशिया नही दिखाई देती, कुछ स्थानो पर सूर्य ६० घटी अथवा इससे भी अधिक समय तक दिखाई देता है—इत्यादि बातो का भी विवेचन कुछ सिद्धान्तो मे है, मर यहा उसे विस्तारपूर्वक लिखने की आवश्यकता नही है।

मेरु, सप्त लोक

ध्रुवस्थान मे मेरु माना गया है। भास्कराचार्य ने उसी पर ब्रह्मा, विष्णु, महेश इत्यादि लोकपालों के स्थानों की कल्पना की है। भूरादि सात लोको के विषय मे उन्होने लिखा है—

भूर्लोकाख्यो दक्षिणे व्यक्षदेशात्
तस्मात् सौम्योऽयं भुव स्वश्च मेरु ।
लभ्य पुण्यैः खे मह स्याज्जनोऽतो
ऽनल्पानल्पैः स्वैस्तप. सत्यमन्त्यः ॥४३॥

भुवनकोश

इसमे बताया है कि निरक्ष देश के दक्षिण में भूलोक और उत्तर में जहाँ हम लोग रहते है भुवर्लोक है। मेरु स्वर्लोक है। मह, जन, तप और सत्य लोक आकाश में

ह। उनमे सत्य अन्त मे है। महाद्वीप, सप्तसमुद्र और भू इत्यादि लोको के विषय मे भास्कराचार्य ने लिखा है कि इनका वर्णन पुराणाश्रित है।

इस वर्णन मे सब ग्रन्थो की पूर्णतया एकवाक्यता नही है।

भूवायु

भास्कराचार्य ने मध्यगतिवासनाप्रकरण मे लिखा है—

भूमेर्बहिर्द्वादशयोजनानि भूवायुरत्राम्बुदविद्युदाद्यम् ।।२।।

अर्थात् भूपृष्ठ से १२ योजन पर्यन्त भूवायु रहता है। मेघ, बिजली इत्यादि इसी मे रहते है। दोनो आर्यभट और लल्ल ने भी वातावरण की ऊँचाई इतनी ही मानी है। १२ योजन मे ६० मील होते है। आधुनिक शोध के अनुसार वातावरण की ऊँचाई ४५ से १०० मील पर्यन्त है। श्रीपति ने लिखा है—

निर्वातोल्काघनसुरधनुर्विद्युदन्त कुवायो सन्दृश्यन्ते खनगरपरीवेषपूर्वम्[1] .. ।

अर्थात् निर्वात, उल्का, धन, इन्द्रधनुष, बिजली, गन्धर्वनगर और परिशेष भुवायु मे रहते है। लल्ल, श्रीपति, भास्कराचार्य इत्यादिको ने भूवायु के ऊपर अन्य प्रवहादि वायुओ की कल्पना की है। लल्ल ने लिखा है—

आवह प्रवह उद्वहस्तथा सवह सुपरिपूर्वको वहौ।
सप्तमस्तु पवन परावह. कीर्तित कुमरुदावहो परै ।।१।।

धीवृद्धिदतन्त्र, ग्रहभ्रमसस्था

ग्रहभगण

ग्रहमध्यमगति के हेतु का विवेचन ऊपर कर चुके है। भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों मे बतायी हुई कल्पीय या महायुगीय ग्रहभगणसख्याएँ भी ऊपर लिखी है। बुध और शुक्र के विषय मे एक विशेष बात यह बतानी है कि वे सदा सूर्य के पास रहने के कारण नक्षत्रमण्डल की सूर्य-जितनी ही प्रदक्षिणाएँ करते है। इसलिए हमारे ग्रन्थकारो ने उनके भगण और मध्यगतिया सूर्य तुल्य ही मानी है तथापि उन्होने बुधशीघ्र और शुक्रशीघ्र की कल्पनाएँ करके उनके भगण पृथक दिये है। वे उतने ही हैं जितनी बुध-शुक्र सूर्य की प्रदक्षिणाएँ करते है। साराश यह कि हमारे ज्योतिषियों को यह कल्पना नही थी

---

१. बापूदेव शास्त्री-प्रकाशित सिद्धान्तशिरोमणि पृष्ठ २६७ की टिप्पणी देखिए।

कि ग्रह सूर्य के चारो ओर घूमते है, पर उन्होने बुधशुक्र-शीघ्रभगण को महत्व दिया है—यह बात ध्यान देने योग्य है।

ग्रहप्रकाश

हमारे ज्योतिषशास्त्र का मत है कि ग्रह स्वयप्रकाशित नही है, उन्हे प्रकाश सूर्य द्वारा मिलता है। प्रथम आर्यभट ने लिखा है—

> भूग्रहभाना गोलार्धानि स्वच्छायया विवर्णानि।
> अर्धानि यथासारं सूर्याभिमुखानि दीप्यन्ते ॥५॥

गोलपाद

यहा भू और ग्रह के साथ-साथ नक्षत्रो को भी सूर्य से ही प्रकाशित बताया है पर यह कथन ठीक नही है। चन्द्रमा की क्षय-वृद्धि और उसकी शृङ्गोन्नति का हमारे ग्रन्थो मे पर्याप्त विवेचन है।

ग्रहविक्षेप

ग्रहो के मध्यम विक्षेपमान अर्थात् क्रान्तिवृत्त से उनकी कक्षाओ के दूरत्व कुछ सिद्धान्तो मे मध्यमाधिकार मे ही दिये है, अत भिन्न-भिन्न सिद्धान्तो के विक्षेपमान यही लिखते है। टालमी के मान और आधुनिक मान भी यही लिखे है।

	वर्तमान सूर्यसिद्धान्त		प्रथमार्यसि-लल्ल		ब्रह्मसिद्धा-शिरोमणि		द्वितीय आर्यसिद्धा		टालमी[1]		आधुनिक		
	अश	कला	अश	कला	अश	कला	अश	कला	अश	कला	अंश	कला	विकला
चन्द्र	४	३०	४	३०	४	३०	४	३०	५	०	५	८	४७.९
मङ्गल	१	३०	१	३०	१	५०	१	४६	१	०	१	५१	२
बुध	२	०	२	०	२	३२	२	१८	७	०	७	०	७७
गुरु	१	०	१	०	१	१६	१	१४	१	३०	१	१८	४१.४
शुक्र	२	०	२	०	२	१६	२	१६	३	३०	३	२३	३४.६
शनि	२	०	२	०	२	१०	२	१०	२	३०	२	२६	३६.५

१. टालमी के मान बर्जेश के सूर्यसिद्धान्तानुवाद से और आधुनिक मान लिह्वेरि-अन कथित लिये है।

हमारे विक्षेपमानो की आधुनिक मानो से सीधी तुलना करना ठीक नही है। योग्य तुलना करने से ज्ञात होगा कि हमारे मान सूक्ष्म है। यहा इसका विवेचन करेंगे।

विक्षेपमान शरो द्वारा लाये जाते है। क्रान्तिवृत्त से ग्रह के कदम्बाभिमुख अन्तर को शर कहते है। ग्रहकक्षा और क्रान्तिवृत्त के सम्पात मे शर शून्य रहता है और वहा से ३ राशि पर महत्तम होता है। ग्रहकक्षाएँ ठीक वृत्ताकार नही है। अपनी कक्षा के मध्य से ग्रह सदा समान अन्तर पर नही रहते। चन्द्रमा पृथ्वी की प्रदक्षिणा करता है इस कारण जब वह पात से त्रिभान्तरित रहता है उस स्थिति मे उसका प्रत्यक्ष अन्तर सदा समान न होने पर ही अंशात्मक अन्तर समान ही रहता है। अन्य ग्रहो की यह स्थिति नही है। वे सूर्य की प्रदक्षिणा करते है। सूर्यस्थ द्रष्टा को सर्वदा उपर्युक्त आधुनिक विक्षेपो के तुल्य ही उनका परमशर दिखाई देगा, परन्तु भूस्थित द्रष्टा को न्यूनाधिक दिखाई देगा। उसमे दो कारणो से अन्तर पडेगा। सूर्य से उनके अन्तर अर्थात् मन्दकर्ण ज्यो-ज्यो न्यूनाधिक होगे त्यो-त्यो शर न्यूनाधिक दिखाई देगे। इसी प्रकार पृथ्वी से उनके अन्तर अर्थात् शीघ्रकर्ण के न्यूनाधिकत्व के कारण भी शर मे अन्तर पडेगा। इन दोनो मे से द्वितीय कारण की अपेक्षा प्रथम कारण द्वारा कम अन्तर पडता है। हमारे ज्योतिषियो ने प्रथम कारण द्वारा होनेवाले अन्तर की गणना नही की है पर दूसरे का विचार किया है। विक्षेपमान के विषय मे भास्कराचार्य ने लिखा है—

> (यदा) त्रिज्यातुल्य' शीघ्रकर्णो भवति तस्मिन् दिने वेधवलये यावान् परमो विक्षेप उपलभ्यते तावान् ग्रहस्य परमो मध्यमविक्षेप ॥
>
> ग्रहच्छायाधिकार, श्लोक १ टीका

इसे हमारे ग्रन्थों के विक्षेपमान का लक्षण कह सकते है। शीघ्रकर्ण मध्यम होने पर ग्रह पात से त्रिभान्तरित रहेगा—यह नियम नही है। शीघ्रकर्ण मध्यम हो और ग्रह पात से त्रिभान्तरित हो, उस स्थिति मे उसका जो शर होगा उसी को हमारे ज्योतिषियो ने परम मध्यमविक्षेप माना है। यहा मन्दकर्ण का विचार नही किया है। बहिर्वर्ती ग्रहो के शर में मन्दकर्ण के न्यूनाधिकत्व के कारण अधिक अन्तर नही पडता, पर अन्तर्वर्ती ग्रहो के शर मे पडता है, अत उपर्युक्त कोष्ठक मे जो हमारे ग्रन्थोके विक्षेपमान दिये है उनमे बुध और शुक्र को छोड शेष के विक्षेपमानों की आधुनिक मानों से तुलना करने में विशेष हानि नही है। तुलना करने से ज्ञात होता है कि हमारे ग्रन्थो के मङ्गल और गुरु के विक्षेपमानो का आधुनिक मानो से टालमी के मानो की अपेक्षा अधिक साम्य है।

तृतीय प्रकरण

अयनचलन

सूर्य-चन्द्रमा के दक्षिणोत्तर-अयन क्रान्तिवृत्त के जिन बिन्दुओ मे होते है उनके पास के तारे सदा उन्ही स्थानो मे नही रहते। कुछ दिनों बाद वे पूर्व की ओर चले जाते है या यो कहिए कि अयनबिन्दु ही पश्चिम ओर खिसक आते है। वेदाङ्गज्योतिष, काल मे उत्तरायणारम्भ धनिष्ठारम्भ म होता था। उसके कुछ दिनो बाद श्रवण मे और वराहमिहिर के समय उत्तराषाढा मे होने लगा था। इसी प्रकार नाडी-क्रान्तिवृत्तो के सम्पातबिन्दु भी पश्चिम ओर हटते रहते है, क्योकि वृत्त के एक बिन्दु के चलने पर सब बिन्दु चल पडते है। इस चलन का ज्ञान प्रथम सूर्य के अयनो द्वारा हुआ, इसलिए हमारे अधिकतर ग्रन्थो मे इसे अयनचलन कहा है। द्वितीय आर्यभट इत्यादिको ने अयन को एक ग्रह माना है और उसके भगण लिखे है। भास्कराचार्य ने इसे सम्पात-चलन भी कहा है। आधुनिक यूरोपियन विद्वान् इसको विषुवचलन (Precession of Equinoxes) कहते है। सिद्धान्तशिरोमणि को छोड अन्य सब सिद्धान्तो मे अयनचलन सम्बन्धी गति नक्षत्रमण्डल मे मानी गयी है। उनमे नक्षत्रमण्डल पश्चिम से पूर्व की ओर जाता हुआ बतलाया गया है, पर भास्कराचार्य ने सिद्धान्तशिरोमणि के गोलबन्धाधिकार मे लिखा है—

> तस्य (विषुवत्क्रान्तिपातस्य) अपि चलनमस्ति। येऽयन-चलनभागा प्रसिद्धास्त एव विलोमगस्य क्रान्तिपातस्य भागा।

इससे ज्ञात होता है कि वे पात की ही विलोमगति मानते थे। आधुनिक यूरोपियन विद्वान् भी सम्पात मे ही गति मानते है।

अयनचलनमान

वराहमिहिर की पञ्चसिद्धान्तिका मे अयनचलन की चर्चा बिलकुल नही है अत॰ मूल सूर्यादि पाच सिद्धान्तो मे इसके विषय मे कुछ रहा होगा—यह नही कहा जा सकता। वर्तमान सूर्यसिद्धान्त के त्रिप्रश्नाधिकार मे लिखा है—

> त्रिंशत ३० कृत्यो २० युगे भाना चक्र प्राक् परिलम्बते।
> तद्गुणाद् भूदिनैर्भक्ताद् द्युगणाद्यदवाप्यते ॥९॥
> तद्दोस्त्रिघ्ना दशाप्तागा विज्ञेया अयनाभिधा॰।
> तत्सस्कृताद् ग्रहात्क्रान्तिच्छाया - चरदलादिकम् ॥१०॥
> स्फुट दृक्तुल्यता गच्छेदयने विषुवद्द्वये।

प्राक्चक्र चलित हीने छायार्कात्करणागते ।।११।।
अन्तराशैरथावृत्य पश्चाच्छेषैस्तथाधिके ।

अर्थ—(महा) युग मे भचक्र (३०×२०=) ६०० बार पूर्व ओर जाता है। उस (६००) का अहर्गण मे गुणा करके उसमे युगीय सावनदिनो का भाग देने से जो आता है, उसके भुज मे ३ का गुणा करके १० का भाग देने से जो अश आते है वे अयन सज्ञक होते है। उनसे सस्कृत ग्रह द्वारा क्रान्ति, छाया, चरार्ध इत्यादि लाने चाहिए। चक्र का चलन अयन और दोनो विषुव दिनो मे स्पष्ट दिखाई देता है। छाया द्वारा लाये हुए सूर्य से करणागत सूर्य न्यून हो तो चक्र दोनो के अन्तराश-जितना पूर्व की ओर गया है और अधिक हो तो (भचक्र) लौटकर पश्चिम ओर गया है, ऐसा समझना चाहिए।

इस प्रकार सूर्यसिद्धान्तानुसार एक महायुग मे ६०० और कल्प मे ६लाख अयन-भगण सिद्ध होते है, पर भास्कराचार्य ने गोलबन्धाधिकार मे लिखा है—

तद्भगणा सौरोक्ता व्यस्ता अयुतत्रय कल्पे ।।१७।।

इसका अर्थ यह है कि सूर्यसिद्धान्त मे कल्प मे ३ अयुत अर्थात् एक महायुग मे ३० अयनभगण बतलाये है। इससे ज्ञात होता है कि भास्कराचार्य के समय उपर्युक्त श्लोक के 'त्रिशत्कृत्य' के स्थान मे 'त्रिशत्कृत्व' (३० बार) पाठ था। भास्कराचार्य के इस श्लोक के 'व्यस्ता अयुतत्रयम्' का 'व्यस्त तीन अयुत अर्थात् ३० सहस्र' से भिन्न अर्थ करके सूर्यसिद्धान्त के आधुनिक 'त्रिशत्कृत्य' पाठ से उसकी एकवाक्यता करने का टीकाकारो और ग्रन्थकारो ने बडा प्रयत्न किया है। मुनीश्वर ने सिद्धान्तशिरोमणि की अपनी मरीचि नाम की टीका मे लिखा है—'कोई कोई अयुतत्रय के स्थान मे नियुत-त्रय पाठ बतलाते है[1] और कोई कोई कल्प शब्द का अर्थ वास्तविक कल्प का २०वाँ भाग लगाते है।' ऐसा करने से महायुग मे ६०० भगण आते है। मुनीश्वर स्वय "व्यस्त अयुतत्रय" का एक अर्थ करते है—"वि=विंशति, उससे अस्त=गुणित, अयुतत्रय" और दूसरा अर्थ करते है—"तद्भगणा =उसके भगण, सौरोक्ता =सूर्यसिद्धान्त मे बतलाये है और एक दूसरे ग्रन्थ मे—व्यस्ता अयुतत्रय कल्पे=कल्प मे विलोम तीन अयुत बतलाये है।" इस प्रकार वे यह दिखलाना चाहते है कि सूर्यसिद्धान्त का अयुत-त्रय से कोई सम्बन्ध नही है, पर यह सब खीचातानी है। भास्कराचार्य ने स्वय इस श्लोक की टीका मे लिखा है "क्रान्तिपातस्य भगणा. कल्पेऽयुतत्रय तावत्सूर्यसिद्धान्तोक्ता."

---

१. नृसिह दैवज्ञ ने वासनावार्तिक में ऐसा लिखा है। कल्प में तीन नियुत मानने से महायुग में ३०० भगण आते हैं।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि उन्हे यही अर्थ अभिप्रेत था कि सूर्यसिद्धान्त मे क्रान्तिपात के कल्प मे ३ अयुत अर्थात् महायुग मे ३० भगण बतलाये है।

सूर्यसिद्धान्त के उपर्युक्त श्लोको मे बतायी हुई रीति द्वारा २७ से अधिक अयनाश कभी नही आते। उसमे भचक्र का पूर्व और पश्चिम मे गमन बतलाया है। इससे सूर्यसिद्धान्त का मत यह ज्ञात होता है कि ग्रहादिको की भॉति सम्पात सम्पूर्ण नक्षत्र-मडल की प्रदक्षिणा नही करता, बल्कि भचक्र एक बार सम्पात से २७ अश पूर्व जाकर पुनः मूल स्थान मे आता है। इसके बाद २७ अश पश्चिम जाता है और फिर मूलस्थान मे आ जाता है। अर्थात् उसकी एक प्रदक्षिणा १०८ अशो की होती है। आजकल सूक्ष्म अन्वेषको द्वारा सम्पात की वार्षिक गति ५०.२ विकला निश्चित की गयी है। महायुग मे ३० भगण और एक भगण मे १०८ अश मानने से वार्षिक गति २.७ विकला आती है। यह बहुत थोडी है। ३० भगण और पूर्ण प्रदक्षिणा मानने से ९ विकला आती है। यह भी थोडी ही है। आधुनिक 'त्रिशत्कृत्य' पाठ के अनुसार महायुग मे ६०० भगण और एक भगण मे १०८ अश मानने से ५४ विकला आती है। यह बहुत सूक्ष्म है। सम्प्रति यही अर्थ सर्वमान्य है। आजकल के प्रचलित सभी ज्योतिषग्रन्थो मे सम्पात की वार्षिक गति ६० विकला मानी गयी है और वही ठीक भी है—यह मैने आगे सिद्ध किया है। महायुग मे ६०० भगण और एक भगण मे ३६० अश मानने से वार्षिक गति १८० विकला आती है। यह बहुत अधिक है।

वर्तमान रोमश, सोम और शाकल्योक्त-ब्रह्मसिद्धान्तो मे महायुग मे ६०० अयन-भगण बतलाये है। अयनचलन विषयक उनके वचन ये है—

द्युगणः षट्शतघ्नोऽर्कशुद्धोदयहृतो ग्रह. ।।३१।।
आयनस्त्रिघ्नतद्बाहुभागा दिग्भिर्विभाजिता ।
अयनाशास्तदूर्ध्वार्धे धन पूर्वदले ऋणम् ।।३२।।

रोमशसिद्धान्त-स्पष्टाधिकार

इत्येतदेतत् प्राक्चलन युगे तानि च षट्शतम् ।।१९६।।
युक्त्यायनग्रहस्तस्मिन् तुलादौ प्राक्चल भवेत्।
यद्वा तच्छुद्धचक्रे वा मेषादौ प्राक्चल भवेत् ।।१९७।।
अयनाशास्तद्भुजाशास्त्रिघ्ना. सन्तो दशोद्धृता. ।।

शाकल्यब्रह्मसिद्धान्त, अध्याय २

युगे षट्शतकृत्वो हि भचक्रं प्राग्विलम्बते।
तद्गुणो भूदिनैर्भक्तो द्युगणोऽयनखेचर ।।३१।।

तच्छुद्धचक्रदोर्लिप्ता द्विशत्याप्तायनाशका ।
संस्कार्या जूकमेषादौ केन्द्रे स्वर्ण ग्रहे किल ।।३२।।

सोमसिद्धान्त-स्पष्टाधिकार

वर्तमान वसिष्ठसिद्धान्त मे, जिसे कोई कोई लघुवसिष्ठसिद्धान्त भी कहते है, अयनाश लाने की रीति यह है—

अब्दा खखर्तु ६०० भिर्भाज्यास्तद्दोस्त्रिघ्ना दशोद्धृता ।
अयनाशा ग्रहे युक्ता . . . . ।।५५।।

स्पष्टाधिकार

इसका अर्थ यह है कि वर्षगण मे ६०० का भाग देने से जो आता है उसके भुज मे ३ का गुणा करके १० का भाग देने से अयनाश आते है। यहा यह स्पष्ट नही बताया है कि ६०० का भाग देने से जो पदार्थ आता है वह राशि है या अश है अथवा भगण है। ६०० वर्षो मे एक राशि मानने से महायुग मे ६०० भगण आते और इतने ही उद्दिष्ट भी मालूम होते है।

इससे ज्ञात होता है कि वर्तमान सूर्यादि पाच सिद्धान्तो मे परम अयनाश २७, सम्पात का पूर्व और पश्चिम मे २७ अश आन्दोलन और उसकी वार्षिक गति ५४ विकला मानी गयी है।

प्रथम आर्यभट और लल्ल ने अयनगति के विषय में कुछ नही लिखा है। ब्रह्मगुप्त ने श्रीषेण और विष्णुचन्द्र के दोषों का वर्णन करते हुए लिखा है—

परमाल्पा मिथुनान्ते द्युरात्रिनाड्योऽर्कगतिवशादृतव.।
नायनयुगं . . . . ।।५४।।

अध्याय ११

इसका अर्थ यह है कि मिथुनान्त में दिन की घटिया परम और रात्रि की अल्प होती है, ऋतुएँ सूर्य की गति के अनुसार होती है अत. अयनयुग नही है। पृथूदक ने इसकी टीका मे लिखा—"कल्प में उस (अयन) के १८९४११ भगण होते हैं, इसे अयनयुग कहते हैं, यह ब्रह्मा अर्क इत्यादिकों को मान्य है—ऐसा अयनयुग के विषय मे विष्णुचन्द्र ने कहा है . . . । सम्प्रति दिन और रात्रि के वृद्धि-क्षय मिथुनान्त में नही होते। 'आश्लेषार्धात्' इत्यादि वचनों से भी केवल अयनगति ही सिद्ध होती है।

उसके बहुत से भगण नही सिद्ध होते।"[1] कल्प मे अयनभगणसंख्या १८९४११ मानने से वर्तमान कलियुग के आरम्भ मे सम्पात का चक्रशुद्ध राश्यादि भोग ०।११।१९। ५५.२ आता है। अन्य ग्रन्थो की शून्यायनाश-वर्षसख्या लगभग शके ४४४ से इसकी कुछ भी सगति नही लगती, अत इस कल्पभगणसख्या मे कुछ अशुद्धि होगी अथवा विष्णुचन्द्र की युगपद्धति ही भिन्न होगी। सम्पात की पूर्ण प्रदक्षिणा मानने से इस सख्या द्वारा वार्षिक अयनगति ५६ ८२१३३ विकला आती है। यह बहुत सूक्ष्म है और इससे ज्ञात होता है कि विष्णुचन्द्र सम्पात की पूर्व प्रदक्षिणा मानते थे। सभव है, उनका अभिप्राय यह रहा हो कि १८९४११ वर्षो मे एक अयनभगण होता है। ऐसा अर्थ करने से कल्प मे अयनभगणसख्या लगभग २२८० आती है। यह अशुद्ध होते हुए भी भास्क-रोक्त सूर्यसिद्धान्त की सख्या ३ अयुत के पास है। कुछ भी हो, अयनगति विषयक विष्णुचन्द्र का वचन बडे महत्व का है। उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उनक समय अर्थात् शके ५०० के लगभग[2] भारतीयो को अयनगति का ज्ञान था।

अयनगति के सम्बन्ध मे भास्कराचार्य ने ब्रह्मगुप्त के विषय मे लिखा है—

"तत्कथ ब्रह्मगुप्तादिभिर्निपुणैरपि [क्रान्तिपात] नोक्त इति चेत्तदा स्वल्पत्वात् तैर्नोपलब्ध। इदानी बहुत्वात् साम्प्रतिकैरुपलब्ध। अतएव तस्य गतिरस्तीत्यवगतम्। यद्येवमनुपलब्धोऽपि सौरसिद्धान्तोक्तत्वादागमप्रामाण्येन भगणपरिध्यादिवत् कथ तैर्नोक्तः।"

यहा भास्कर का कथन यह है कि ब्रह्मगुप्त के समय अयनाश बहुत थोडे थे इसलिए उन्हे वे वेध द्वारा नही ज्ञात हुए। पर यहा शङ्का होगी कि जैसे उन्होने कुछ अन्य अनुपलब्ध मान आगम को प्रमाण मानकर लिखे है, उसी प्रकार सूर्यसिद्धान्त के आधार पर

---

१. Coolebrooke's Mis. Ess. II 465, 380. कोलब्रूक की पुस्तक मे विष्णुचन्द्र का वचन बहुत अशुद्ध था इसलिए उन्होंने उसे नहीं लिखा। मुझे पृथूदक-टीका का वह भाग नहीं मिला। कोलब्रूक लिखते है कि नृसिंह और दादाभाई की टीकाओं मे वह वचन है, पर मुझे नहीं मिला।

२. पञ्चसिद्धान्तिका में अयनगति का वर्णन नहीं है, अतः मूल सूर्यसिद्धान्त में वह था—ऐसा नहीं कह सकते। पर विष्णुचन्द्र के कथन से सूर्यसिद्धान्त में उसका अस्तित्व सिद्ध होता है। इससे ज्ञात होता है कि उन्होंने वर्तमान सूर्यसिद्धान्त के उद्देश्य से ऐसा कहा है। इससे वर्तमान सूर्यसिद्धान्त के काल के विषय में पिछले पृष्ठों मे जो अनुमान किये गये है उनकी पुष्टि होती है।

क्रान्तिपात भगण क्यो नही लिखे। यद्यपि यह सत्य है कि ब्रह्मगुप्त ने अपने ग्रन्थ मे अयनभगण नही लिखे है और अयनसस्कार कही नही बतलाया है, तथापि उपर्युक्त आर्या और उसकी पृथूदकटीका से यह स्पष्ट हो जाता है कि हमे ब्रह्मगुप्त के पहिले अयनचलन का ज्ञान था। ब्रह्मगुप्त के ग्रन्थ मे उसका वर्णन न होने का कारण यह है कि वे सायन रवि की सक्रान्ति की ही अर्थात् सायन मिथुनान्त को ही दक्षिणायनारम्भ मानते थे। (यह बात पीछे उनके वर्णन मे लिख चुके है)। इसीलिए उन्होने गणित से अयनगति का सम्बन्ध बिलकुल नही रखा।

पिछले पृष्ठो मे मुजाल की आर्याएँ लिखी है। उनमे अयनभगणसख्या कल्प मे १९९६६९ बतायी है। सम्पात की पूर्ण प्रदक्षिणा होती है या नही, इस विषय मे यद्यपि उनमे कुछ नही लिखा है तथापि पूर्ण प्रदक्षिणा मानने से कलियुग के आरम्भ मे सम्पात का चक्रशुद्ध राश्यादि भोग ९।२९।३७।४० ८, शून्यायनाश वर्ष शक ४४९ और वार्षिक अयनगति ५९ ९००७ विकला आती है। इन सबो का विचार करने से मुझे इस बात का सन्देह नही रह जाता कि मुजाल सम्पात की पूर्ण प्रदक्षिणा मानते थे। शक ८५४ के उनके लघुमानस करण मे वार्षिक अयनगति एक कला है।

द्वितीय आर्यसिद्धान्त मे अयन को ग्रह मानकर उसके भगण बतलाये है और तदनुसार अयनाश लाने की निम्नलिखित रीति लिखी है—

अयनग्रहदो क्रान्तिज्याचाप केन्द्रवद्धनर्ण स्यात्।
अयनलवास्तत्सस्कृतखेटादयनचरापमलग्नानि ॥१२॥

स्पष्टाधिकार

अर्थ—अयनग्रह का भुज करके क्रान्तिज्याचाप लाओ। उसका धनर्ण केन्द्र की तरह होता है। वे चापाश ही अयनाश कहलाते है। (अयनग्रह मेषादि ६ राशि के भीतर हो तो अयनाश धन और तुलादि ६ राशि के भीतर हो तो ऋण होते है।)[1] उनसे सस्कृत ग्रहो द्वारा अयन, चर, क्रान्ति और लग्न लाने चाहिए।

यह रीति क्रान्ति लाने की रीति सरीखी ही है। हमारे सब सिद्धान्त और द्वितीय आर्यभभ भी परमक्रान्ति २४ अश मानते है, इसलिए द्वितीय आर्यभट के मतानुसार अयनाश २४ से अधिक नही होते। इनका अर्थ यह है कि धन अयनाश शून्य से आरम्भ कर २४ अश पर्यन्त बढते है और तदनन्तर क्रमशः घटते-घटते शून्य तक आ जाते हैं।

१. यह धनर्णसंकेत ग्रहों के विषय में इसी अधिकार में पहिले आ चुका है।

इसके बाद ऋण होकर शून्य से २४ अश तक बढकर पुन घटते-घटते शून्य हो जाते है। अर्थात् सम्पात की एक प्रदक्षिणा ९६ अशो की होती है।

द्वितीय आर्यसिद्धान्त मे अयनग्रह के कल्पीय भगण 'मसिहटमुधा' अर्थात् ५७८-१५९[1] बतलाये है। ९६ अश का भगण मानने से इन भगणो द्वारा वार्षिक अयनगति ४६ ३ विकला आती है, परन्तु यहा अयना शलाने की रीति क्रान्ति की रीति सदृश होने के कारण अयनगति सर्वदा समान नही आयेगी। पूर्वोक्त भगणो द्वारा अयनग्रह की वर्षगति २ कला ५३ ४ विकला आती है। इससे वर्ष मे अयनगति कभी तो ६९ ४ विकला आयेगी और कभी ६ १ विकला या इससे भी कम। अयनग्रह का एक भगण लगभग ७४७२ वर्षो मे पूर्ण होता है। इसके एक चतुर्थाश के प्रथम दशाश मे अर्थात् लगभग १८७ वर्षो तक अयनगति ६९ ४ विकला रहेगी। द्वितीय दशाश मे भी प्राय इतनी ही रहेगी। तृतीय मे ६३ ७ विकला हो जायगी और आगे ५८ १, ५२, ४३ ३, ३० ६, २० ४, ६ १ होगी। इस प्रकार २४ अयनाश हो जाने के बाद द्वितीय चतुर्थाश में जब कि अयनाश घटते रहेगे प्रत्येक दशाश मे ये ही गतिया उत्क्रम से आयेगी। तृतीय चतुर्थाश म फिर क्रम से और चतुर्थ मे पुन उत्क्रम से आयेगी, पर अनुभव ऐसा नही है। अयनगति मे अन्तर पडता है पर बहुत थोडा। इतना कि अयनगति मदा समान रहती है, ऐसा कह सकते है।

द्वितीयआर्यभट ने पराशर-मतानुसार कल्प मे अयनग्रह के ५८१७०९ भगण माने है। इससे शून्यायनाश वर्ष शक ५३२ आता है और अयनाश लाने की रीति क्रान्ति सरीखी होने के कारण अयनगति सदा समान नही आती। उसका मध्यम मान ४६ ५ विकला आता है।

सम्पातभगण कितने होते है और सम्पात की पूर्ण प्रदक्षिणा होती है या १०८ अंश की, इस विषय मे भास्कराचार्य ने स्वकीय मत कुछ भी नही लिखा है।[2] सौरोक्त भगणो का अनुवाद करने के बाद वे आगे लिखते है—

अयनचलन यदुक्त मुजालाद्यै स एवायम (क्रान्तिपात)।
तत्पक्षे तद्भगणा कल्पे गोङ्गर्तुनन्दगोचन्द्रा १९९६६९ ॥१८॥

गोलबन्धाधिकार

---

१. पाठ भेदादिकों का पूर्ण विचार करके यह संख्या निश्चित की गयी है।

२. प्रो० ह्विटने ने (सूर्यसिद्धान्त के अनुवाद के पृष्ठ १०४ मे) लिखा है—भास्कराचार्य ने कल्प में १९९६६९ सम्पातभगण बतलाये है। पर यह उनका भ्रम है, भास्कराचार्य ने यहां मंजालोक्त भगण उद्धृत किये है।

इसकी टीका मे सौरोक्त और मुजालोक्त अयनभगणसख्या बतलाने के बाद वे लिखते है—

> अथ च ये वा ते वा भगणा भवन्तु यदा येऽशा निपुणैरुपलभ्यन्ते तदा स एव क्रान्तिपात. ।

यहां उन्होने केवल इतना ही कहा है कि जिस समय वेध से जो अयनाश उपलब्ध हो वे ही लेने चाहिए। "साम्प्रतोपलब्ध्यनुसारिणी कापि गतिरङ्गीकर्तव्या" कथन से उनका यह मत प्रकट होता है कि उपलब्ध अयनाशो द्वारा कल्पीय भगणो की कल्पना करनी चाहिए। भास्कर के ग्रन्थ मे मुझे उनकी यह उक्ति कही नही मिली कि सम्पात की पूर्ण प्रदक्षिणा होती है। वे यह भी नही कहते कि पूर्ण प्रदक्षिणा नही होती है। करणकुतूहल मे उन्होने वार्षिक अयनगति एक कला और शक ११०५ मे ११ अर्थात् शक ४४५ मे शून्य अयनाश माना है।

अयनगति-भगण और वार्षिक अयनगति विषयक उपर्युक्त विवेचन का साराश यह है कि सूर्यादि पाच सिद्धान्तो मे वार्षिक अयनगति ५४ विकला, मुजाल के मत से ५९.९ विकला और द्वितीय आर्यभट तथा पराशर के मत से ४६.३ और ४६.५ विकला है। तथापि मेरी समझ से यह कथन अनुचित न होगा कि शक ८५४ से ६० विकला वार्षिक गति का ही विशेष प्रचार है। उस समय से लेकर आज तक जितने करणग्रन्थ बने है प्राय उन सबो मे वार्षिक गति इतनी ही है । हाँ, भटतुल्य करण और सूर्यसिद्धान्तानुयायी दो एक करण ऐसे है जिनमे ५४ विकला भी है।

सम्पात का पूर्ण भ्रमण अथवा आन्दोलन

मुजाल के मतानुसार सम्पात विलोम गति से सम्पूर्ण नक्षत्रमण्डल मे भ्रमण करता है। कोलब्रूक लिखते है कि ब्रह्मसिद्धान्त के टीकाकार पृथूदक और सिद्धान्तशिरोमणि-टीकाकार नृसिह ने सम्पात की पूर्ण प्रदक्षिणा का द्योतक वसिष्ठसिद्धान्तकार विष्णुचन्द्र का एक वचन उद्धृत किया है। इसका विवेचन कर चुके है। सूर्यादि पाच सिद्धान्त सम्पात की पूर्ण प्रदक्षिणा नही मानते। उनके मत मे वह रेवती तारा से २७ अश पर्यन्त पूर्व और पश्चिम जाता है। द्वितीय आर्यसिद्धान्त मे यह पूर्वपश्चिम-गमन २४ अश तक ही बतलाया है। किसी भी करणग्रन्थ मे स्पष्टतया यह नही लिखा है कि सम्पात की पूर्ण प्रदक्षिणा होती है, पर उनकी अयनांशनयन रीति से अयनाश ३६० अंश पर्यन्त आते है। जब वे २४ या २७ से अधिक होने लगे उस समय वार्षिक गति ६० विकला को ऋण मानकर क्रमशः कम करते जाना चाहिए, ऐसा प्रायः किसी भी करणग्रन्थ मे नही लिखा है। शून्यायनाशवर्ष शक ४४५ और वार्षिक अयनगति एक

कला मानने वाले करणग्रन्थो के अनुसार शक १८८५ मे २४ और २०६५ मे २७ अयनाश होगे। सूर्यसिद्धान्तानुसार २७ अयनाश शके २२२१ मे और द्वितीय आर्यभट तथा पराशर के मतानुसार २४ शके २४०० के लगभग होगे। यदि यह सिद्धान्त सत्य है कि सम्पात सम्पूर्ण नक्षत्रमण्डल मे नही घूमता, तो शके १८८५ के बाद अधिकाधिक ६०० वर्षों के भीतर ही इसका अनुभव होने लगना चाहिए। अर्वाचीन यूरोपियन ज्योतिषी उसकी पूर्ण प्रदक्षिणा मानते है। यदि उनका सिद्धान्त ठीक गा तो काला-न्तर मे चैत्र-वैशाख मे वर्षा ऋतु आने लगेगी। आधुनिक सायनपञ्चाङ्गकार ललकार कर कहते है कि कुछ दिनो मे सचमुच ऐसा ही होगा और उनके इस कथन को कोई भी असत्य नही कह सकता। श्रुतियो मे वसन्त ऋतु मधु-माधव (चैत्र-वैशाख) मासो मे ही बतायी है। इस स्थिति मे मुजाल का यह मत कि सम्पात की पूर्ण प्रदक्षिणा होती है— श्रुतिवचनो के विरुद्ध पडता है। इसलिए मरीचिकारादिको ने उसे वेदबाह्य कहकर सदोष ठहराया है और उनकी दृष्टि से यह ठीक भी है, पर वे यह नही समझ सके कि पूर्ण प्रदक्षिणा होना या न होना अपने अधिकार के बाहर की बात है। वेदाङ्गज्योतिष मे उदगयनप्रवृत्ति धनिष्ठारम्भ मे बतायी है। इसका अर्थ यह है कि उस समय सम्पात भरणी के चतुर्थ चरण के आरम्भ मे अर्थात् आरम्भस्थान से २३ अश २० कला पर था। वेदो मे नक्षत्रारम्भ कृत्तिका से है अत उस समय सम्पात सभवत कृत्तिका के आरम्भ मे अर्थात् आरम्भस्थान से २६ अश ४० कला पर रहा होगा। पहिले वह अश्विनी से आगे था और बाद मे पीछे चला आया, इसी से लोगो ने समझा होगा कि उसका आन्दोलन होता है। उसके लगभग २४ अश या २७ अश तक के चलन का अनुभव होने के कारण अथवा परमक्राति २४ अश होने के कारण हमारे कुछ सिद्धान्तकारो ने २४ या २७ अश आन्दोलन मान लिया, बाद मे अनुभव चाहे जो हो। यदि पूर्ण प्रदक्षिणा मानते है तो ऋतुएँ श्रुतिसम्मत नही होती, इस सद्योदोष को टालने में उनकी यह आन्दो-लन की कल्पना वस्तुत बडा काम कर गयी।

अयनगतिसूक्ष्मत्व

अब भारतीयो द्वारा निश्चित की हुई वार्षिक अयनगति और शून्यायनाशवर्ष के सूक्ष्मत्व का विचार करेंगे। स्पष्ट है कि वर्ष मे सूर्य एक बार सम्पात से चलकर पुन सम्पात मे आने के बाद जितना आगे जाय वही वार्षिक अयनगति माननी चाहिए। ऊपर पञ्चसिद्धान्तिकोक्त रोमकसिद्धान्त के विवेचन में भिन्न-भिन्न सिद्धान्तो के वर्षमान दिये है। उनमे से वेदाङ्गज्योतिष, पितामह और पुलिशसिद्धान्तों के वर्षमान शके ४२७ (पञ्चसिद्धान्तिका) के पहिले ही व्यवहार से बहिर्गत हो चुके थे और रोमक के वर्षमान का प्रचार हमारे देश मे कभी था ही नही, यह भी वही सिद्ध कर चुके

है। ब्रह्मगुप्त का वर्षमान ३६५।१५।३०।२२।३० शक ९६४ के बाद भी कभी प्रचलित था, ऐसा नहीं मालूम होता। शेष सब ३६५।१५।३१।१५ से ३६५।१५।३१।३१।२४ पर्यन्त है और शके १००० से ये ही प्रचलित है। ईसवी सन् १९०० का सायन वर्षमान ३६५।१४।३१।५३।२५ है अर्थात् इतने समय मे सूर्य सम्पात से चलकर पुन: सम्पात मे आ जाता है। इसे सूर्यसिद्धान्त के वर्षमान ३६५।१५।३१।३१।२४ मे से घटाने से जो शेष बचता है उतने समय मे सायन रवि की गति ५८ ७७७[1] अथवा किञ्चित स्थूल लेने से ५८ ८ विकला आती है और शके १००० से प्रचलित उपर्युक्त वर्षमानो मे से न्यूनतम मान लेने से सम्पातगति लगभग .२६९ विकला कम अर्थात् ५८ ५०८ आती है। ब्रह्मगुप्त का वर्षमान लेने से ५७ ५५७ आती है, पर अयनगति निश्चित करते समय यह वर्ष नही लिया गया था, यह मेरा मत है। सायन सौरवर्ष का मान थोडा-थोडा न्यून होता जा रहा है। शक ७०० के पास का मान लेने से उपर्युक्त प्रत्येक अयनगति लगभग २४ विकला कम हो जायगी। इन सब बातो का विचार करने से निश्चय यह होता है कि हमारे ग्रन्थो के उपर्युक्त वर्षमानो के औसतमान के अनुसार ५८.४ विकला वार्षिक अयनगति अत्यन्त सूक्ष्म होगी। सम्प्रति ग्रहलाघव और मकरन्द, ये दोनो ग्रन्थ मिलकर सम्पूर्ण भारत के आधे से अधिक भाग मे प्रचलित है और दोनो मे वर्षमान वर्तमान सूर्यसिद्धान्त का है। उसके अनुसार ५८ ६ विकला वर्षगति सूक्ष्म होगी। इससे सिद्ध होता है कि मुजाल की वार्षिक गति ५९ ९ विकला और सम्प्रति सर्वत्र प्रचलित ६० विकला, ये दोनो बहुत सूक्ष्म है, अर्थात् हमारे ज्योतिषियो द्वारा निश्चित की हुई गति मे केवल १४ विकला का अन्तर है।[2] अयनगति विषयक अन्य राष्ट्रो के अन्वेषण का थोडा सा इतिहास आगे दिया है। उससे ज्ञात होता है कि हमारे ज्योतिषियो ने इसका इतना सूक्ष्म ज्ञान स्वय सम्पादित किया है, किसी अन्य राष्ट्र ने नही लिया है और यह एक ही बात यूरोपियनो के इस झूठे आरोप को कि हिन्दू वेध करने मे बिलकुल अनाडी है—अनुचित सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है।[3] कोलब्रूक ने लिखा है कि हिन्दुओ की अयनगति टालमी से सूक्ष्म है।[4]

---

१. केरोपन्त ने ग्रहसाधनकोष्ठक (पृष्ठ ३२) मे ५८.५२१ लिखी है पर यह कुछ सान्तर ज्ञात होती है।

२. हमारे यहाँ १.४ विकला अधिक मानी गयी है, तदनुसार आधुनिक यूरोपियन ग्रन्थागत सायन रवि और ग्रहलाघवीय सायन रवि में अन्तर पडता है।

३. सूर्यसिद्धान्त के अनुवाद की टिप्पणी मे ह्विटने ने वेध के विषय में हिन्दुओ का अनेको स्थानो पर बड़ा उपहास किया है।

४. Essays, Vol. II, p, 411

सम्पातगति विषयक अन्य राष्ट्रों का अन्वेषण

यूरोप मे सम्पातगति का अन्वेषण सर्वप्रथम हिपार्कस ने ई० पू० १२५ के लगभग अपने और अपने से लगभग १७० वर्ष प्राचीन टिमोकेरिस के वेधो द्वारा किया। उसके लगभग ३०० वर्ष बाद टालमी ने सम्पातगति के अस्तित्व की निश्चित रूप से स्थापना की। उसके ग्रन्थ सिन्टाक्सिस के सातवे भाग मे इसका विवेचन है। उसने लिखा है—हिपार्कस के समय से आज तक २६७ वर्षो मे तारो के भोग २ अश ४० कला बढे है। तदनुसार उसने १०० वर्षो मे एक अश अर्थात् ३६ विकला वार्षिक गति निश्चित की। टालमी का कथन है कि हिपार्कस ने भी इतनी ही मानी थी। यह बहुत थोडी है। २६७ वर्षो मे भोग लगभग ३ अश ३७ कला बढना चाहिए था और टालमी ने २।४० लिखा है अर्थात् इसमे लगभग एक अश की अशुद्धि है। वेध स्थूल रहे हो तो भी इतनी अशुद्धि होना असम्भव है। इसी कारण बहुत से सुप्रसिद्ध ज्योतिषियो ने अनुमान किया है कि टालमी ने वेध कभी किया ही नही था। उसने हिपार्कस के नक्षत्र भोग मे २।४० मिलाकर अपना सन् १३७ का नक्षत्रपट तैयार कर लिया था। टालमी पर किये गये इस आरोप को सत्य सिद्ध करने वाले बहुत से प्रबल प्रमाण है। डिलाम्बर ने टालमी और फ्लामस्टेड[1] के तारकादर्शो के ३१२ तारो के भोगो की तुलना करके और दोनो ज्योतिषियों के समयो मे १५५३ वर्ष का अन्तर मानकर वार्षिक गति ५२ ४ विकला निकाली है। यह वास्तविक गति से २ विकला अधिक अर्थात् बहुत अधिक है। इसी प्रकार उन्होंने टालमी के नक्शे मे दिये हुए नक्षत्र भोगो में से २।४० घटाकर उन्हे हिपार्कस के भोग मानकर फ्लामस्टेड के भोगो से उनकी तुलना करके दोनो के समयों का अन्तर १८२० वर्ष मान कर वार्षिक गति ५० १२ विकला निकाली है। वर्तमान गति और इसमे बहुत थोडा अन्तर है (इससे टालमी ने स्वय वेध नही किया था, इस कथन की पुष्टि होती है)। यूरोप के अर्वाचीन ज्योतिषी सम्पातगति निश्चित करने मे सतत प्रयत्नशील रहे है। टायकोब्राहे ने ५१ विकला और फ्लामस्टेड ने ५० विकला सम्पात गति निश्चित की थी। लालाडी ने चित्रा तारे के हिपार्कसकथित तथा सन् १७५० मे स्वय निकाले हुए भोग द्वारा ५० ५ निश्चित की। डिलाम्बर ने ब्राडले, मेयर और

---

१. फ्लामस्टेड इंगलिश ज्योतिषी—जन्म सन् १६४६ मृत्यु १७१९
ब्रैडले इंगलिश ज्योतिषी—जन्म सन् १६९३ मृत्यु १७६२
मेयर जर्मन ज्योतिषी—जन्म सन् १७२३ मृत्यु १७६८
लालांडी फ्रेंच ज्योतिषी—जन्म सन् १७३२ मृत्यु १८०७
डिलाम्बर फ्रेंच ज्योतिषी—जन्म सन् १७४९ मृत्यु १८२२
ब्रेमेल जर्मन ज्योतिषी—जन्म सन् १७८४ मृत्यु १८४६

लासिले के तथा स्वकीय वेधो द्वारा ५०.१ निश्चित की। बेसेल ने सम्पातगति के स्वरूप का पूर्ण विवेचन किया। उन्होने सन् १७५० मे ५० २११२९ विकला त्तिश्चित की।[1] सन् १९०० मे ३६५ दिनो मे सम्पातगति ५०.२६३८ है।

[2]ईसवी सन् की ११ वी शताब्दी के स्पेनिश ज्योतिषो अर्जाएल का मत था कि सम्पातगति ७२ वर्षों मे एक अश अर्थात् प्रतिवर्ष ५० विकला है और सम्पात का पूर्व पश्चिम १० अश आन्दोलन होता है। १३वी शताब्दी के थिबिथ बिन खोरा नामक ज्योतिषी ने २२ अश आन्दोलन माना था। नवी शताब्दी के एक ज्योतिषी का मत था कि सम्पात ४।१८।४३ त्रिज्या के वृत्त मे भ्रमण करता है। अरब के प्रख्यात ज्योतिषी अलबटानी (सन् ८८० ई०) का मत था कि सम्पात का आन्दोलन होता है और उसकी गति ६६ वर्षो मे एक अश अर्थात् प्रतिवर्ष लगभग ५५.५ विकला है।[3] उसके पूर्व कुछ अरब ज्योतिषी ८० या ८४ वर्षो मे एक अश अर्थात् प्रतिवर्ष ४५ या ४३ विकला गति और पूर्व पश्चिम ८ अश आन्दोलन मानते थे। अलबटानी की गति सूर्यसिद्धान्त से मिलती है।

शून्यायनांशवर्ष का सूक्ष्मत्व

अब इस बात का विवेचन करेंगे कि हमारे ज्योतिषियो द्वारा निश्चित किये हुए शून्यायनाशवर्ष कहा तक सूक्ष्म है। पहिले यहा भिन्न-भिन्न ग्रन्थो के शून्यायनाश वर्ष लिखते है।

	शक
वर्तमान सूर्यादि पांच सिद्धान्त, सिद्धान्ततत्वविवेक	४२१
मुञ्जाल	४४९
राजमृगाङ्क, करणप्रकाश, करणकुतूहल इत्यादि	४४५

१. इस अनुच्छेद में आया हुआ वृत्तान्त Grant's History of Physical Astronomy (P. P. 318–320) के आधार पर लिखा है।

२. इस अनुच्छेद में लिखा हुआ वृत्तान्त कोलब्रूक के निबन्ध के आधार पर दिया गया है (एशियाटिक रिसर्चेस पु० १२, पृष्ठ २०६ इत्यादि देखिए)।

३. रेहट सेक का कथन है (Journal of the Bombay B. R. A. S. vol XI. No. XXXII art VIII) कि अलबटानी के मत से सम्पातगति ७० वर्षों में १ अंश अर्थात् प्रतिवर्ष ५१.४ विकला है। दोनों में से किसे ठीक मानें?

करणकमलमार्तण्ड, ग्रहलाघव, इत्यादि	४४४
भास्वतीकरण	४५०
करणोत्तम	४३८
द्वितीय आर्यसिद्धान्त	५२७
द्वितीयार्यसिद्धान्तोक्त पराशरमत	५३२
दामोदरीय भटतुल्य	३४२

यहा अन्तिम ग्रन्थ भटतुल्य का काल विचारणीय है। उस ग्रन्थ मे स्पष्टतया यह नही लिखा है कि शक ३४२ मे अयनाश शून्य था। यह वर्ष उसमे दी हुई अयनाशानयन की रीति द्वारा लाया गया है। उसमे आरम्भ वर्ष ३४२ मानने का यह कारण है कि वह ग्रन्थ शक १३३९ का है और उसमे वर्षगति सूर्यसिद्धान्त की अर्थात् ५४ विकला ली है। ३४२ को आरम्भ वर्ष मानने से शक १३३९ मे अयनाश १४।५७ आते हैं। शक ४४४ को आरम्भ वर्ष और वर्षगति ६० विकला मानने से शक १३३९ मे अयनाश लगभग इतने ही अर्थात् १४।५५ आते है। अन्य करणग्रन्थो के अनुसार भी लगभग इतने ही आते है। ग्रन्थकार इस अयनाश को छोड नही सकते थे और उन्हे अयनगति ५४ विकला माननी थी। इसलिए उन्होने शून्यायनाशवर्ष ३४२ माना। द्वितीय आर्य-सिद्धान्त और पराशर के वर्षो को छोड अब यहा शेष का विचार करेगे। उन दोनो का विचार बाद मे करेगे। किसी भी सिद्धान्त का शून्यायनाशवर्ष वह है जिसमे उसकी स्पष्ट और शायन मेषसक्रान्तिया एक ही समय अथवा बिल्कुल पास-पास हो। शक ४५० मे भिन्न-भिन्न सिद्धान्तो के मध्यम और स्पष्ट मेषसक्रमणकाल ये आते है—

	मध्यम मेष (शक ४५०) चैत्र शुक्ल १४ सोमवार (२० मार्च सन् ५२८) उज्जयिनी के मध्यम सूर्योदय से घटी पल	[1]स्पष्ट मेष (शक ४५०) चैत्र शुक्ल १२ शनिवार (१८ मार्च सन् ५२८) उज्जयिनी के मध्यम सूर्योदय से घटी पल
मूल सूर्यसिद्धान्त	४५ १३ ५	३४ ४९
वर्तमान सूर्यादि पाच सिद्धान्त	४६ ३८.२	३६ १४

---

१. सूर्यसिद्धान्तानुसार स्पष्ट मेषसंक्रान्ति मध्यम मेषसक्रान्ति से २ दिन १० घटी १५ पल पूर्व और ब्रह्मसिद्धान्तानुसार २।१०।२४ पूर्व होती है, परन्तु यहां अन्तर सर्वत्र २।१०।२४ ही लिया है तथापि इससे फल में कुछ भी अन्तर नही पड़ेगा।

प्रथम आर्यसिद्धान्त	४५ ६ २		३४ ४२
द्वितीय आर्यसिद्धान्त	४७ १३.२		३६ ४९
राजमृगाङ्क, करणकुतूहल	४७ २४ ६		३७ १
ब्रह्मगुप्तसिद्धान्त (चैत्र शुक्ल १३ रवौ)	५२ १० ८	(चैत्र शुक्ल ११ भृगौ)	४१ ४७

उपर्युक्त भिन्न-भिन्न सिद्धान्तो के स्पष्ट मेषसक्रमणकाल मे सायन रवि[1] निम्नलिखित आता है ।

	रा०	अ०	क०
मूल सूर्यसिद्धान्त	११	२९	५८ ९
वर्तमान सूर्यादि पाच सिद्धान्त	०	०	०.३
प्रथम आर्यसिद्धान्त	११	२९	५८ ८
द्वितीय आर्यसिद्धान्त	०	०	० ९
राजमृगाङ्कादि	०	०	१.१
ब्रह्मसिद्धान्त	११	२९	७ १

यहा ब्रह्मसिद्धान्त की सक्रान्ति और मायन सक्रान्तियो मे शक ४५० मे बहुत अर्थात् लगभग ५४ घटी का अन्तर है। इस सिद्धान्त के अनुमार शक ५०९ मे दोनो सक्रान्तियाँ एक समय आती है, परन्तु ब्रह्मगुप्त का वर्षमान इतरो से भिन्न होने के कारण ऐसा होता है। इस वर्षमान का विस्तृत विवेचन ब्रह्मगुप्त के वर्णन मे कर चुके है। उससे और उपर्युक्त सायन मेषसक्रमणकाल से ज्ञात होता है कि शून्यायनाशवर्ष ब्रह्मगुप्त के वर्षमान के आधार पर नहीं निश्चित किया गया है । शेष ग्रन्थो द्वारा उनकी स्पष्ट और सायन-मेषसंक्रान्तियो के एक समय आने के काल अर्थात् शून्यायनाशवर्ष नीचे लिखे है—

वर्तमान सूर्यादि पाच मिद्धान्तो के वर्ष द्वारा	शक ४५०
मूल सूर्यसिद्धान्त, प्रथम आर्यसिद्धान्त के वर्ष द्वारा	४५१
द्वितीय आर्यसिद्धान्त, राजमृगाकादि के वर्ष द्वारा	४४९

---

१. सायन रवि केरोपन्तीय ग्रहसाधनकोष्ठक द्वारा लाया गया है। उसे लाते समय कालान्तरसंस्कार ३ कला माना है । केरोपन्त ने अपने ग्रन्थ मे निरयन स्पष्ट मेषसंक्रमण वर्तमान सूर्यसिद्धान्त से लिया है, परन्तु उनके निश्चित किये हुए उसके समय में थोड़ी अशुद्धि है । प्रत्यक्ष सूर्यसिद्धान्त द्वारा लाया हुआ काल केरोपन्तलिखित मेषसंक्रमणकाल से ५१ पल कम आता है ।

इससे सिद्ध होता है कि उपर्युक्त (पृष्ठ ४४४) भिन्न-भिन्न ग्रन्थो के शून्यायनाश वर्षों मे से मुजाल और भास्वतीकरण के वर्ष अत्यन्त सूक्ष्म है । सम्प्रति प्रचलित वर्ग शक ४४४ या ४४५ भी बहुत सूक्ष्म[1] है । सूर्य सिद्धान्तानुसार ७२०० वर्षो मे एक अयनान्दोलन होता है अर्थात् सम्पात एक स्थान से चलकर ३६०० वर्षों मे फिर वही आ जाता है। कलियुगारम्भ मे वह मूल स्थान मे था। कलियुगारम्भ से ३६०० वर्ष शक ४२१ मे पूर्ण होते है और उस वर्ष मे सूर्यसिद्धान्त की मेषसक्रान्ति सायन-सक्रान्ति के कुछ ही अर्थात् लगभग २९ घटी पूर्व होती है, अत सूर्यसिद्धान्तानुसार शून्यायनाशवर्ष शक ४२१ माना गया है। करणोत्तम का वर्ष शक ४३८ है। मैने वह ग्रन्थ प्रत्यक्ष नही देखा है अत उसके विषय मे विशेष नही लिखा जा सकता तथापि वह वर्ष सूक्ष्म वर्ष के बिलकुल पास है । द्वितीय आर्यसिद्धान्त मे दी हुई रीति द्वारा शून्यायनाशवर्ष शक ५२७ आता है । उसकी अयनाशानयन रीति क्रान्ति की रीति सदृश होने के कारण अयनगति सदा समान नही आती। द्वितीय आर्यसिद्धान्त शक ५२७ के बाद बना है । उसके रचनाकाल मे अन्य ग्रन्थो के अयनाश, द्वितीयार्य-सिद्धान्तोक्त रीति द्वारा लाये हुए अयनाश और छाया द्वारा वेध से लाये हुए अयनाश पास-पास थे, उनके अनुसार उसमें अयनग्रहभगणो की कल्पना, की गयी और इसी कारण उसका शून्यायनाशवर्ष शक ५२७ आता है—यह मेरा मत[2] है। द्वितीयार्यसिद्धान्तान्तर्गत पराशरमत की भी यही स्थिति है। इससे निर्विवाद सिद्ध होता है कि हमारे ग्रन्थो का शून्यायनाशकाल बहुत सूक्ष्म है। आधुनिक सूक्ष्म यूरोपियन गणित से सिद्ध होता है कि रेवतीयोगतारा शक ४९६ मे सम्पात मे था इसलिये कोई कोई कहते है कि शून्यायनाश-वर्ष शक ४९६ मानना चाहिए। परन्तु यह ठीक नही है। इसका विचार आगे किया है ।

अयनगति और शून्यायनांशकाल निश्चित करने की विधि

यहा तक आधुनिक सूक्ष्म अयनगति और यूरोपियन ग्रन्थो से लाये हुए सायन रवि द्वारा हमारे ज्योतिषियो की अयन गति और शून्यायनाशवर्ष के सूक्ष्मत्व का विचार किया गया। अब यह देखना है कि ये बाते किस प्रकार निश्चित की गयी है। भास्कराचार्य ने लिखा है—

---

१. उपर्युक्त सायन रवि अत्यन्त सूक्ष्म नहीं होगा। उसमें एक कला का अन्तर पड़ने से शून्यायनांशकाल एक वर्ष आगे या पीछे चला जायगा।

२. इस बात को सिद्ध मानकर द्वितीय आर्यसिद्धान्त का रचनाकाल लगभग शक ६०० लाया गया है।

यस्मिन्दिने सम्यक् प्राच्यां रविरुदितो दृष्टस्तद्विषुवदिनम्।
तस्मिन्दिने गणितेन स्फुटो रवि कार्य॰। तस्य रवेर्मेषादेश्च
यदन्तर तेऽयनाशा । एवमुत्तरगमने सति। दक्षिणे तु तस्यार्कस्य
तुलादेश्चान्तरमयनाशा ॥ पाताधिकार, श्लोक २ टीका।

भास्कराचार्य के इस कथन का तात्पर्य यह है कि मेषविषुवकालीन अथवा तुला-विषुवकालीन ग्रन्थागत रवि और मेषादि अथवा तुलादि के अन्तर तुल्य अयनाश होते है। आगे उन्होने यह भी लिखा है कि प्रत्यक्ष उत्तरायण अथवा दक्षिणायनकालीन ग्रन्थागत रवि और ३ या ९ राशि के अन्तर-तुल्य अयनाश होते है। साराश यह कि सायन रवि और ग्रन्थागत रवि के अन्तर तुल्य अयनाश होता है। सूर्यसिद्धान्त में लिखा है–

स्फुट दृक्तुल्यता गच्छेदयने विषुवद्वये।
प्राक् चक्र चलितं हीने छायार्कात् करणागते ॥११॥
अन्तराशैरथावृत्य पश्चाच्छेषैस्तथाधिके ॥[1]
त्रिप्रश्नाधिकार

सूर्यसिद्धान्त के त्रिप्रश्नाधिकार मे श्लोक १७ से १९ पर्यन्त छाया द्वारा सूर्य का भोग लाने की रीति दी है। उस रवि का सायन होना निर्विवाद है। इससे सिद्ध होता है कि सायन रवि और ग्रन्थागत रवि का अन्तर हमारे ग्रन्थो मे अयनाश माना गया है और हमारे ज्योतियो ने शक ४४५ के बाद बार-बार छाया द्वारा रवि लाकर प्रथम तत्कालीन अयनाश, उसके बाद अयनगति और उसके द्वारा शून्यायनाश निश्चि किया है। इसके लिए उन्हे अनेक वर्षो तक वेध करने पडे होंगे। स्पष्ट है कि जितने अधिक वेध किये जायेंगे, बातें उतनी ही सूक्ष्म ज्ञात होगी।

रेवती योगतारे का अयनांश से सम्बन्ध

उपर्युक्त विवेचन से ही यह भी ज्ञात होता है कि रेवती योगतारे से अयनांश या अयनगति का कोई सम्बन्ध नही है। इसका थोडा अधिक विवेचन करेंगे। आधुनिक सूक्ष्म नाक्षत्र-सौरवर्ष का मान ३६५ दिन १५ घटी २२ पल ५३ विपल १३ प्रतिविपल

---

१. इस श्लोक का अर्थ पहले (पृष्ठ ४३४ पर) लिख चुके हैं।

है। हमारे ग्रन्थो का वर्षमान यदि इतना ही होता तो कह सकते थे कि रेवती योगतारे को अथवा दूसरे तारे को आरम्भस्थान मानना है तो उसका अयनगति से सम्बन्ध है। अर्थात् रेवती योगतारे (जीटापीशियम) को आरम्भस्थान माने तो वह शक ४९६ में सम्पात मे था, अत उस वर्ष को शून्यायनाशकाल और उसके बाद रेवती योगतारे से सम्पात तक के अन्तर को अयनाश मानना चाहिए था। परन्तु हमारा वर्षमान इतना नही है, अत निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता कि वह नाक्षरसौर है। वस्तुत रेवती योगतारा हमारे यहा आरम्भस्थान नही माना गया है, क्योकि सूर्यसिद्धान्त और लल्ल के ग्रन्थ मे उसका भोग शून्य नही है। आर्यभट और वराहमिहिर ने योगतारो के भोग ही नही लिखे है, ब्रह्मगुप्त और उनके बाद के बहुत से ज्योतिषियो ने रेवती भोगशून्य माना है, परन्तु उनका आरम्भस्थान रेवती योगतारा कभी नही था और न हो सकता है। वर्तमान सूर्यसिद्धान्त की स्पष्ट मेषसक्रान्ति के समय रेवतीयोगतारे मे सूर्य के रहने का समय गणित द्वारा शक १७७ आता है और तब से सूर्यसिद्धान्त का आरम्भ-स्थान प्रतिवर्ष रेवती योगतारे से ८.५१ विकला पूर्व जाता है।[2] ब्रह्मसिद्धान्त को छोड अन्य ग्रन्थों का आरम्भ स्थान रेवती होने का वर्ष और प्रतिवर्ष उसके आगे जाने का मान लगभग सूर्यसिद्धान्त तुल्य ही है। ब्रह्मसिद्धान्त की स्पष्ट मेषसक्रान्ति के समय रेवती योगतारे में सूर्य के रहने का गणितागत वर्ष शक ५९८ है और उसका आरम्भस्थान प्रतिवर्ष ७.३८ विकला रेवती के आगे जाता रहता है। सराश यह है कि यदि हमारे ग्रन्थो का वर्ष नाक्षत्र सौर और आरम्भस्थान रेवती योगतारा होता तो रेवती योगतारे के सम्पात मे आने के काल को शून्यायनाशवर्ष और सम्पात से उसके अन्तर को अयनाश मानना उचित था, परन्तु वास्तविक स्थिति ऐसी नही है। हमारे ग्रन्थों का वर्षमान भिन्न होने के कारण ऐसा परिणाम नही होता। दूसरी बात यह कि यूरोपियन ज्योतिषी जिसे जीटापीशियम कहते है और कोलब्रूक इत्यादि यूरोपियन विद्वानो ने जिसे रेवती योगतारा माना है वह तारा बहुत छोटा है। तारो के महत्व और तेजस्विता के आधार पर उनकी कई प्रतियाँ मानी गयी है। चित्रा स्वाती, रोहिणी, इत्यादि बडे-बडे तारे प्रथम कृति के हैं। उत्तरा, फाल्गुनी अनुराधा इत्यादि कुछ तारे द्वितीय प्रति मे है। कृत्तिकादि कुछ तृतीय प्रति के और पुष्यादि चतुर्थ प्रति के है। रेवती योगतारा चतुर्थ और पञ्चम प्रति के मध्य में है। कोई-कोई उसकी गणना षष्ठ

---

१. Le Verrie's Tables.

२. सूर्य सिद्धान्त के वर्षमान और आधुनिक सूक्ष्म वर्षमान के अन्तर -तुल्य समय मे मध्यम रवि की गति इतनी होती है।

प्रति मे करते है। २७ तारो मे इसके तुल्य या इससे छोटे दो, तीन ही ह। सम्प्रति उसे पहिचाननेवाले पुराने ज्योतिषी बहुत कम मिलेगे। साराश यह कि वह बहुत छोटा है और वेध के लिये प्राय निरुपयोगी है। अयनाश लाने मे उसका उपयोग नही होता था, यह तो उपर्युक्त भास्करोक्ति और सूर्यसिद्धान्त के वचन से स्पष्ट ही है। हमारे ग्रन्थो मे अन्यत्र भी वेध की जो रीतियाँ बतायी है उनमे वेध का स्थिर तारो से बहुत कम सम्बन्ध है। मालम होता है, ग्रह को सायन करके सम्पात या सायन रवि के सम्बन्ध से वेध करने की रीति पहले विशेष प्रचलित थी ।[1] यदि हमारे ज्योतिषियो ने अयनगति का सम्बन्ध रेवती योगतारे से रखा होता अर्थात् वार्षिक अयनगति ५० २ विकला और सम्पात तथा रेवती योगतारे के अन्तर को अयनाश माना होता तो परिणाम कितना विपरीत होता, इसका यहा एक उदाहरण देते है। शक १८०९ मे आश्विन शुक्ल ७ शुक्रवार ता० २३ सितम्बर सन् १८८७ को प्रात काल ग्रहलाघव द्वारा स्पष्ट रवि ५।७।५।३७ आता है। उस वर्ष का ग्रहलाघवीय अयनाश २२।४५ है। इसे जोड देने से सायन रवि ५।२९। ५०।३७ आता है। इससे सिद्ध होता है कि उस दिन सूर्योदय से लगभग ९ घटी के बाद सायन तुलासक्रान्ति हुई अत वही विषुवदिन हुआ । ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्ग मे दिनमान उसी दिन ३० घटी है। केरोपन्तीय और सायनपञ्चाङ्गो मे भी उसी दिन ३० घटी दिनमान है, अत स्पष्ट है कि ग्रहलाघव का दिनमान शुद्ध है। केरोपन्तीय पञ्चाङ्ग मे उस समय का अयनाश लगभग १८।१८।१३ है। यह सम्पात और रेवती योगतारे का अन्तर तुल्य है। इसे उपर्युक्त ग्रहलाघवीय रवि मे जोडने से सायन रवि ५।२५।२३।५० होगा। इस प्रकार आश्विन शुक्ल ५ के लगभग चार पाच दिन बाद विषुवदिन आता है जो कि अशुद्ध है। इससे सिद्ध होता है कि हमारे ज्योतिषियो ने छायादिको द्वारा लाये हुए रवि और ग्रन्थागत रवि के अन्तरतुल्य अयनाश माना और तदनुसार ही अयनगति निश्चित की, यह बडा अच्छा किया। अयनगति का बदलना तभी उचित होगा जब कि वर्षमान भी बदल दिया जाय ।

अयनगतिमान-निर्णयकाल

सम्प्रति यह बताना कठिन है कि हमारे ज्योतिषियो ने अयनगति कब निश्चित की। लघुमानस करण शक ८५४ में बना है। उसमे तत्कालीन अयनाश लिखे है।और अयनगति ६० विकला मानी है। ये दोनो अत्यन्त सूक्ष्म हैं अतः लगभग शक ८०० के पूर्व हमारे यहाँ अयनगति का पूर्ण ज्ञान हो चुका था, इसमें सन्देह नही है। मूल सूर्य-

---

१. आगे वेधप्रकरण और त्रिप्रश्नाधिकार की नलिकाबन्ध की रीति देखिए।

सिद्धान्त, प्रथम आर्यसिद्धान्त और पञ्चसिद्धान्तिका मे अर्थात् शक ४२७ के पहिले के ग्रन्थो मे अयनगति के विषय मे कुछ नही लिखा है, अत शक ४२७ तक अयनगति का विचार नही हुआ होगा। वर्तमान सूर्यसिद्धान्त मे अयनगति है। उसका विचार हम (पृष्ठ ४३४ मे) कर चुके है। ब्रह्मगुप्त और लल्ल के ग्रन्थो मे अयनगतिसस्कार कही नही है और उनसे प्राचीन वर्तमान सूर्यसिद्धान्त मे है, इससे सहज ही कल्पना होती है कि अयनचलन-सम्बन्धी श्लोक उसमे बाद मे मिला दिये गये होगे। वे श्लोक त्रिप्रश्नाधिकार मे है। वस्तुत अयन-भगण अन्य भगणो के साथ मध्यमाधिकार मे लिखे जाने चाहिए थे। स्पष्टाधिकार मे और उसमे भी विशेषत. क्रान्ति-चर इत्यादिको के साधन मे तो अयनसस्कार अवश्य बताना चाहिए था, पर वहाँ नही है । त्रिप्रश्नाधिकार के अतिरिक्त उसका उल्लेख ग्रन्थ भर मे अन्यत्र केवल एक स्थान पर—पाताधिकार के छठे श्लोक मे है। मानाधिकार मे मकर-कर्कसक्रान्तियो को ही अयन कहा है । त्रिप्रश्नाधिकार मे वे श्लोक जहाँ है वहाँ से निकाल दिये जायँ तो ग्रन्थ मे कोई असम्बद्धता नही आती। इन हेतुओ से यह अनुमान दृढ होता है कि वे श्लोक प्रक्षिप्त है। तथापि भास्कराचार्य के लेख से ज्ञात होता है कि ब्रह्मगुप्त के पहिले भी सूर्यसिद्धान्त मे अयनचलनविचार था। भास्कराचार्य ब्रह्मगुप्त के ५०० वर्ष बाद हुए है। अत उनका अनुमान ब्रह्मगुप्त के १२०० वर्ष बाद के आधुनिको के अनुमान की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक है। अत. कह सकते है कि ब्रह्मगुप्त के पहिले भी वर्तमान सूर्यसिद्धान्त मे अयनगतिविचार रहा होगा। ब्रह्मगुप्त से प्राचीन शक ५०० के लगभग के विष्णुचन्द्र के ग्रन्थ मे तो वह था, इसमे सन्देह ही नही है (देखिए पृ० ४३६)। ब्रह्मगुप्त का मत था (ब्रह्मगुप्त का वर्णन देखिए) कि सायन रवि की सक्रान्ति ही संक्रान्ति है, अर्थात् सायन-मिथुनान्त ही दक्षिणायनारम्भ है। मालूम होता है कि इसी कारण उन्होने अयनगति का बिलकुल विचार नही किया। लल्ल के ग्रन्थ मे अयनगति के विषय मे कुछ नही लिखा है, परन्तु मालूम होता है दक्षिणायनारम्भ और मिथुनान्त को एक ही मानने के कारण अथवा उस समय रवि और सायन रवि मे बहुत थोड़ा अन्तर होने के कारण ऐसा हुआ होगा । साराश यह कि शक ५०० के लगभग हमारे यहाँ अयनगति का विचार आरम्भ हुआ और शक ८०० के पूर्व उसका सूक्ष्म ज्ञान हो चुका था।

चतुर्थ प्रकरण
वेदप्रकरण

वेध शब्द 'व्यध्' धातु से उत्पन्न हुआ है। शलाका, यष्टि अथवा किसी अन्य पदार्थ द्वारा सूर्यादि खस्थ पदार्थों को देखने का नाम वेध है। उन शलाकादिको द्वारा खस्थ बिम्ब विद्ध होता है, इसलिए इस क्रिया का नाम वेध पडा। केवल दृष्टि से खस्थ पदार्थो को देखना अवलोकन है, पर इसे भी वेध कह सकते है। सुविधा के लिए यहाँ इसे दृष्टि-वेध कहेगे। यष्टि इत्यादि वेधसाधनो द्वारा—जिन्हे सामान्यत यन्त्र कहते है—किया जानेवाला वेध यन्त्रवेध है।

हमारे देश में वेध परम्परा

यूरोपियन कहते है कि भारतीयो को वेधज्ञान नही है, उनके यहाँ वेध परम्परा नह है और न तो वेध यन्त्र है। इसी बात को एक मुख्य हेतु मानकर वे यह भी सिद्ध करना चाहते है कि हिन्दुओ ने ज्योतिषशास्त्र ग्रीको से लिया है। हम लोगो को सृष्टिचमत्कार के अवलोकन का शौक नही है, यह तो कभी कहा ही नही जा सकता। प्रथम भाग के अनेकों वर्णनो से यह बात सिद्ध हो जाती है। २७ नक्षत्रो का ज्ञान तो हमे अत्यन्त प्राचीन काल मे अर्थात् ऋग्वेदकाल मे ही था। ऋग्वेद मे सप्तर्षि तारो और ग्रहो का भी उल्लेख है। यजुर्वेद मे २७ नक्षत्रो का वर्णन अनेक स्थानो मे है। इनके अतिरिक्त दो दिव्य श्वान, दिव्य नौका, नक्षत्रिय प्रजापति नामक तारापुजो का वर्णन पहले कर चुके है। नक्षत्रतारो में रोहिणी के विषय में तैत्तिरीयसहिता मे एक विस्तृत कथा है कि उस पर चन्द्रमा की अत्यन्त प्रीति है। चन्द्रमा-रोहिणी की निकटयुति अथवा १९ वर्षो में ६ वर्ष लगातार चन्द्रमा द्वारा रोहिणी का आच्छादन ही इस कथा का मूल बीज है। आश्वलायनसूत्र मे ध्रुव और रोहिणी का उल्लेख है। शनिकृत रोहिणीशकटभेद का ज्ञान तो हमे आज के ७ सहस्र वर्ष पूर्व ही हो चुका था। महाभारत मे ग्रह, धूमकेतु और तारो का उल्लेख अनेक स्थानो मे है, यह पहिले लिख ही चुके है। वाल्मीकि रामायण मे भी अनेक स्थानो पर नक्षत्रो और ग्रहों का वर्णन है। याज्ञवल्क्य-स्मृति मे नक्षत्र-वीथियों का उल्लेख है। केवल ज्योतिषशास्त्रविषयक न होते हुए भी इन ग्रन्थो मे नक्षत्र-ग्रहों का यह पर्याप्त वर्णन सिद्ध करता है कि हमे प्राचीन काल से ही आकाशाव लोकन में अभिरुचि रही है। गर्गादि सहिताओ मे से कुछ सहिताएँ हमारे देश मे ज्योतिष-गणितपद्धति निश्चित होने के पहिले की है, इसमे सन्देह नहीं। उनमें भी ग्रहचार अर्थात् नक्षत्रों मे ग्रहो के गमन का वर्णन एक मुख्य विषय रहता है। वराहमिहिर ने

बृहत्संहिता के केतुचार नामक एक विस्तृत अध्याय मे अनेक धूमकेतुओ का वर्णन किया है। अध्याय के आरम्भ का एक श्लोक है—

गार्गीयं शिखिचार पाराशरमसितदेवलकृतञ्च।
अन्याश्च बहून् दृष्ट्वा क्रियतेऽयमनाकुलश्चार.॥

इसमे उन्होने लिखा है कि मै गर्ग, पराशर, असित, देवल और अन्य अनेक ऋषियो के वर्णनो के आधार पर यह केतुचार लिख रहा हूँ। भटोत्पल ने इसकी टीका मे पराशरादिको के अनेक वाक्य दिये है। उनमे से कुछ ये है—

'पैतामहश्चलकेतु पञ्चवर्षशत प्रोष्य उदित :... अथोद्दालक श्वेतकेतुर्दशोत्तर वर्षशत प्रोष्य .दृश्य। ...शूलग्राकारा शिखा दर्शयन् ब्राह्मनक्षत्रमुपसृत्य मनाक् ध्रुव ब्रह्मराशि सप्तर्षीन् सस्पृश्य काश्यप श्वेतकेतु पञ्चदश वर्षशत प्रोष्यैन्द्रचा पद्मकेतोश्चारान्ते .. नभसस्त्रिभागमाक्रम्यापसव्य निवृत्यार्धप्रदक्षिणजटाकारशिख स यावन्तो मासान् दृश्यते तावद्वर्षाणि सुभिक्षमावहति।. .अथ रश्मिकेतुर्विभावसुज प्रोष्य शतमावर्तकेतोरुदितश्चारान्ते कृत्तिकासु धूमशिख'॥'
—पराशर

भावार्थ—पैतामह केतु पाँच सौ वर्ष प्रवास करने (एक बार दिखाई देकर पाँच सौ वर्ष अदृश्य होने) के बाद उगता है। उद्दालक श्वेतकेतु ११० वर्ष प्रवास करने के बाद उगता है। शूलाग्र सदृश शिखा धारण करने वाला काश्यपश्वेत केतु १५०० वर्ष प्रवास करके पद्मकेतु नामक धूमकेतु आ जाने के बाद, पूर्व दिशा मे उदित होकर ब्राह्म (अभिजित्) नक्षत्र का स्पर्श करके और ध्रुव, ब्रह्मराशि तथा सप्तर्षियो का थोडा स्पर्श करके आकाश के तृतीयाश पर आक्रमण करके अपसव्य मार्ग से जाता हुआ जितने दिनो तक अर्ध-प्रदक्षिणाकार जटा धारण किये दिखाई देता है, उतने दिनो तक सुभिक्ष रहता है।[1] विभावसुज रश्मिकेतु १०० वर्ष प्रवास करने के बाद आवर्तकेतु के पश्चात् कृत्तिका नक्षत्र मे उगता है। वह धूमशिख है।

इसी प्रकार अन्य भी अनेक केतुओ का वर्णन है। उद्दालक, कश्यप इत्यादि ऋषियो

१. प्रथम भाग मे महाभारत भीष्मपर्व अध्याय ३ की ग्रहस्थिति लिखी है, उसमें ब्रह्मराशि शब्द आया है,। उससे, इस उल्लेख से और ब्रह्मा अभिजित् नक्षत्र का देवता

द्वारा पता लगाये जाने के कारण इनके उद्दालकादि नाम पडे होगे, जैसे कि आजकल यूरोपियन ज्योतिषियो के नामानुसार एनकी का धूमकेतु, हाले का धूमकेतु इत्यादि नाम पडे है। स्पष्ट है कि कई शताब्दियो के लगातार अन्वेषण के बाद ये परिणाम आये है। आर्यभट और ब्रह्मगुप्त का यह कथन कि सूर्यचन्द्रस्थितियाँ ग्रहण द्वारा लायी गयी है, पहिले लिख ही चुके है। वेध कार्य अनेक वर्षो तक सतत होते रहने से उसका बड़ा उपयोग होता है और यह कार्य राज्याश्रय बिना होना कठिन है। वराहमिहिर ने ज्योतिषियों का बडा पूज्यत्व बताया है। उन्होने यह भी लिखा है कि राजाओ को अपने यहाँ ज्योतिषी रखकर और आकाश बाँटकर उनमे से कुछ द्वारा आकाश के भिन्न-भिन्न भागों का सतत अवलोकन कराना चाहिए। भोज राजा के राजमृगाक और वल्लभवशीय दशबल राजा के करणकमलमार्तण्ड से भी ज्ञात होता है कि बहुत से ज्योतिषी उनके आश्रित थे। इसी प्रकार अनेक ज्योतिष ग्रन्थकारो के राज्याश्रय होने का वर्णन है। इससे सिद्ध होता है कि प्राचीन काल मे हमारे यहाँ राज्याश्रय द्वारा वेध का कार्य होता था। भिन्न-भिन्न ज्योतिषियो द्वारा मध्यम ग्रहो मे दिये हुए बीजसस्कार का वर्णन पहले कई स्थानो पर किया गया है। स्पष्ट है कि उनकी कल्पना बिना वेध के नही हुई होगी। केशव ने स्वकृत वेध का उल्लेख किया है और सिद्धान्ततत्त्वविवेककार कमलाकर ने ध्रुव तारे को चल बताया है।

आज भी आकाशावलोकन मे अभिरुचि रखने वाले पुरुष हमारे यहाँ अनेक है और कुछ तो ऐसे है जिन्होने ज्योतिष का अध्ययन बिलकुल नही किया है फिर भी वे बहुत से नक्षत्रो और ग्रहो को पहिचानते है। अग्रेजी और संस्कृत भाषाओं तथा ज्योतिष से सर्वथा अनभिज्ञ दो मनुष्यो ने मुझसे सहज ही कहा था कि ध्रुव नक्षत्र स्थिर नही है। उन्ही मे से एक को नक्षत्र और ग्रहों का उदयास्त इत्यादि देखने मे बडी रुचि थी और उससे मुझे बड़ी सहायता मिली। आगाशीनिवासी पाध्ये उपनामक एक वैदिक मुझे शक १८०९ मे पूना मे मिले थे। किसी ज्योतिष का अध्ययन न होने पर भी उन्हे यह मालूम था कि आकाश मे तारे प्रतिदिन प्राय पूर्व से पश्चिम जाते है, पर कुछ (उत्तर ध्रुव के पास के) तारे कुछ समय तक पश्चिम से पूर्व जाते है। पूछने पर मालूम हुआ कि यह बात उन्हे उनके भाई ने बतायी थी। भाई का देहान्त शक १७९५ मे २२ वर्ष की

है, इससे ज्ञात होता है कि अपिजित् नक्षत्र के आसपास के तारापुज को ब्रह्मराशि कहते थे। धूमकेतु का जो स्थान बताया है उसे खगोल पर देखने से ठीक संगति लगती है। उसमें कोई असम्भव बात नहीं है। विशेषतः अर्धदक्षिणाकार शिखा की तारों के विषय में बतायी हुई स्थिति से ठीक संगति लगती है।

अवस्था मे हुआ था। वे बडे बुद्धिमान् थे। ऐसे अनेक पुरुष सम्प्रति विद्यमान होगे। कुछ लोगो को ये बाते अनावश्यक मालूम होंगी, पर प्रथम ज्योतिषशास्त्र का ज्ञान ऐसे ही पुरुषो के प्रयत्न से हुआ होगा और हममें वह स्वभाव आज भी है—यह दिखाने के लिए ही ये बाते लिखी है।

सौरार्यब्राह्मादि सिद्धान्तो मे उनमें पठित भगणादि मानों के लाने की विधि का और किसी प्रकार के वेध का वर्णन नही है। यूरोपियनों को यह बात बडी आश्चर्यजनक प्रतीत होती है, पर वे प्राचीन स्थिति और हमारी धारणाओ का विचार नही करते। प्रेसों की तो बात ही जाने दीजिए, जिस काल मे लिपिप्रचार, लिपिसाधन, अधिक क्या, लिपि के अस्तित्व तक की सम्भावना नही है, स्पष्ट है कि उस समय सभी बातें गुरुशिष्य परम्परया मुख से ही सिखायी जाती रही होगी, अत उस समय के अन्वेषको द्वारा निश्चित किये हुए केवल सिद्धान्तो का रह जाना और और उनके साधनो का नष्ट हो जाना बिलकुल स्वाभाविक है। यदि आज हमसे कोई कहे कि अमुक समय ग्रहण लगेगा तो इसमे हमे आश्चर्य नही होगा, परन्तु प्राचीन काल मे इस प्रकार के भविष्य बताने वालो को अलौकिक पुरुष समझना स्वाभाविक नही है। वह मनुष्य यदि ग्रन्थ बनायेगा तो उसमे किसी भी सिद्धान्त का पूर्वरूप और उसके साधनो का वर्णन नही करेगा, बल्कि अन्तिम सिद्धान्त ही लिखेगा। कुछ दिनो के बाद उसका नाम लुप्त हो जायगा और उसके ग्रन्थ को लोग अपौरुष मानने लगेगे, यह भी सम्भव है। एक बार यह पद्धति पड जाने के कारण बाद के पुरुष ग्रन्थकारो ने भी अपने अनुमानों के पूर्व अङ्ग नही लिखे है। टालमी के ग्रन्थ में उनके और हिपार्कस के वेधो का वर्णन है, उनके बाद के पाश्चात्य ज्यातिषियो के भी वेध लिखे है, पर हमारे ग्रन्थों मे यह बात नही है। इसका कारण सम्भवत. उपर्युक्त ही होगा। तथापि वेध के सम्बन्ध में व्यक्ति विषयक प्रयत्नो का थोड़ा वर्णन पहिले कर चुके है, कुछ आगे भी करेगे।

यन्त्रवर्णन

अब ग्रहस्थितिमापक और कालमापक यन्त्रों का वर्णन करेंगे। भास्कराचार्य के ग्रन्थ अधिक प्रसिद्ध है। अत पहिले उनके बताये हुए यन्त्रों का[1] और बाद मे अन्य यन्त्रों का सक्षिप्त वर्णन करेगे।

---

१. सिद्धान्तशिरोमणि के गोलबन्धाधिकार और यन्त्राध्याय के स्थान पर यह वर्णन किया है। इसमें आये हुए नाड़ीवलय इत्यादि शब्दों का लक्षण सहित विस्तृत विवेचन करने से बड़ा विस्तार होगा और विस्तार करने पर भी बिना देखे यन्त्रों का

गोलयन्त्र—एक सीधी, गोल और सर्वत्र समान मोटी लकडी लीजिए। इसका नाम ध्रुवयष्टि है। छोटा-सा पृथ्वी-गोल इस प्रकार बनाइए कि यष्टि मे पहनाने पर वह आगे-पीछे हटाया जा सके। उसे यष्टि के बीच में पहनाइए। उसके बाहर भूगोल बनाइये जिसमे बैठे हुए सूर्यादि ग्रह पृथ्वी की प्रदक्षिणा करते है। भूगोल इस प्रकार बनेगा—ठीक वृत्ताकार एक वलय[1] बनाइए। उसे ध्रुवयष्टि के दो बिन्दुओ मे इस प्रकार बाँधिए कि ध्रुवयष्टि द्वारा उसके दो समान भाग हो जायँ। ठीक ऐसा ही एक और वृत्त बनाकर यष्टि के उन्ही दो बिन्दुओ मे इस प्रकार बाँधिए कि वह प्रथम वृत्त पर लम्ब हो और ध्रुवयष्टि द्वारा उसके भी दो समान भाग हो जायँ। इन दोनो को आधारवृत्त कहते है। तीसरा एक इतना ही बडा वलय लेकर आधारवृत्तो के चार बिन्दुओ मे इस प्रकार बाँधिए कि वह दोनों आधारवृत्तो पर लम्ब हो और ध्रुवयष्टि उसका अक्ष हो। इसका नाम नाडीवलय अथवा विषुववृत्त है। इसके ६० समान भाग कीजिए। ये ६० नाडी (घटी) के द्योतक होगे। इतना ही बडा एक और वृत्त इसमे इस प्रकार बाँधिए कि वह इसे दो स्थानो पर काटे और दोनो मे २४ अंश का कोण बन जाय। इसे क्रान्तिवृत्त कहेगे। इसी मे सूर्य घूमता है। इसके राशिदर्शक १२ भाग कीजिए। यदि भूगोल को ही सूर्येतर ग्रहगोल मानना है तो क्रान्तिवृत्त मे क्षेपांशतुल्य कोण बनाने वाले क्षेपवृत्त बाँधिए। इनके भी राशिदर्शक १२ भाग कीजिए। क्रान्तिवृत्त पर अहोरात्रवृत्त बाँधिए। वृत्त इस प्रकार बाँधिए कि ध्रुवयष्टि के दोनो अग्र कुछ बाहर निकले रहे। इन दोनों अग्रो को दो नलियो मे डाल दीजिए। भूगोल के बाहर खगोल बनाना पडता है, उसी में ये नलियाँ बैठायी जायँगी। ध्रुवयष्टि के दोनो अग्रो को दक्षिणोत्तर ध्रुवों के सामने रखना होगा। खगोल मे जो क्षितिजवृत्त रहता है, उसके उत्तर बिन्दु से अक्षांश-जितनी ऊँचाई पर ध्रुवयष्टि का उत्तर अग्र भाग रहेगा। ध्रुवयष्टि के दोनों अग्रों को नलियो में इस प्रकार बैठाइए कि खगोल को स्थिर रखकर भूगोल घुमाया जा सके। भूगोल के बाहर खगोल इस प्रकार बनेगा—

यथार्थ ज्ञान होना कठिन है, इसलिए यहाँ संक्षिप्त ही वर्णन किया है। तथापि मुझे विश्वास है कि इसकी सहायता से सामान्य मनुष्य भी भास्कराचार्य का गोलबन्धाधिकार और यन्त्राध्याय अच्छी तरह समझ सकेगा। छत्रेस्मारक में यदि ये यन्त्र रखे जायँ तो थोड़े व्यय में बहुत बड़ा कार्य होगा।

१. ये वलय सीधे लचीले बाँसों की शलाकाओं (तीलियों) से बनाने के लिये कहे गये हैं। धातुओं के मोटे-मोटे तारों के भी हो सकते हैं। ये वलय ही वृत्त-परिधि है।

इसके वृत्त भगोल के वृत्तो से कुछ बडे रहेंगे। चार समान वृत्त बनाइए। एक स्वस्तिक, अध स्वस्तिक और पूर्वापर बिन्दुओ मे होता हुआ जायगा। इसका नाम समवृत्त है। दूसरा याम्योत्तरवृत्त और दो कोणवृत्त रहेंगे। ये सभी ऊर्ध्वाध स्वस्तिकों मे होते हुए जायँगे। इन सबो का समद्विभाग करनेवाला क्षितिजवृत्त इस प्रकार बाँधिए कि उत्तर ध्रुव उससे उस स्थान के अक्षाश-जितना ऊपर पडे और दक्षिण ध्रुव उतना ही नीचे। पूर्वापर और ध्रुवबिन्दुद्वयप्रोत उन्मण्डलवृत्त बनाइए। भगोलीय विषुववृत्त के धरातल मे उससे बडा विषुववृत्त बनाइए। इसमे भी घटियो के चिह्न बनाइए। इसके बाद खस्वस्तिक और अध स्वस्तिक स्थानो मे दो कॉटे लगाकर उन्ही मे एक वृत्त यो फँसा दीजिए कि वह चारो ओर घुमाया जा सके। इसे दृङ्मण्डल कहते है। इसी का नाम वेधवलय भी है। चूँकि इसे खगोल के भीतर घुमाना है इसलिए यह कुछ छोटा रहेगा। ग्रह आकाश मे जहाँ रहेगा वही इसे घुमाकर इससे ग्रह का वेध किया जायगा। खगोल इस प्रकार बनाना चाहिए कि इसके भीतर बैठायी हुई दो नलियो मे ध्रुवयष्टि के दोनो अग्र भाग ठीक बैठ जायँ, इसके बाहर दो नलियाँ लगाकर दृग्गोल बनाइए। खगोल और भगोल दोनो के सब वृत्त इसमे पुन बनाने होगे। अग्रा, कुज्या इत्यादि द्विगोलजात क्षेत्रो को समझने के लिए यह आवश्यक है। इन सब क्षेत्रो के समुदाय को गोल कहते है। (हमारे ज्योतिषी कभी-कभी रेखाओ को भी क्षेत्र कहते है।)

लिखा है कि इसी गोल मे आवश्यकतानुसार नीचोच्चवृत्तो के साथ-साथ सब ग्रहो की कक्षाएँ पृथक्-पृथक् बनायी जा सकती है। ब्रह्माण्डगोल की रचना दिखाने के लिए ही इस गोल का यह वर्णन किया गया है। वस्तुतः इतने वृत्तो का एकत्र बाँधना कठिन है और इनकी सहायता से वेध करना उससे भी कठिन है। उदाहरणार्थ, खगोल के भीतर भगोल बनाने के बाद वेधवलय नही बनाया जा सकता। ये अड़चने भास्करा-चार्यादिकों के ध्यान मे नही आयी होंगी, यह बात नही है। वेध थोडे से आवश्यक वृत्तो द्वारा ही करना चाहिए। हिपार्कस के आस्ट्रोलेब सरीखा हमारे यहाँ कोई यन्त्र नही है, पर इससे हमारे ग्रन्थो की स्वतन्त्रता ही व्यक्त होती है। इस गोल से आस्ट्रोलेब का कार्य किया जा सकता है। ब्रह्मगुप्त, लल्ल और दोनो आर्यभटो ने प्राय ऐसा ही गोलबन्ध लिखा है। प्रथम आर्यभट के गोल मे इससे कम प्रपञ्च है।

भास्कराचार्य ने यन्त्राध्याय मे मुख्यतः ९ यन्त्रो का वर्णन किया है। उन्होने उनका मुख्य उद्देश्य कालसाधन ही बताया है, पर उनमे से तीन मुख्यतः वेधोपयोगी है। यहाँ उनका सक्षिप्त स्वरूप लिखते है।

१. **चक्रयन्त्र**—धातुमय अथवा काष्ठमय चक्र बनाकर उसके बीच मे छिद्र करे। चक्र की नेमि पर यन्त्र को धारण करने के लिए शृंखलादि आधार बनाये। आधार

और मध्यबिन्दु मे होकर जाती हुई एक लम्बरूप रेखा बनाये। उसके ऊपर लम्बरूप एक दूसरी रेखा मध्यबिन्दु मे होकर जाती हुई बनाये। चक्रपरिधि पर अशो के चिह्न बनाये। मध्यबिन्दुस्थ छिद्र मे एक शलाका डाले जो कि चक्र पर लम्ब हो। यही अक्ष है। आधार द्वारा चक्र को इतना घुमाये कि उसकी परिधि ठीक सूर्य के सामने आ जाय। ऐसा करने पर अक्ष की छाया परिधि मे जहाँ लगे वहाँ से उस ओर की तिर्यक् रेखा पर्यन्त सूर्य का उन्नताश और छाया से चक्राधोबिन्दुपर्यन्त नताश जाने (इससे काल लाया जा सकता है)। इसी चक्र को इस प्रकार पकडे कि पुष्प, मघा, शतभिषक् और रेवती, इन शून्य शरवाले तारो मे से दो उसकी परिधि पर आ जायँ। (ऐसा करने से वह क्रान्तिवृत्त के धरातल मे आ जायगा) फिर दृष्टि आगे-पीछे करके ग्रह देखे। वह प्राय. अक्षगत दिखाई देगा। इस रीति से ग्रहो के भोगशर ज्ञात होगे। यह यन्त्र गोलयन्त्र के दृड्मण्डल सदृश ही है। इसके वर्णन से स्पष्ट है कि यह गोलयन्त्र के वलय सदृश नही बल्कि पत्ररूप है।

२ **चाप**—चक्र का आधा करने से चाप होता है।

३ **तुर्यगोल** (तुरीययन्त्र)—चाप का आधा तुर्य है।

४ **गोलयन्त्र**—ऊपर लिखी हुई विधि से खगोल मे भगोल बनाने के बाद क्रान्तिवृत्त मे इष्ट दिन के रविस्थान का चिह्न बनाये। भगोल को घुमाकर वह चिह्न क्षितिज मे ले आयें। भगोलीय विषुववृत्त का जो बिन्दु क्षितिज के सामने आये, वहाँ चिह्न बनावे। भूगोल को फिर इस प्रकार घुमाये कि रविचिह्न की छाया पृथ्वीगोल पर पडे। इस स्थिति में विषुववृत्तीय चिह्न से क्षितिज पर्यन्त नाडीवलय मे जितनी घटियाँ हों, उन्हे सूर्योदय से गतघटी जाने। उस समय क्रान्तिवृत्त का जो बिन्दु क्षितिज में लगा रहेगा उससे लग्न का ज्ञान होगा।

५ **नाडीवलय**—एक चक्र बनाकर उसकी नेमि पर ६० घटियो के चिह्न बनाये। उसके मध्य मे एक शलाका डाले जो कि उस पर लम्ब हो। शलाका को ध्रुवाभिमुख करने से उसकी छाया परिधि पर पड़ेगी। उससे नतोन्नत काल का ज्ञान होगा। इसी चक्र को गोल मे नाडीवृत्त धरातल में रखकर उस पर घटिका, स्वदेशीय उदय और षड्वर्ग (लग्न, होरा, द्रेष्काण, नवाश, द्वादशाश, त्रिशांश) के चिह्न बनाने से यष्टि-छाया द्वारा दिनगत काल और षड्वर्ग ज्ञात होगे।

६ **घटिका**—द्रोणाकार हलके ताम्रपात्र के पेंदे मे एक छेद कर दिया जाता है। इसी का नाम घटिका है। इसे दूसरे जलपूर्ण पात्र में छोड़ दिया जाता है। छिद्र द्वारा पानी भीतर जाने लगता है और घटिका ठीक एक घटी में डूब जाती है। छिद्र पात्र के आकार के अनुसार छोटा बड़ा बनाया जाता है।

७. **शंकु**—शकु हाथीदाँत अथवा उसी प्रकार के किसी घन पदार्थ का बनाया जाता है। यह १२ अगुल लम्बा, गोल और ऊपर से नीचे तक समान मोटा होता है। इसका तल और मस्तक सपाट होता है। इसकी छाया द्वारा कालादि लाने की रीति त्रिप्रश्नाधिकार मे दी रहती है।

८. **फलकयन्त्र**—चक्र के ही आधार पर भास्कराचार्य ने इस कालसाधन यन्त्र की कल्पना की है। इसकी रचना यन्त्राध्याय मे देखिए। यहाँ लिखने से ग्रन्थविस्तार होगा।

९ **यष्टियन्त्र**—सम भूमि पर त्रिज्यामिति व्यासार्ध का एक वृत्त बनाकर उस पर दिशाओ के चिह्न बनाये और पूर्व-पश्चिम भागो मे ज्यार्ध की तरह अग्रा बनाये, उसी वृत्त के केन्द्र से द्युज्यामिति व्यासार्ध का एक दूसरा छोटा वृत्त बनावे। उस पर ६० घटियों के चिह्न बनाये। बडे वृत्त की त्रिज्या तुल्य एक यष्टि लेकर उसका एक अग्र केन्द्र मे रखे और दूसरा सूर्याभिमुख करे, जिससे उसकी छाया बिलकुल न पडे। दूसरा अग्र और पूर्वाग्र का अग्र, इन दोनो के अन्तरतुल्य लम्बी एक शलाका द्युज्यावृत्त मे ज्या की तरह रखे। इसके दोनो सिरो के बीच मे जितनी घटिकाएँ हो, उतना दिन गत जाने। सूर्य पश्चिम ओर रहने पर इसी प्रकार पश्मिाग्र द्वारा दिनशेष का ज्ञान करे। इस यष्टियन्त्र द्वारा पलभा इत्यादि अन्य अनेक पदार्थ लाने की रीतियाँ होती हैं। इससे किञ्चित् भिन्न यष्टियन्त्र द्वारा सूर्य-चन्द्रान्तर और उससे तिथि निकालने की रीति ब्रह्मगुप्त और लल्ल ने लिखी है।

भास्कराचार्य ने इसके अतिरिक्त कालसाधनार्थ दो और स्वयवह यन्त्र लिखे है।

अथर्वज्योतिष में द्वादशाङ्गुल शकु की छाया का वर्णन है। इससे सिद्ध होता है कि पाश्चात्य और हमारे ज्योतिषज्ञान का सम्बन्ध होने के पहिले से ही हमे शकुयन्त्र ज्ञात है (अथर्वज्योतिषविचार देखिए)। पञ्चसिद्धान्तिका मे यन्त्राध्याय है, पर वह समझ मे नही आता, तथापि सम्भवत ब्रह्मगुप्तादिको के यन्त्रो मे से अधिकांश उस समय प्रचलित थे। प्रथम आर्यभट ने यन्त्रो का वर्णन बिलकुल नही किया है। तथापि उपर्युक्त गोल सरीखा गोल बनाया है। इसके अतिरिक्त कालसाधन के लिए पारा, तेल अथवा जल से घूमनेवाला गोल बनाने को कहा है (आर्यभटीय गोलपाद, आर्या २२)। ब्रह्मगुप्त और भास्कराचार्य ने एक स्वयवह यन्त्र लिखा है। वह यह है—एक चक्र बनाये। उसमे कुछ तिरछे और भीतर से पोले अरे लगाये। उनका आधा भाग पारे से भरके मुँह बन्द कर दे। ऐसा करने से वह यन्त्र स्वयं घूमने लगेगा। पञ्चसिद्धान्तिका मे यन्त्रो द्वारा स्वय होनेवाले चमत्कारो का वर्णन है। उससे और आर्यभट के उपर्युक्त गोलयन्त्र से ज्ञात होता है कि इस प्रकार के और दूसरे भी चमत्कारिक स्वयंवह यन्त्र वराहमिहिर के समय थे। वराहमिहिर और आर्यभट ने इनके बनाने की विधि नही लिखी है।

ब्रह्मगुप्त ने भी उपर्युक्त यन्त्र के अतिरिक्त स्वय होनेवाले अन्य चमत्कारो का वर्णन किया है, परन्तु उन्हे बनाने की विधि नही लिखी है। भास्कराचार्य के सभी यन्त्रो का उल्लेख उसी अथवा कुछ न्यूनाधिक प्रकार से ब्रह्मगुप्त और लल्ल ने किया है।[1] उनके अतिरिक्त कर्तरी, कपाल, पीठ नामक कालसाधनयन्त्रो का भी वर्णन किया है। वर्तमान सूर्यसिद्धान्त मे यन्त्रो का विस्तृत वर्णन नही है, फिर भी स्वयवह, गोल, यष्टि, धन, चक्र और कपाल के नाम आये है। यहाँ एक ध्यान देने योग्य बात यह है कि पञ्च-सिद्धान्तिका, आर्यभटीय, वर्तमान सूर्यसिद्धान्त और लल्लतन्त्र मे[2] तुरीय यन्त्र का नाम नही आया है। पाश्चात्य ज्योतिषियो मे प्रथम तुरीय यन्त्र का आविष्कार टालमी ने किया। उसके पहिले वेध मे सम्पूर्ण चक्र का उपयोग किया जाता था, पर बाद मे पाश्चात्य ज्योतिषियो में सर्वत्र तुरीय यन्त्र का ही प्रचार हो गया। आजकल यूरोप मे सम्पूर्ण चक्र ही प्रचलित है, तुरीय यन्त्र का नाम तक नही है। आधुनिक विद्वान् टालमी को यह दोष देते है कि उसने सुधारक्रम का विरोध किया।[3] कहने का उद्देश्य यह कि टालमी के सिद्धान्त मे तुरीय यन्त्र है, पर हमारे यहाँ लगभग शक ५०० पर्यन्त यह नही था। इससे सिद्ध होता है कि रोमकसिद्धान्त न तो टालमी के ग्रन्थ का अनुवाद है और न उसके आधार पर बना है। कम से कम शक ५०० पर्यन्त टालमी का सिद्धान्त हमे मालूम ही नही था। पहले रोमक सिद्धान्त का विवेचन कर चुके है, उससे भी यही बात सिद्ध होती है। एक और महत्व की बात यह है कि हमारे सब यन्त्र हमारे ही ज्योतिषियो द्वारा आविष्कृत है और तुरीय यन्त्र की भी—जिसका प्रचार बाद मे हुआ है—यही स्थिति है। चक्र और चाप द्वारा उसकी कल्पना सहज ही ध्यान मे आने योग्य है और तद-नुसार वह ब्रह्मगुप्त के ग्रन्थ में प्रथम मिलता है, अतः उसकी कल्पना उन्ही ने की होगी।[4]

---

१. फलकयन्त्र की कल्पना भास्कराचार्य ने की है पर उसका बीज चक्रयन्त्र में ही है। शेष आठ में से गोल और नाडीवलय का वर्णन ब्रह्मगुप्त ने पृथक् नहीं किया है पर गोलबन्ध बताया है। उसमे ये आ जाते है। लल्ल ने ८ में से नाडीवलय नहीं लिखा है पर गोल में वह आ जाता है। आश्चर्य है कि उन्होंने तुर्ययन्त्र नहीं लिखा है।

२. यह बात ध्यान में आने पर तुरीय शब्द ही के लिए प्रत्येक शब्द की ओर ध्यान देकर इन ग्रन्थों को पढ़ने का अवकाश मुझे नहीं मिला, तथापि तुरीय यन्त्र की जहाँ जहाँ सम्भावना थी वे सब स्थान मैने देखे। अन्त मे नहीं मिला।

३. Grant's History of Ph. Astronomy, p. 440.

४ वर्तमान सूर्यसिद्धान्त ब्रह्मगुप्त से प्राचीन है, इसका एक प्रमाण यह है कि उसमें तुरीय यन्त्र नहीं है।

द्वितीय आर्यसिद्धान्त और वर्तमान रोमश, शाकल्य, ब्रह्म और सोमसिद्धान्तो मे यन्त्राध्याय बिलकुल है ही नही।[1]

पाश्चात्यों के प्राचीन वेध

पाश्चात्यो के[2] प्राचीन वेधो का थोडा-सा वर्णन यहाँ अप्रासङ्गिक नही होगा। यूरोपियन विद्वान् कहते है कि ज्योतिषशास्त्र प्रथम खाल्डियन लोगो मे उत्पन्न हुआ, पर वे वेध मे प्रवीण नही मालूम होते। टालमी ने[3] उनके ग्रहणो के वेध लिखे है, वे बहुत स्थूल है। उन्होने ग्रहणकाल केवल घण्टो मे बताया है और ग्रासप्रमाण बिम्ब का आधा और चतुर्थांश लिखा है। हिराडोटस ने लिखा है कि ग्रीको को पोल और शकु यन्त्र तथा दिन मे १२ घण्टा मानने की पद्धति बाबिलोन से मिली। पोल एक अन्तर्गोल अर्धवृत्ताकार छायायन्त्र था। उसके बीच मे एक लकडी डाली जाती थी। अनुमानत उससे दिन के १२ विभागो का ज्ञान किया जाता था। खाल्डियनो ने शकु द्वारा अत्यासन्न वर्षमान निकाला, परन्तु उन्होने उसका इससे अधिक उपयोग किया अथवा ग्रहगति सम्बन्धी नियम बनाने योग्य सामग्री वेध द्वारा तैयार की—इसका प्रमाण नही मिलता। परन्तु उन्होने ग्रहणादिक चमत्कार लिख रखे और उनके द्वारा बहुत थोडे स्थूल सामान्य नियम बनाये। उनके ग्रहणो द्वारा कुछ ग्रीक गणितज्ञो ने चन्द्रमा की मध्यमगति का बहुत सूक्ष्म मापन किया। ई० पू० ४३० मे मेटन ने उत्तरायणारम्भकाल का पता लगाया। अलेक्जण्ड्रिया में ज्योतिषीवर्ग उत्पन्न होने के पहले का ग्रीको का प्राचीन वेध यही है। मेटन ने हेलिओमीटर नामक यन्त्र से इसका ज्ञान किया। यह यन्त्र शकु का ही एक भेद होगा। यह उदगयनदिन मेटन के १९ वर्ष के चक्र का[4] आरम्भ-दिन

---

१. तथापि इस कारण वे सूर्यसिद्धान्तादिकों से प्राचीन नहीं कहे जा सकते।

२. इस अनुच्छेद में लिखा हुआ वृत्तान्त Grant's Historp of Ph. Astronomy, Ch. XVIII के आधार पर लिखा है।

३. रेहटसेक का कथन है कि इनमें अति प्राचीन वेध ई० पू० ७१९ और ७२० के तीन ग्रहण है। (Jour. B B R A. S, Vol. XI)

४. मेटन ने १९ सौरवर्षों में ६९४० दिन निश्चित किये (कनिंघमकृत Indian Eras पृष्ठ ४३) अर्थात् वर्षमान ३६५।१५।४७.३६८ निकाला। कालिपस ने ई० पू० ३३० में मेटन के चक्र में सुधार करके ७६ वर्षों का चक्र बनाया और तदनुसार वर्षमान ३६५।१५ निश्चित किया (Indian Eras पृष्ठ ४३)। ये चक्र अथवा वर्षमान हमारे किसी भी ग्रन्थ मे नही है, यह बात ध्यान देने योग्य है।

था। अलेक्जण्ड्रिया के राजाओं की प्रेरणा से ज्योतिषशास्त्र के इतिहास मे नवीन काल का आरम्भ हुआ। अलेक्जण्ड्रिया मे एक भव्य वेधशाला बनायी गयी। उसमे वृत्ताकार यन्त्रो का उपयोग किया जाने लगा और सतत वेध का कार्य होने लगा। वहाँ के सबसे प्राचीन वेधकर्ता टायमोकेरीस और आरिस्टिलस थे। उनका काल ई० पू० ३०० है। टालमी (सन् १५० ई०) ने अपने ग्रन्थ मे उनके वेध लिखे है, उनसे ज्ञात होता है कि उन्होने केवल कुछ तारो की क्रान्ति निकाली थी और ग्रहण का वेध किया था। तारो का विषुवाश लाने की रीति अनुमानत उन्हे नही ज्ञात थी। अलेक्जण्ड्रिया के ज्योतिषी इराटोस्थेनीस (ई० पू० लगभग २७५) ने क्रान्तिवृत्त के तिर्यक्त्व का वेध किया। वह उसे २३।५१।१९ ज्ञात हुआ। स्पष्ट है कि ये वेध यन्त्रो बिना नही हुए होगे। टालमी ने सूर्य का मध्योन्नताश लाने के लिए एक यन्त्र लिखा है। उसमे दो समकेन्द्र चक्र—जिनमे एक दूसरे के भीतर घूमता रहता है—याम्योत्तरवृत्त मे खडे रहते है। उसे इस प्रकार रखे कि व्यास पर आमने-सामने लगाये हुए दो काँटो मे से एक की छाया दूसरे पर पडे। इससे उन्नताश का ज्ञान होगा। इसी प्रकार के किसी यन्त्र द्वारा दोनो अयनकालो मे सूर्योन्नताश का ज्ञान करके इराटोस्थेनीस ने क्रान्तिवृत्त का तिर्यक्त्व ज्ञात किया होगा। टालमी ने हिपार्कस का एक वचन लिखा है, उससे ज्ञात होता है कि अलेक्जण्ड्रिया मे एक यन्त्र का उपयोग करते थे—वह इस प्रकार लगाया जाता था कि विषुववृत्त के धरातल मे रखे हुए एक वलय के ऊपरी आधे भाग की छाया नीचे के आधे पर पडे। इससे सूर्य का विषुवागमनकाल निकालते थे। पता नही चलता, वहाँ के ज्योतिषियो ने तारो की क्रान्ति का ज्ञान किस प्रकार किया था। वेधपद्धति के विषय मे अलेक्जण्ड्रिया के ज्योतिषी स्तुत्य हैं तथापि वेध द्वारा निश्चित ग्रहस्थिति के आधार पर ज्योतिषशास्त्र के गणितस्कन्ध की स्थापना करने का श्रेय हिपार्कस को देना चाहिए। उन्होंने वर्षमान ३६५।१४।४८ निश्चित किया। इसके पहिले ३६५।१५ था। इन्होने आस्ट्रोलेब यन्त्र का प्रथम आविष्कार किया। उससे वे खस्थो के भोगशर निकालते थे। सूर्य की स्पष्ट गति का ज्ञान इनके पहिले किसी को नही था और सूर्य की स्पष्ट स्थिति का गणित करने के लिए इन्ही ने सर्वप्रथम कोष्ठक बनाये। इसके पहिले वे किसी को ज्ञात नही थे। इन्होने चन्द्रमा का वेध किया और मालूम होता है चन्द्रमा की स्पष्ट स्थिति का साधन करने के लिए कोष्ठक भी बनाये। इन्होंने ग्रहो के भी वेध किये। टालमी ने चन्द्रमा का इवेक्शन सस्कार लाने और ग्रहगति का नियम बनाने मे हिपार्कस के वेधो का उपयोग किया। टालमी वेध मे कुशल नही थे। उन्होने तुर्ययन्त्र बनाया। यह स्पष्टतया कही भी नही लिखा है कि ये ज्योतिषी कालसाधन किस प्रकार करते थे? मालूम होता है,

घटीयन्त्र और छायायन्त्र द्वारा कालगणना करते थे। कभी-कभी वे यह भी लिखते थे कि वेधकाल मे क्रान्तिवृत्त का कौन-सा भाग याम्योत्तर मे है। अरब-निवासियो ने वेधयन्त्रो मे विशेष सुधार नही किया तथापि उनके यन्त्र ग्रीको से बड़े और अच्छे थे। उनका आस्ट्रोलेब बडा प्रपञ्चात्मक था।

उपर्युक्त इतिहास से ज्ञात होगा कि इसमे का एक भी वर्षमान हमारे वर्षमानो से नही मिलता। मूल रोमकसिद्धान्त हिपार्कस के ग्रन्थ के आधार पर बना होगा, रोमक-सिद्धान्त हमारे ज्योतिष का आद्यग्रन्थ नही है और हमारे यहाँ उसके पहिले ज्योतिष-गणितग्रन्थ थे, यह प्राचीन सिद्धान्तपञ्चक के विवेचन मे सिद्ध कर चुके है।

अब यन्त्र विषयक अपने स्वतन्त्र ग्रन्थो और वेधशालाओ का वर्णन करेंगे।

सर्वतोभद्रयन्त्र—भास्कराचार्य के सिद्धान्तशिरोमणि के यन्त्राध्याय के दो श्लोको से ज्ञात होता है कि उन्होने इस नाम का एक यन्त्रग्रन्थ बनाया था, परन्तु वह सम्प्रति उपलब्ध नही है, अतः उसके विषय मे कुछ लिखा नही जा सकता।

यन्त्रराज—भृगुपुर मे मदनसूरि नामक एक ज्योतिषी रहते थे। उनके शिष्य महेन्द्रसूरि ने शक १२९२ मे यह ग्रन्थ बनाया है। ग्रन्थारम्भ मे सर्वज्ञ की वन्दना की है, इससे ग्रन्थकार जैन मालूम होते है। इसमे गणित, यन्त्रघटन, यन्त्ररचना, यन्त्र-साधन और यन्त्रविचारणा—ये पॉच अध्याय और सब १८२ श्लोक है। इस पर मलयेन्दुसूरि की टीका है। टीका मे लिखा है कि महेन्द्रसूरि फीरोजशाह के मुख्य ज्योतिषी थे। टीका मे उदाहरणार्थ संवत् १४३५ (शक १३००) अनेक बार लिया है। एक बार १४२७ और एक बार १४४७ भी लिया है। टीकाकार ने महेन्द्र को गुरू कहा है, अत वे उनके प्रत्यक्ष शिष्य होगे। टीकाकाल लगभग शक १३०० होगा। काशी मे सुधाकर द्विवेदी ने यह ग्रन्थ छपाया है। ग्रन्थकार ने प्रथम अध्याय मे ही लिखा है—

क्लृप्तास्तथा बहुविधा यवनैः स्ववाण्या यन्त्रागमा निजनिजप्रतिभाविशेषात्।
तान् वारिधीनिव विलोक्य मया सुधावत् तत्सारभूतमखिल प्रणिगद्यतेऽत्र ।।

इन्होने त्रिज्या ३६०० और परमक्रान्ति २३।४५ मानी है। प्रत्येक अश की भुजज्या, क्रान्ति और द्युज्या की सारणियाँ दी है। १ से आरम्भ कर ९० पर्यन्त प्रत्येक उन्नतांश की सप्ताङ्गुल शकु की छाया दी है। टीकाकार ने लगभग ७५ नगरों के अक्षाश दिये है। ग्रन्थकार ने वेधोपयोगी ३२ तारो के सायन भोगशर दिये है। अयनवर्षगति ५४ विकला मानी है। यन्त्रराज की रचना थोड़े मे नही लिखी जा सकती इसलिए यहाँ नही लिखी है। इसकी सहायता से सूर्य-ग्रह-तारो के उन्नताश, नताश, भोगशर, दो खस्थो के अशात्मक अन्तर, अक्षाश, लग्न, काल, दिनमान इत्यादि का

ज्ञान केवल वेध से किया जा सकता है। इस ग्रन्थ पर यज्ञेश्वरकृत शक १७६४ की टीका है।

ध्रुवभ्रमयन्त्र—यह ग्रन्थ नार्मदात्मज पद्मनाभ ने बनाया है। पद्मनाभ का काल लगभग शक १३२० है। इस ग्रन्थ मे ३१ श्लोक है। इस पर ग्रन्थकार की ही टीका है। ध्रुवभ्रमयन्त्र कालसाधन के लिए बनाया गया है। यहाँ इसकी सम्पूर्ण रचना नही लिखते। इसमे एक पट्टी मे जिसकी लम्बाई चौडाई से दूनी हो छेद करके उसमे से ध्रुवमत्स्य का वेध करने को कहा है। ग्रन्थकार ने ध्रुवमत्स्य के विषय मे (११वे श्लोक की टीका मे) लिखा है—"उत्तरध्रुव के चारो ओर १२ तारो का एक नक्षत्रपुञ्ज है। उसे ध्रुवमत्स्य कहते है। उसके मुख और पुच्छ स्थानो मे एक एक बडा तारा है। पहिला ध्रुव के एक ओर ३ अश पर और दूसरा दूसरी ओर १३ अश पर है।" इस यन्त्र द्वारा मुखपुच्छस्थित तारो के वेध से रात मे कालज्ञान किया जाता है। अन्य नक्षत्रो और दिन मे सूर्य के वेध से भी कालसाधन करने की रीति लिखी है। इससे इष्टकालीन लग्न का भी ज्ञान होता है। स्पष्ट है कि वह लग्न सायन होगा। नक्षत्रो का वेध करने के लिए २८ नक्षत्रयोगतारो के २४ अक्षाशप्रदेश के मध्योन्नताश लिखे है। अत ग्रन्थकार के निवासस्थान का अक्षाश २४ रहा होगा।

यन्त्रचिन्तामणि—वामनात्मज चक्रधर नामक गणक ने यह यन्त्रग्रन्थ बनाया है। इस पर ग्रन्थकार की और गोदावरीतीरस्थ पार्थपुरनिवासी मधुसूदनात्मज राम की टीका है। ग्रन्थकार ने अपना काल नही लिखा है पर टीका मे भास्कराचार्य के सिद्धान्त-शिरोमणि के वचन दिये है और टीकाकार राम ने टीकाकाल शक १५४७ लिखा है, अत. इसका काल शक ११०० और १५०० के मध्य मे होगा। इन्होने लिखा है—'क्षितिपालमौलिविलसद्रत्न ग्रहज्ञाग्रणीश्चक्रधर ।' इससे ज्ञात होता है कि ये किसी राजा के आश्रित थे। ग्रन्थ मे ४ प्रकरण और २६ श्लोक है। इस पर शाण्डिल्यगोत्रीय अनन्तात्मज दिनकर की शक १७६७ की उदाहरणरूपी टीका है। यन्त्रचिन्तामणि एक प्रकार का तुरीय यन्त्र है। इससे रविचन्द्रभोग, पञ्चग्रहो के भोगशर, इष्टकाल, लग्न इत्यादि वेध द्वारा ज्ञात होते है। ग्रह और लग्न सायन आते है।

प्रतोदयन्त्र—यह यन्त्रग्रन्थ ग्रहलाघवकार गणेश दैवज्ञ का है। इसमें १३ श्लोक है। ग्रन्थकार ने लिखा है कि घोड़े पर जाते हुए भी इस यन्त्र से वेध द्वारा कालज्ञान और शकुच्छायादि ज्ञान होता है। ग्रन्थविस्तार होने के भय से यहाँ उसकी रचना नही लिखी है। इस पर सखाराम और गोपीनाथ की टीकाएँ है।

गोलानन्द—इस यन्त्र की कल्पना चिन्तामणि दीक्षित ने की है। उनका गोलानन्द नामक १२४ श्लोको का ग्रन्थ है। उसमे यन्त्ररचना, मध्यमाधिकार, स्पष्टा-

धिकार, त्रिप्रश्न, ग्रहण, छायोदयास्त, वेध और युति अधिकार है। गोलानन्द द्वारा वेध करने से फलसस्कार, शीघ्रकर्ण, स्पष्टगति, क्रान्ति, चर, लग्न, दिशा, अग्रा, नताश, वलन, लम्बन, नति, शर, दृक्कर्मसस्कार और इष्टकाल ज्ञात होते है। इस पर यज्ञेश्वर-कृत गोलानन्दानुभाविका नाम की टीका है। यन्त्र सम्बन्धी ऐसे ही अन्य भी बहुत-से ग्रथ होगे। यन्त्रचिन्तामणिटीकाकार राम ने लिखा है—

विलोकितानि यन्त्राणि कृतानि बहुधा बुधै·।
मत. शिरोमणिस्तेषा यन्त्रचिन्तामणिर्मम ।।

इससे ज्ञात होता है कि उस समय अनेक यन्त्र प्रचलित थे।

उपर्युक्त सिद्धान्तशिरोमणि के और अन्य स्वतन्त्र यन्त्र बने-बनाये बहुत कम दृष्टि-गोचर होते है। शकु और तुरीय यन्त्र कही-कही मिलते है। दिनगत घटिकाज्ञापक एक-दो यन्त्र अनेक स्थानो मे मिलते है।[1]

---

१. यह प्रकरण छपते समय (शक १८१८ वैशाख-ज्येष्ठ) मिरजनिवासी नरसो गणेश भानु ने कागज पर बनायी हुई कुछ यन्त्रो की प्रतियां मेरे पास भेजीं। भानु यद्यपि ज्योतिषी नही है, एक पेंशनर गृहस्थ है तथापि वे इस विषय के बड़े शौकीन है। उन्होने ये प्रतियां कोल्हापुर निकटस्थ कोडोली निवासी सखाराम ज्योतिषी द्वारा शक १७१२ से १७१८ पर्यन्त बनाये हुए यन्त्रों के आधार पर बनायी है। भानु के लेख से ज्ञात होता है कि उनमें से कुछ यन्त्र पीतल के ढलबे पत्रो के होगे। उनमे कुछ यन्त्रों की प्रतियां है और तुर्य, फलक तथा ध्रुवभ्रम-यन्त्र है। एक यन्त्रराज शक १७१२ में सप्तर्षि (सतारा) मे बनाय गया है। उसमे सतारा के अक्षांश १७।४२ लिखे है और २७ नक्षत्रो के योगतारों के तथा कुछ और तारों के सतारा के मध्यान्हकालीन उन्नतांश दिशाओ के सहित लिखे हैं। जैसे मघा तारे के अंश ८३।५७ दक्षिण है। दूसरा एक यंत्रराज करवीर (कोडोली) के लिए शक १७१८ मे बनाया है। उसमे करवीर के अक्षांश १७।२१ और मघा तारे के उन्नतांश दक्षिण ८४।१५ लिखे है। आधुनिक शोध के अनुसार सतारा का अक्षांश १७।४१ और कोल्हापुर का १६।४१ है और शक १७१८ मे मघा योगतारे की उत्तरक्रान्ति लगभग १२ अंश थी, अतः उसका मध्यान्हकालीन उन्नतांश सतारा में ८५।१६ और कोल्हापुर मे ८५।१६ था। सखाराम जोशी बड़े उद्योगी पुरुष ज्ञात होते है। सम्प्रति ये यन्त्र बेलगांवनिकटस्थ कड़ेगुद्दी तालुकास्थित शहापुर मे उनके प्रपौत्र सखाराम शास्त्री के पास है। उनके दूसरे प्रपौत्र मोरशास्त्री मिरज मे रहते है। कुछ यन्त्र उनके पास भी है।

वेधशालाएँ

स्पष्ट है कि एक स्थान मे गाड दिये गये स्थिर वेधयन्त्र अधिक उपयोगी होते है। वेधशाला उस गृह को कहते है जहाँ अनेक स्थिर यन्त्रो द्वारा वेध किया जाता है। राज्याश्रय द्वारा निर्मित ऐसे वेधगृह प्राचीन काल मे हमारे यहाँ सम्भवत रहे होगे, परन्तु उनका वर्णन कही नही मिलता। कही-कही ऐसे पत्थर मिलते है जिन पर दिक्-साधन किया रहता है। सतारा मे चिन्तामणि दीक्षित के यहाँ इस प्रकार दिक्साधन किया है। सन् १८८४ मे सायनपञ्चाङ्गवाद के लिए मै इन्दौर गया था। वहाँ पता लगा कि सरकारबाडे मे वेध के लिए एक स्थान बना है। वहाँ दिक्साधन किया जाता है। तुकोजी महाराज के ज्योतिषी वहाँ कभी-कभी वेध करते थे, मुझे बीड के एक ज्योतिषी मिले थे, वे कहते थे कि कुछ वर्ष पूर्व हैदराबाद की मुगल-सरकार ने कुछ ज्योतिषियो द्वारा सतत वेध कराने के विचार से कुछ यन्त्र बनवाये थे, पर बाद मे वह कार्य बन्द हो गया। नलिकाबन्ध करके वेध करने वाले कुछ ज्योतिषी मैंने देखे है। वेध सम्बन्धी ऐसे छोटे-छोटे प्रयत्न सदा होते रहे होगे, परन्तु दीर्घ प्रयत्न सम्प्रति एक ही ज्ञात है। वह है जयसिह की पाँच वेधशालाएँ। उनके जिजमहमद नामक ग्रन्थ की प्रस्तावना का कुछ उद्धरण यहाँ देते है।[1] इससे पूरा विवरण ज्ञात होगा।

"सर्वव्यापक ईश्वर की शक्ति के ज्ञान मे मनुष्य बिलकुल असमर्थ है। हिपार्कस और टालमी उस ज्ञान के विषय मे एक गँवार किसान है। युक्लिड के सिद्धान्त ईश्वरीय कृत्य के बिलकुल अपूर्ण रूप है। जमसेदकाशी और नसीरतुसी सरीखे सहस्रो व्यर्थ मे परिश्रम करके थक गये, पर किसी ने उसका पार नही पाया। सम्प्रति प्रचलित गणितग्रन्थ सैयद गुरगणी, खयानी के ग्रन्थ, इनशिलल मुलाचन्द, अकबरशाही ग्रन्थ, हिन्दुओ और यूरोपियनो के ग्रन्थ, इत्यादि कोई भी दृक्प्रत्ययद नही है। विशेषतः इनके नूतन चन्द्रदर्शन, ग्रहो के उदयास्त, ग्रहण और ग्रहयुतियाँ वेध से नही मिलती। मुहम्मदशाह बादशाह[2] को यह बात मालूम होने पर उन्होने जयसिह से इसका निर्णय करने को कहा। समरकन्द में मिर्जा उलूगबेग ने जैसे यन्त्र बनाये थे वैसे ही दिल्ली में बनवाये गये. .। जयसिंह ने सोचा कि सूक्ष्मताविषयक मेरी कल्पनाएँ पीतल के यन्त्रों से नही सिद्ध होगी, क्योंकि वे छोटे होते है, उनमे कलाओं के भाग नही बनाते

---

१. एशि० रिसर्चेस, पु० ५, पृ० १७७-२११ के विलियम हण्टर नामक विद्वान् के लेख से यह उद्धरण लिया गया है।

२. यह सन् १७२० से १७४८ तक दिल्ली की गद्दी पर था।

बनते, धुरे घिस जाते है, खिसक जाते है, वृत्त के मध्यच्छिद्र मोटे हो जाते है और वे यन्त्र टेढे हो जाया करते है। उन्हे मालूम हुआ कि हिपार्कस और टालमी इत्यादिकों के गणित इसी कारण वेध से नही मिलते। यह सोचकर उन्होने जयप्रकाश, रामयन्त्र, सम्राट्यन्त्र इत्यादि पत्थर और चूने के पूर्ण सुदृढ ऐसे यन्त्र बनवाये जिनके व्यासाय १८ हाथ है और जिनकी परिधि मे एक कला डेढ जौ के बराबर है। उनके घिसे हुए वृत्तादि, चलित मध्यबिन्दु और न्यूनाधिक कलाएँ बाद मे ठीक की जा सकती है। रेखागणित के नियम, याम्योत्तरवृत्त, अक्षाश इत्यादि का पूर्ण ध्यान रखकर बड़ी सावधानी से नाप तोलकर वे बैठाये गये। इस प्रकार दिल्ली मे वेधशाला की स्थापना की गयी और उन यन्त्रो द्वारा वेध करके ग्रहमध्यमगति इत्यादि दृक्प्रत्ययविरुद्ध बाते ठीक की गयी। दिल्ली मे किये हुए वेधो की परीक्षा करने के लिए सवाई जयपुर, मथुरा, काशी और उज्जैन मे वेधशालाएँ बनवायी गयी। सब स्थानो के वेधो की एकवाक्यता हो गयी। सात वर्ष वेध करने के बाद मालूम हुआ कि यूरोप मे भी इसी प्रकार वेध किया जा रहा है। पादरी मान्युएल और कुछ अन्य विद्वानो को भेजकर वहाँ ३० वर्ष पहिले के रचित और लियेल[1] के नाम से प्रसिद्ध ग्रहकोष्ठक मॅगाये गये। देखने पर मालूम हुआ कि उसका भी गणित वेध से नही मिलता। उसके चन्द्रमा मे लगभग आधा अश और अन्य ग्रहो मे भी थोडी अशुद्धि है, इसलिए बादशाह की आज्ञानुसार ऐसा ग्रन्थ बनाया गया जिसके गणितविषयक नियम अत्यन्त सूक्ष्म और शुद्ध है। इससे लायी हुई स्थिति वेध से ठीक-ठीक मिलती है (बादशाह की प्रतिष्ठा के लिए उन्ही का नाम इस ग्रन्थ का भी रखा गया)।"

हण्टर ने सन् १७९९ के लगभग पाच मे से चार वेधशालाएँ देखकर उनका वर्णन उपर्युक्त एशियाटिक रिसर्चेस में किया है। ग्रन्थविस्तार होने के भय से यहा वह सब नही लिखते। शेरिग ने काशीक्षेत्रवर्णन (सन् १८६८) नामक अपने अगरेजी ग्रन्थ मे काशी की वेधशाला का वर्णन बापूदेवशास्त्री के मानमन्दिरस्थ-यन्त्रवर्णन[2] नामक ग्रन्थ के आधार पर किया है, उसे यहा लिखते है। अन्य वेधशालाओ की रचना भी ऐसी ही है।

---

१. जयसिंह का ग्रन्थ हिजरी सन् ११४१ (सन् १७२८ ई०, शक १६५०) में पूर्ण हुआ। यूरोप से लाया हुआ ग्रन्थ डिलाहायर का था। वह प्रथम सन् १६७८ में और दूसरी बार सन् १७०२ में प्रकाशित हुआ।

२. बहुत प्रत्यन करने पर भी बापूदेवशास्त्री का ग्रन्थ मुझे नहीं मिला।

इस वेधशाला का नाम मानमन्दिर[1] है। यह काशी मे गङ्गा के किनारे मानमन्दिर घाट पर है। सम्प्रति यह मन्दिर और सम्पूर्ण मुहल्ला जयपुर के राजा के अधिकार मे है। मन्दिर बडा सुदृढ बना है। बाहर की सीढिया चढने के बाद एक आगन पडता है। उसमे कुछ दूर जाकर कुछ सीढिया चढने के बाद वेधशाला का मुख्य भाग पडता है। यहा के कुछ यन्त्र बहुत बडे है। वे सहस्रो वर्ष टिकने योग्य सुदृढ एव कर्ता के उद्देश्यानुसार सूक्ष्म भी है। इनकी देखरेख के लिए एक ब्राह्मण नियुक्त किया गया है पर उसके द्वारा ठीक व्यवस्था नही होती। गर्मी और बरसात के कारण यन्त्र बिगडते जा रहे है और उनके भाग-प्रभाग घिसकर अदृश्य से हो रहे है। वेधशाला मे जाने पर प्रथम भित्तियन्त्र दिखाई देता है। यह ११ फुट ऊँची और ९ फुट १$\frac{1}{8}$ इन्च चौडी एक दक्षिणोत्तर दीवार है। इससे मध्याह्नकालीन सूर्य के नताश, उन्नताश, सूर्य की परमक्रान्ति और अक्षाश ज्ञात होते है। पास ही दो और बडे वृत्त है। एक चूने का और दूसरा पत्थर का है। एक वर्गाकार पत्थर है। इससे शङकुच्छाया और दिगश लाते रहे होगे। सम्प्रति इसके सब चिह्न मिट गये है। यन्त्रसम्राट नामक एक बहुत बडा यन्त्र है। यह याम्योत्तरवृत्त मे बनायी हुई ३६ फुट लम्बी, ४$\frac{1}{2}$ फुट चौडी दीवार है। इसका एक किनारा ६ फुट ४$\frac{1}{8}$ इच और दूसरा २२ फुट ३$\frac{1}{2}$ इच ऊँचा है। यह उत्तर ओर क्रमशः ऊची होती गयी है जिसमे ध्रुव दिखाई दे। इस यन्त्र द्वारा खस्थो के याम्योत्तर से अन्तर, क्रान्ति और विषुवाश लाये जा सकते है। इसके पास ही एक दोहरा भित्तियन्त्र है। इसके पूर्व मे पत्थर का नाडीवलय है। दूसरा कुछ छोटा यन्त्रसम्राट् है। इसके पास ही चक्रयन्त्र है। इससे तारो की क्रान्ति का ज्ञान किया जाता था पर इस समय बेमरम्मत हो गया है। उसके पास ही एक भव्य दिगशयन्त्र है। इससे तारो के दिगश लाते थे। वह ४ फुट २ इच ऊचा ३ फुट ७$\frac{1}{2}$ इच मोटा एक खभा है। उसके चारो ओर ७ फुट ३$\frac{1}{2}$ इच दूरी पर उससे दूनी ऊँची दूसरी दीवार है। दोनो दीवारो के शिखर-पृष्ठ के ३६० भाग किये गये है और उन पर दिशाए लिखी है। उसके दक्षिण एक और नाडीवलय है पर उसके चिह्न मिट गये है।

---

१. मैं समझता हूँ, ग्रहगत्यादिकों के मान लाने का स्थान होने के कारण इसका नाम मानमन्दिर पड़ा होगा।

(२) स्पष्टाधिकार

प्रथम प्रकरण

ग्रहों की स्पष्ट गतिस्थिति

ग्रह को भू-मण्डल की एक प्रदक्षिणा करने मे जितना समय लगता है तदनुसार उसकी एक दिन की जो मध्यम गति आती है, आकाश मे प्रति दिन उतनी ही नही बल्कि उससे कुछ न्यून या अधिक का अनुभव होता है। इस कारण मध्यम गति द्वारा इष्टकाल मे उसकी स्थिति जहा आती है वहा वह उस समय नही दिखाई देता। आकाश मे प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाली गतिस्थिति को स्पष्ट गतिस्थिति कहते है। गणितागत मध्यम गतिस्थिति द्वारा ग्रह की स्पष्ट गतिस्थिति लाना स्पष्टाधिकार का विषय है। (हमारे ग्रन्थो मे ग्रह की स्पष्ट स्थिति को प्राय स्पष्ट ग्रह कहने की पद्धति है, इसलिए आगे कही-कही इस शब्द का भी प्रयोग किया गया है।)

कोपर्निकस द्वारा आविष्कृत और केप्लर, न्यूटन इत्यादिको द्वारा दृढता से स्थापित ग्रहगति के सम्प्रति प्राय सर्वमान्य बने हुए वास्तव सिद्धान्तो के अनुसार सूर्य और चन्द्रमा की मध्यमगति से स्पष्टगति भिन्न होने का एक मुख्य कारण है। वह यह कि पृथ्वी सूर्य की और चन्द्रमा पृथ्वी की प्रदक्षिणा दीर्घवृत्त मे करते है। अन्य ग्रहो की मध्यमगति से स्पष्टगति भिन्न होने के कारण दो है। एक तो यह कि बुधादि पाच ग्रह सूर्य के चारो ओर दीर्घवृत्त मे घूमते है इसलिए उनके कक्षावृत्तो मे मध्यमगति से स्पष्टगति भिन्न होती है और दूसरा कारण यह है कि सूर्य सम्बधी यह भिन्न स्थिति हम पृथ्वी पर से देखनेवालो को और भी भिन्न दिखाई देती है, क्योकि सूर्य के चारो ओर घूमते रहने के कारण आकाश मे पृथ्वी का स्थान सदा बदलता रहता है।

यद्यपि हमारे प्राचीन ज्योतिषियो को उपर्युक्त सूर्य-चन्द्रसम्बन्धी एक कारण और पञ्चग्रह सम्बन्धी दो कारणो के वास्तव रूप नही ज्ञात थे, तथापि ग्रहो को स्पष्टस्थिति लाने के लिए उन्होने इन्ही कारणो को दूसरे ढग से आधार भूत माना है। वास्तव रूप में इनका ज्ञान होने के बाद ग्रहस्पष्टस्थिति लाने के लिए पाश्चात्यो की बनायी हुई रीतियो द्वारा जो स्पष्टस्थिति आती है, ठीक उतनी ही नही पर उससे बहुत कुछ मिलती जुलती ग्रहस्पष्टस्थिति हमारे ग्रन्थो द्वारा आती है। दोनो की मध्यमस्थिति समान होने पर पाश्चात्यो की रीति से आकाश मे ग्रह जहा आता है, हमारे ग्रन्थो द्वारा भी कभी ठीक उसी स्थान मे और कभी उसके बिल्कुल पास आता है। अन्तर पडने का कारण है गणित सम्बन्धी हमारे उपकरणो का किञ्चित् दोष अथवा उनकी स्थूलता और

है और उसके केन्द्र से परमशीघ्रफलज्या तुल्य अन्तर पर केन्द्र मानकर दूसरा कक्षावृत्त बनाते है। इस शीघ्रकर्मसम्बन्धी कक्षावृत्त के मध्य मे पृथ्वी को ही मानते है। शीघ्रप्रतिवृत्त मे अपनी गति से भ्रमण करता हुआ मन्दस्पष्ट ग्रह इस शीघ्रकक्षावृत्त मे जहा दिखाई देता है वही उसका शीघ्रस्पष्ट स्थान होता है। पृथ्वीस्थित द्रष्टा को ग्रह यही दिखाई देता है। कोई-कोई मन्दकक्षावृत्त को ही शीघ्रकक्षावृत्त मानकर उसके केन्द्र से शीघ्रान्त्यफलज्या तुल्य अन्तर पर कक्षावृत्ततुल्य ही शीघ्रप्रतिवृत्त बनाते हैं और मन्द कक्षावृत्त मे प्रथम कृति द्वारा आये हुए मन्दस्पष्ट ग्रह को शीघ्रप्रतिवृत्त मे ले जाने पर वह कक्षावृत्त मे जहा दिखाई देता है वही उसका स्पष्ट स्थान मानते है। दोनो विधियो का परिणाम समान ही होता है।

उपर्युक्त क्षेत्र से ज्ञात होगा कि प्रतिवृत्त मे भ्रमण करनेवाले ग्रह का पृथ्वी से सर्वत्र समान अन्तर नही रहता। ग्रह जिस समय उ बिन्दु मे अर्थात् उच्च मे रहता है उस समय उसका अन्तर महत्तम और नी बिन्दु अर्थात् नीच मे रहने पर लघुतम होता है। यह प्रकार ग्रहो की कक्षा दीर्घवृत्ताकार मानने जैसा ही हुआ। भू इस दीर्घवृत्त का एक केन्द्र है।

प्रथम आर्यभट के टीकाकार परमेश्वर का मन्दशीघ्रफल सम्बन्धी परिलेख बडा सुबोध है। क्षेत्र बनाने की इतनी सरल रीति मुझे अन्य किसी ग्रन्थ मे नही मिली, इसलिए उसे यहा लिखता हूँ।

त्रिज्याकृत कुमध्य कक्षावृत्तं भवेत्तु तच्छैघ्र्यम्।
शीघ्रदिशि तस्य केन्द्रात् शीघ्रान्त्यफलान्तरे पुन केन्द्रम् ।।२।।
कृत्वा विलिखेद् वृत्त शीघ्रप्रतिमण्डलाख्यमुदितमिदम्।
इदमेव भवेन्मान्दे कक्षावृत्त पुनस्तु तत्केन्द्रात् ।।३।।
केन्द्र कृत्वा मन्दान्त्यफलान्तरे वृत्तमपि च मन्ददिशि।
कुर्यात् प्रतिमण्डलमिदमुदित मान्द शनीज्यभूपुत्रा ।।४।।
मान्दप्रतिमण्डलगास्तत्कक्षायां तु यत्र लक्ष्यन्ते।
तत्र हि तेषा मन्दस्फुटाः प्रदिष्टास्तथैव शैघ्रे ते ।।५।।
प्रतिमण्डले स्थिता स्युस्ते लक्ष्यन्ते पुनस्तु शैघ्राख्ये।
कक्षावृत्ते यस्मिन् भागे तत्र स्फुटग्रहास्ते स्यु ।।६।।
मान्द कक्षावृत्तं प्रथम बुधशुक्रयोः कुमध्यं स्यात्।
तत्केन्द्रान्मन्ददिशि मन्दान्त्यफलान्तरे तु मध्य स्यात् ।।९।।
मान्दप्रतिमण्डलस्य तस्मिन् यत्र स्थितो रविस्तत्र।

प्रतिमण्डलस्य मध्य शैघ्रस्य तस्य मानमपि च गदितम् ।।१०।।
शीघ्रस्ववृत्ततुल्य तस्मिश्चरत सदा ज्ञशुक्रौ च ।।

अर्थ—पृथ्वी को मध्य और त्रिज्या[1] को व्यासार्ध मानकर बनाया हुआ कक्षावृत्त ही शैघ्र (शीघ्रकर्मसम्बन्धी कक्षावृत्त) है। इसके केन्द्र से शीघ्रदिशा मे शीघ्रान्त्यफल तुल्य अन्तर पर केन्द्र मानकर पुन एक वृत्त बनाओ। इसे शीघ्रप्रतिमण्डल कहेगे। मन्दकर्म मे यही कक्षावृत्त होता है । इसके केन्द्र से मन्ददिशा मन्दान्त्यफल तुल्य अन्तर पर केन्द्र मानकर फिर एक वृत्त बनाओ । इसे मन्दप्रतिवृत्त कहते है। शनि, गुरु और मङ्गल मन्दप्रतिवृत्त मे गमन करते समय मन्दकक्षावृत्त मे जहा दिखाई देते है वही उनके मन्दस्पष्ट बताये है (वे मन्दस्पष्ट शनि, गुरु और भौम के स्थान है)। इसी प्रकार शीघ्रप्रतिवृत्त मे भी समझना चाहिए। वे शीघ्रकक्षावृत्त मे जहा दिखाई देते है वहा उनका स्पष्टस्थान जानो। बुध शुक्र के मन्दकक्षावृत्तो का मध्य पृथ्वी है। उनके केन्द्रो से मन्दान्त्यफल तुल्य अन्तर पर मन्दप्रतिमण्डल का मध्य होता है। उसमें जहा सूर्य हो वहा शीघ्रप्रतिमण्डल का मध्य जानो। उसका (शीघ्रप्रतिवृत्त का) मान शीघ्रस्ववृत्ते तुल्यबताया है। बुध शुक्र सदा उसी वृत्त मे घूमते रहते है।

नीचोच्चवृत्त नामक एक वृत्त के आधार पर फलसस्कार की उपपत्ति की एक और रीति है। भास्कराचार्य ने उसके विषय मे लिखा है—

कक्षास्थमध्यग्रहचिह्नतोऽथ वृत्त लिखेदन्त्यफलज्यया तत् ।
नीचोच्चसज्ञ रचयेच्च रेखा कुमध्यतो मध्यखगोपरिस्थाम् ।।२४।।
कुमध्यतो दूरतरे प्रदेशे रेखायुते तुङ्गमिह प्रकल्प्यम् ।
नीच तथासन्नतरेऽथ तिर्यङ नीचोच्चमध्ये रचयेच्च रेखाम् ।।२५।।
नीचोच्चवृत्ते भगणाङ्किते‌ऽस्मिन् मान्दे विलोमं निजकेन्द्रगत्या ।
शैघ्र्येऽनुलोम भ्रमति स्वतुङ्गादारभ्य मध्यद्युचरो हि यस्मात् ।।२६।।
अतो यथोक्त मृदुशीघ्रकेन्द्रं देय निजोच्चाद् द्युचरस्तदग्रे ।।

छेद्यकाधिकार

---

१. सम्प्रति त्रिज्या को व्यासार्ध का पर्याय समझने लगे है परन्तु उसका मूल अर्थ है ३ राशि की ज्या। हमारे ज्योतिषग्रन्थो मे इसका प्रयोग प्रायः इसी अर्थ में किया गया है। वृत्तपरिधि २१६०० कला मानने से उसके व्यासार्ध का मान ३४३८ आता है। ३ राशि की ज्या व्यासार्ध तुल्य होती है इसलिए हमारे ग्रन्थों में त्रिज्या का अर्थ सामान्यतः '३४३८ कला लम्बी रेखा' माना गया है।

अर्थ--कक्षास्थित मध्यमग्रह को केन्द्र मानकर अन्त्यफलज्या तुल्य व्यासार्ध का एक वृत्त बनाओ । इसे नीचोच्चवृत्त कहते है। भूमध्य और मध्यग्रह मे जाती हुई एक रेखा खीचो। वह भूमध्य से अत्यधिक दूरी पर (नीचोच्च वृत्तपरिधि मे) जहा लगे उसे उच्च और अत्यल्प दूरी पर जहा लगे उसे नीच जानो। नीचोच्च के मध्य मे एक तिर्यक् रेखा खीचो। नीचोच्चवृत्त की परिधि मे राशि-अशो के चिह्न बनाओ। मध्यमग्रह अपने अपने उच्च से आरम्भ कर अपनी-अपनी (मन्द या शीघ्र) केन्द्रगति से मन्दनीचोच्चवृत्त मे विलोम और शीघ्रनीचोच्चवृत्त मे अनुलोम भ्रमण करते हैं, अत उसके अनुसार अपने-अपने (मन्दशीघ्र) उच्च से मन्दशीघ्रकेन्द्र दो। उसके आगे (मन्द के आगे मन्दस्पष्ट और शीघ्र के आगे शीघ्रस्पष्ट) ग्रह दिखाई देता है।

इस क्षेत्र मे बडा वृत्त कक्षावृत्त है। भू इसका केन्द्र है। म मान्दकर्म मे मध्यमग्रह का और शीघ्रकर्म मे शीघ्रस्पष्ट ग्रह का स्थान है। यही मन्द अथवा शीघ्र-नीचोच्चवृत्त का केन्द्र है। इसको केन्द्र मानकर परम-फलज्या तुल्य व्यासार्ध का नीचोच्चवृत्त बनाया गया है। उसमे ग्र ग्रह है। वहा से भू पर्यन्त आनेवाली रेखा कक्षावृत्त को स्प बिन्दु मे काटती है। यही स्पष्टग्रह (मन्दस्पष्ट या शीघ्रस्पष्ट) का स्थान है। इस उपपत्ति के विषय मे भास्कराचार्य ने ही लिखा है--
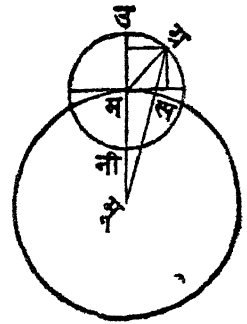
ग्रह पूर्वगन्या प्रतिमण्डलेनैव भ्रमति। यदेतन्नीचोच्चवृत्त
तत् प्राज्ञैर्गणकै. फलार्थ कल्पितम् ।।

गोलाध्याय. छेद्यकाधिकार

अर्थ--ग्रह वस्तुत' पूर्वगति से प्रतिमण्डल मे ही भ्रमण करते हैं। बुद्धिमान गणकों ने यह नीचोच्चवृत्त की कल्पना फल के लिए की है।

उपर्युक्त आकृति मे प्रतिवृत्त का उ बिन्दु अन्य बिन्दुओ की अपेक्षा भूमध्य से अधिक दूर है। उसे उच्च कहते है। नी बिन्दु अति समीप है। उसे नीच कहते हैं। मन्द प्रतिवृत्त के उच्च को मन्दोच्च और शीघ्र प्रतिवृत्त के उच्च को शीघ्रोच्च कहते है। प्रथम आर्यभट के वर्णन में मन्दोच्चो के भोग और उनकी गति का पर्याप्त विवेचन कर चुके है। मन्दोच्चो की गति अत्यल्प[1] है। भौमादि बहिर्वर्ती ग्रहो का शीघ्रोच्च

१. ग्रांट का कथन है कि (History of Phy. Astro. p. 97) रविमन्दोच्च

सूर्य ही माना जाता है और आधुनिक सिद्धान्तानुसार बुध और शुक्र की कक्षाओ मे उनकी जो मध्यम गतिया है वे ही हमारे ग्रन्थो मे उनके शीघ्रोच्चो की मानी है। उपर्युक्त आकृति से ज्ञात होगा कि जिस समय ग्रह उच्च या नीच स्थानो मे रहता है उस समय कक्षावृत्त मे मध्यम और स्पष्टग्रह एक ही स्थान मे दिखाई देते है अर्थात् उस समय उनका फलसस्कार शून्य रहता है। उच्च से ग्रह ज्यो-ज्यो तीन राशि पर्यन्त आगे जाता है त्यों-त्यो उसका फलसस्कार बढता जाता है। उसके बाद नीच पर्यन्त कम होता जाता है और उसके बाद तीन राशि पर्यन्त बढता है। फिर घटते-घटते उच्च मे शून्य हो जाता है। साराश यह कि उच्च के ही कारण ग्रहो की मध्यम गति मे अन्तर पड़ता है। यह बात दोनो उच्चो मे लागू होती है। इन उच्चो के विषय मे सूर्यसिद्धान्त मे लिखा है—

अदृश्यरूपा. कालस्य मूर्तयो भगणाश्रिता ।
शीघ्रमन्दोच्चपाताख्या ग्रहाणा गतिहेतव ॥१॥
तद्वातरश्मिभिर्बद्धास्तै सव्येतरपाणिभि ।
प्राक्पश्चादपकृष्यन्ते यथासन्न स्वदिङ्मुखम् ॥२॥

स्पष्टाधिकार

अर्थ—भगणाश्रित शीघ्रोच्च, मन्दोच्च और पात नामक काल की अदृश्य मूर्तिया ग्रहगति[1] की कारणीभूत है। वे अपनी (हस्तस्थित) वायुरूपी रश्मियो मे बद्ध ग्रहो को दाहिने-बाये हाथों से आगे[2] पीछे अपनी ओर खीचती है।

गतिमान् है, इस बात का पता प्रथम अरब ज्योतिषी अलबटानी (सन् ८८०) ने लगाया अर्थात् सूर्य तथा अन्य ग्रहों के मन्दोच्चों के गतिमान् होने की बात हिपार्कस और टालमी को नहीं मालूम थी। परन्तु हमारे ब्रह्मगुप्त (सन् ६२८) ने मन्दोच्च गति लिखी है और वर्तमान सूर्यसिद्धान्त में भी वह है। हमारे ग्रन्थों की मन्दोच्च गति बहुत थोड़ी है इसलिए प्रो० ह्विटने ने उनका केवल उपहास किया है। परन्तु इसका एकमात्र कारण यह है कि टालमी को उच्च गति का ज्ञान नहीं था और हिन्दू उसे जानते थे—इस बात को स्वीकार कर पाश्चात्यों को नीचा दिखाना पक्षपात-स्वभावी ह्विटने को असह्य था। परन्तु प्रथम आर्यभट के वर्णन में सिद्ध कर चुके है कि हमारे ग्रन्थों की उच्च गति उन्हें जितनी स्वल्प मालूम होती है वस्तुतः उतनी अल्प नहीं है।

१. यहाँ गति का अर्थ स्पष्टगति है।

२. आगे पीछे का अर्थ है मध्यमग्रह से आगे पीछे। (यहाँ रंगनाथ ने थोड़ा भिन्न अर्थ किया है। पातों के कारण दक्षिणोत्तर स्थिति बदलती है।)

उच्चो को जीव मानकर उन्हे सूर्यसिद्धान्त की भाति अन्य किसी भी ग्रन्थ मे इतना महत्व नही दिया गया है। ब्रह्मगुप्त ने उनके विषय मे केवल इतना ही लिखा है—

प्रतिपादनार्थमुच्चा. प्रकल्पिता ग्रहगतेस्तथा पाता ॥२९॥

गोलाध्याय

अर्थात् ग्रहगति के प्रतिपादन के लिए उच्च और पातो की कल्पना की गयी है। यहां गति का अर्थ स्पष्ट गति है।

सूर्यसिद्धान्त मे स्पष्टतया कही नही लिखा है कि ग्रह प्रतिवृत्त मे घूमते है। मालूम होता है इसी कारण उसमे उच्च के स्थान मे मूर्ति की कल्पना की गयी है, परन्तु प्रतिवृत्त में ग्रहों का भ्रमण मान लेने से उनकी मध्यस्थिति मे भेद सहज ही उत्पन्न हो जाता है। बात इतनी ही है कि वह भेद उच्च और ग्रह के अन्तर के अनुसार न्यूनाधिक होता है।

ऊपर बताया है कि कक्षावृत्त के मध्य से परममन्द या शीघ्रफल के भुजज्यातुल्य अन्तर पर प्रतिवृत्त रहता है। हमारे ग्रन्थो मे प्रत्येक ग्रह के वे मन्द और शीघ्र फल लिखे रहते है। उनके लिखने की पद्धति यह है कि परम फल तुल्य त्रिज्या मानकर बनाये हुए वृत्त की परिधि कक्षावृत्त मे जितने अश घेरती है वे अश ही दिये रहते है और उन्हें सामान्यत परिधि ही कहते है। मन्दफलसम्बन्धी परिधि को मन्दपरिधि और शीघ्रफलसम्बन्धी परिधि को शीघ्रपरिधि कहते है। इन फलो को परिधिरूप मे लिखने का कारण उपर्युक्त नीचोच्चवृत्त ज्ञात होता है। वस्तुत नीचोच्च वृत्त परिधि मे भी अंश ३६० ही होते है परन्तु फल की गणना कक्षावृत्त के अंशो से करनी पडती है इसलिए नीचोच्च वृत्तपरिधि का मान भी उन्ही अशो मे लिखा रहता है।

भिन्न-भिन्न ग्रन्थो की मन्दशीघ्रपरिधिया अगले कोष्ठक मे दी है और उनकी गणितागत त्रिज्याएँ भी लिखी है। ये त्रिज्याएँ ही परम फलो के मान है। त्रिज्याएँ लाते समय परिधि और त्रिज्या की निष्पत्ति प्रथम आर्यभट और भास्कराचार्य कथित अर्थात् ६२८३२ १०००० मानी है।

केन्द्र की तीन-तीन राशियो का एक पद होता है। प्रथम और तृतीय पद को ओज तथा द्वितीय और चतुर्थ को युग्म कहते है। कुछ सिद्धान्तो मे. कुछ ग्रहो के परिधिमान ओज और युग्म पदान्तो मे भिन्न-भिन्न और मध्य मे तदनुसार न्यूनाधिक है। अग्रिम कोष्ठक मे पञ्चसिद्धान्तिका की कुछ ग्रहो की परिधिया नही लिखी है। इसका कारण यह है कि पञ्चसिद्धान्तिका की पुस्तक से वे नि.सशय ज्ञात नही होती। शेष सिद्धान्तो मे जहा युग्मान्त परिधि नही लिखी है वहा वह ओजपदान्तीय तुल्य ही है।

मन्दपरिधियाँ और उनकी त्रिज्याएँ अर्थात् परम मन्दफल

	पञ्चसिद्धान्तिकोक्त सूर्यसिद्धान्त				वर्तमान सूर्यसिद्धान्त ओजपदान्त मे					वर्तमान सूर्यसिद्धान्त युग्मपदान्त मे				प्रथम आर्यसिद्धान्त ओजपदान्त मे				
	परिधि	त्रिज्या			परिधि		त्रिज्या			परिधि	त्रिज्या			परिधि		त्रिज्या		
ग्रह	अ०	अ०	क०	बि०	अ०	क०	अ०	क०	वि०	अ०	अ०	क०	वि०	अ०	क०	अ०	क०	वि०
सूर्य	१४	२	१३	४१	१३	४०	२	१०	३०	१४	२	१३	४१	१३	३०	२	८	५५
चन्द्र	३१	४	५६	२	३१	४०	५	२	२४	३२	५	५	३५	३१	३०	५	०	४८
मगल	७०	११	८	२७	७२		११	२७	३३	७५	११	५६	१२	६३	०	१०	१	३६
बुध	२८	४	२७	२३	२८		४	२७	२३	३०	४	४६	२९	३१	३०	५	०	४८
गुरु	३२	५	५	३५	३२		५	५	३५	३३	५	१५	८	३१	३०	५	०	४८
शुक्र					११		१	४५	२	१२	१	५४	३५	८	०	२	५	५३
शनि					४८		७	३८	२२	४९	७	४७	५५	४०	३०	६	२६	४५

ग्रह	प्रथम आर्यसिद्धान्त					ब्रह्मसिद्धान्त									द्वितीय आर्यसिद्धान्त				
	युग्मपदान्त मे					ओजपदान्त मे					युग्मपदान्त मे								
	परिधि		त्रिज्या			परिधि		त्रिज्या			परिधि	त्रिज्या			परिधि		त्रिज्या		
	अं०	क०	अ०	क०	वि०	अ०	क०	अ०	क०	वि०	अं०	अ०	क०	वि०	अ०	क०	अ०	क०	वि०
सूर्य						१३	४०	२	१०	३०					१३	४०	२	१०	३०
चन्द्र						३१	३६	५	११	४५					३१	३४	५	१	२६
मंगल	८१	०	१२	५३	२९	७०	०	११	८	२७					६७	३०	१०	२५	२९
बुध	२२	३०	३	३४	५१	३८	०	६	२	५२					२७	३६	४	२३	३४
गुरु	३६	०	५	४३	४६	३३	०	५	१५	८					२८	१५	४	२९	४६
शुक्र	९	०	१	२५	५७		०	१	२५	५७	११	१	४५	२	९	३५	१	३१	३१
शनि	५८	३०	९	१८	३८		०	४	४६	२९					५२	४२	८	२३	१५

शीघ्रपरिधियाँ और उनकी त्रिज्याएँ अर्थात् परम शीघ्रफल

ग्रह	पञ्चसिद्धान्तिकोक्त सूर्यसिद्धान्त				वर्तमान सूर्यसिद्धान्त ओजपदान्त मे				वर्तमान सूर्यसिद्धान्त युग्मपदान्त मे				प्रथम आर्यसिद्धान्त ओजपदान्त मे				
	परिधि	त्रिज्या			परिधि	त्रिज्या			परिधि	त्रिज्या			परिधि		त्रिज्या		
	अ०	अ०	क०	वि०	अ०	अ०	क०	वि०	अ०	अ०	क०	वि०	अ०	क०	अ०	क०	वि०
मगल	२३४	३७	४१	३२	२३२	३६	५५	२६	२३५	३७	२४	५	२३८	३०	३७	५७	३०
बुध	१४२	२१	०	३०	१३२	२१	०	३०	१३३	२१	१०	३	१३९	३०	२२	१२	७
गुरु	७२	११	२७	३३	७२	११	२७	३३	७०	११	८	२७	७२	०	११	२७	३३
शुक्र	२६०	४१	२२	४९	२६०	४१	२२	४९	२६२	४१	४१	५५	२६५	३०	४२	१५	२०
शनि	४०	६	२१	५८	४०	६	२१	५८	३९	६	१२	२५	४०	३०	६	२६	४५

	प्रथम आर्यसिद्धान्त					ब्रह्मसिद्धान्त									द्वितीय आर्यसिद्धान्त				
	युग्मपदान्त मे					ओजपदान्त मे					युग्मपदान्त मे				ओजपदान्त मे				
	परिधि		त्रिज्या			परिधि		त्रिज्या			त्रिज्या	त्रिज्या			परिधि		त्रिज्या		
ग्रह	अ०	क०	अ०	क०	वि०	अ०	क०	अ०	क०	वि०	अ०	अ०	क०	वि०	अ०	क०	अ०	क०	वि०
मंगल	२२९	३०	३६	३१	३३	२४३	४०	३८	४६	५०					२३०	५९	३६	४५	४३
बुध	१३०	३०	२०	४६	११	१३२		२१	०	३०					१३४	३०	२१	२४	२३
गुरु	६७	३०	१०	४४	३५	६८		१०	४९	२१					६९	३०	११	३	४०
शुक्र	२५६	३०	४०	४९	२३	२६३		४१	५१	२८					२६१	३०	४१	३७	८
शनि	३६	०	५	४३	४६	३५		५	३४	१३	२५८	४१	३	४३	४०	४०	६	२८	२०

टालमी के और आधुनिक यूरोपियन ज्योतिषियो के परम मन्दफलमान[1] नीचे के कोष्ठक मे दिये है। उनकी हमारे ग्रन्थो के मानो से तुलना करने मे सुविधा होने के लिए यहा प्रथम आर्यभट के ओजपदान्त के परम मन्दफल पुन लिख दिये है।

परममन्दफल

	प्रथम आर्यसिद्धान्त			टालमी		आधुनिक		
	अ०	क०	वि०	अ०	क०	अ०	क०	वि०
सूर्य	२	८	५५	२	२३	१	२५	२७
चन्द्र	५	०	४८	५	१	६	१७	१२
मगल	१०	१	३६	११	३२	१०	४१	३३
बुध	५	०	४८	२	५२	२३	४०	४३
गुरु	५	०	४८	५	१६	५	३१	१४
शुक्र	२	५१	५३	२	२३	०	४७	११
शनि	६	२६	४५	६	३२	६	२६	१२

बुध-शुक्र के आधुनिक मानो से हमारे ग्रन्थो के मानो की तुलना करना ठीक नही है क्योकि उनके आधुनिक मान सूर्यबिम्बस्थ द्रष्टा की दृष्टि और हमारे भूस्थ द्रष्टा की दृष्टि से दिये गये है। शेष ग्रहो सम्बन्धी दोनो मानो की तुलना करने से ज्ञात होता है कि हमारे मान आधुनिक मानो के बिलकुल सन्निकट है। आधुनिक सिद्धान्तानुसार चन्द्रमा और ग्रहो की कक्षाएँ दीर्घवृत्ताकार है। उनकी कक्षाकेन्द्रच्युति के न्यूनाधिकत्वके अनुसार उनके मदफल न्यूनाधिक होते है। हमारे ग्रन्थो के मन्दफल उनसे मिलते है। ऊपर हमारे ग्रन्थो की ग्रहगति का स्वरूप परिलेख द्वारा दिखाया है। उससे ज्ञात होता है कि हमारे ग्रन्थकारो ने ग्रहकक्षाएँ यद्यपि दीर्घवृत्ताकार नही मानी है तथापि उन्होने कक्षा के मध्य से ग्रह का अन्तर सदा समान नही माना है और उन कक्षाओ मे उच्चनीच स्थान मानकर तदनुसार फल मे भेद माना है। इससे सिद्ध होता है कि ग्रह की मध्यम और स्पष्ट गतियो मे अन्तर पडने का एक मुख्य कारण ग्रह (या चन्द्रमा) का दीर्घ-त्त मे भ्रमण करना हमारे ग्रन्थकारो को दूसरे प्रकार से ज्ञात था। मन्दस्पष्टग्रह पनी कक्षा मे पृथ्वी से जितने न्यून या अधिक अन्तर पर रहता है उसी के अनुसार

ये बर्जेसकृत सूर्यसिद्धान्त के अनुवाद (पृष्ठ ७६) से लिये है।

उसमे शीघ्रफल-सस्कार उत्पन्न होता है। हमारे ग्रन्थो का वह शीघ्रफल सस्कार पिछले कोष्ठक मे लिखा है और उसके द्वारा लाये हुए ग्रहो के मन्दकर्ण आधुनिको से मिलते है, यह पहले दिखा चुके है। उससे और उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध होता है कि सूर्य के चारो ओर पृथ्वी के घूमते रहने के कारण सूर्य-सम्बन्ध से ग्रहो के मन्दस्पष्ट स्थान मे पृथ्वी स्थित द्रष्टाओ को अधिक अन्तर दिखाई देता है—ग्रहो की मध्यम और स्पष्ट गति मे अन्तर पडने का यह जो दूसरा कारण है, उसे भी हमारे ज्योतिषी जानते थे।

टालमी के उपर्युक्त मन्दफल हमारे किसी भी सिद्धान्त से नही मिलने। हमारे किसी भी सिद्धान्त से टालमी का कोई भी सम्बन्ध नही है, इसके अनेक प्रमाणो मे से एक यह भी है।[1]

मन्दशीघ्रपरिधि सम्बन्धी कुछ और उल्लेखनीय बाते यहाँ लिखते है। कुछ सिद्धान्तो मे ओज और युग्म पदान्तो की परिधिया भिन्न-भिन्न है। प्रथम आर्यभट के इन दोनो मानो मे अधिक अतर है। सूर्यसिद्धान्त के मानो मे विशेष अन्तर नही है। ब्रह्मगुप्त ने केवल शुक्र के परिधिमान ओज और युग्म पदान्तो मे भिन्न-भिन्न माने है। वर्तमान रोमक, सोम, शाकल्योक्त ब्रह्म और वसिष्ठसिद्धान्तो के मान प्राय वर्तमान सूर्यसिद्धान्ततुल्य ही है। तथापि रोमक और सोमसिद्धान्त की परिधिया सर्वत्र समान है और वे सूर्यसिद्धान्त की युग्मान्त परिधियो से मिलती है। सोमसिद्धान्त मे बुध की मन्दपरिधि ३४ है, केवल वही नही मिलती। वसिष्ठसिद्धान्त मे मन्दपरिधिया लिखी ही नही है।[2] शीघ्रपरिधिया लिखी है, पर वे सूर्यसिद्धान्त से नही मिलती। उनके मान ये है—

मगल २३४, बुध १३३, गुरु ७१, शुक्र २६१, शनि ३९।

ये दोनो पदान्तो मे इतनी ही है। यद्यपि ये सूर्यसिद्धान्त से नही मिलती तथापि स्पष्ट है कि उनके दोनो पदान्तो की परिधियो के ये स्थूल मध्यमान है। शाकल्योक्त ब्रह्मसिद्धान्त की मेरी पुस्तक मे परिधिया है ही नही परन्तु जहा उनके होने की सभावना है, मेरी पुस्तक का वह भाग नि सन्देह खण्डित है।[3] मूल पुस्तक मे वे अवश्य रही

---

१. पञ्चसिद्धान्तिकोक्त रोमकसिद्धान्त में चन्द्रमा का परम मन्दफल ४ अंश ५७ कला है (प० सि० ८ और ९)। यह टालमी के मन्दफल से भिन्न है। पञ्चसिद्धान्तिकोक्त रोमकसिद्धान्त टालमी का नहीं है, इसका यह एक प्रमाण है।

२. काशी की छपी हुई प्रति और डेक्कन कालेज संग्रह की प्रति, दोनों मे वे नहीं है।

३. प्रथमाध्याय के १११ श्लोकों के बाद अग्रिम श्लोक का केवल 'मौर्व्याचतुष्के' अंश ही लिखा है और उसके बाद द्वितीय अध्याय है। उसके आरम्भ मे दूसरा ही

होगी। लल्ल प्रथम आर्यभट के अनुयायी थे अतः उन दोनो के परिधिमान बिलकुल समान है। भास्कराचार्य ब्रह्मगुप्त के अनुयायी हैं अत उन दोनो के मान भी समान ही हैं परन्तु भास्कराचार्य ने शनि की मन्दपरिधि ५० और शीघ्रपरिधि ४० लिखी है। ज्ञानराजकृत सिद्धान्तसुन्दर के मान वर्तमान सूर्यसिद्धान्ततुल्य है। सिद्धान्तसार्वभौम-कार मुनीश्वर के मत मे ओज और युग्म पदान्तो मे भिन्न-भिन्न परिधिया मानना अयुक्त है। उन्होने अपने सिद्धान्त मे वर्तमान सूर्यसिद्धान्त की ओज और युग्मपदान्तीय परिधियो का मध्यमान लिखा है। प्राय सभी करणग्रन्थो के परिधिमानो मे थोडा बहुत अन्तर है पर मालूम होता है सूक्ष्मता की ओर कम ध्यान देने के कारण ऐसा हुआ है। इस विषय मे कोई विशेष उल्लेखनीय बात नही है।

उपर्युक्त कोष्ठक मे दिये हुए मन्दफलो के आधुनिक मान सदा समान नही रहते। कुछ समय बाद उनमे अन्तर पड जाता है। सूर्य के मन्दफल सम्बन्धी अन्तर का ज्ञान नीचे के कोष्ठक से होगा। यह कोष्ठक केरोपन्त के ग्रहसाधनकोष्ठक से लिया है।

शकारम्भ के पहिले के वर्ष	परमफल		शकारभ के बाद के वर्ष	परमफल	
	अ०	क०		˚	क०
१००००	२	३१	०	२	१
९०००	२	२८	१०००	१	५८
८०००	२	२५	२०००	१	५५
७०००	२	२२	३०००	१	५२
६०००	२	१९	४०००	१	४९
५०००	२	१६	५०००	१	४६
४०००	२	१३	६०००	१	४३
३०००	२	१०	७०००	१	४०
२०००	२	७	८०००	१	३७
१०००	२	४	९०००	१	३४
०	२	१	१००००	१	३१

प्रकरण है। सम्भवतः इन्हीं दोनों के बीच में परिधिमान र होंगे। (आश्चर्य यह है कि ग्वालियर, आप्टे और पूना के आनन्दाश्रम (४३४१) की प्रतियों भी इसी स्थान पर खण्डित हैं।)

इससे ज्ञात होता है कि सूर्य का फलसस्कार क्रमश न्यून होता जा रहा है। हमारे ग्रन्थो मे वह २।१३।४१ से २।८।५५ पर्यन्त है। उपर्युक्त कोष्ठक से स्पष्ट ज्ञात होता है कि वह हमारे प्राचीन ग्रन्थो मे अधिक और अर्वाचीन ग्रन्थो मे कम है। इससे सिद्ध होता है कि वह भिन्न-भिन्न समयो मे वेध द्वारा लाया गया है। हमारे ज्योतिषियो ने रविचन्द्रसस्कार ग्रहण के वेध द्वारा अर्थात् उनकी पर्वान्तिकालीन स्थिति के आधार पर निश्चित किये है। मध्यम चन्द्र को स्पष्ट करने के लिए आधुनिक यूरोपियन सूक्ष्मगणित मे बडे-बडे ५ सस्कार है। आगे दिखाया है कि उनमे से पर्वान्तिकालीन ४ सस्कारो को एकत्रित करने से जितना फल होता है उतना ही हमारे ज्योतिषियो ने चन्द्रमा का परमफल माना है। पञ्चम सस्कार का परममान ११ कला है (के० ग्र० सा० को० पृ० १०५)। उसका उपकरण रविकेन्द्र होने के कारण वह रविफलसदृश समझकर रवि मे ही दे दिया गया और जहाँ चन्द्रमा मे धनर्ण होना चाहिए था, वहाँ रवि मे ऋणधन कर दिया गया, इससे ग्रहणसम्वन्धी परिणाम मे कोई अशुद्धि नही हुई। साराश यह कि हमारे प्राचीन ग्रन्थो मे दिया हुआ रविपरमफल २ अश १४ कला वस्तुत ११ कला न्यून अर्थात् २ अश ३ कला ही है। इतना रविफल शकपूर्व ५०० वर्ष मे था, इससे ज्ञात होता है कि हमारे ज्योतिषियो ने उसी समय अथवा कम से कम शकारम्भ के दो तीन शताब्दी पूर्व उसे निश्चित किया। टालमी का रविसस्कार २ अश २३ कला है अर्थात् हमारे ग्रन्थो से उसका कोई सम्बन्ध नही है। टालमी ने रविफल २।२३ लिखा है परन्तु वह उस समय (लगभग शक ७०) वस्तुत: २ अश था, अत उन्होने वह स्वय नही निकाला होगा बल्कि किसी अन्य ग्रन्थ से लिया होगा। उनके पहिले रविस्पष्टीकरण का ज्ञान हिपार्कस के अतिरिक्त अन्य किसी को नही हुआ था और दूसरी बात यह कि टालमी और हिपार्कस का वर्षमान एक ही[1] (३६५।१४।४८) है। इन दोनो हेतुओ से अनुमान होता है कि टालमी ने रविफलसस्कार हिपार्कस का ही लिया होगा। हिपार्कस के आधार पर विरचित रोमकसिद्धान्त में रविपरमफल २।२३।२३ है, इससे इस अनुमान की और भी पुष्टि होती है। यह मत किसी का भी नही है कि हिन्दुओं ने टालमी के बाद के किसी ग्रन्थ से ज्योतिषगणित लिया है। टालमी के बाद तीन चार सौ वर्षो तक वैसा ज्योतिषी कोई हुआ ही नही। मूल रोमकसिद्धान्त का रविफलसस्कार हमारे अन्य किसी भी सिद्धान्त मे नही है। इन सब हेतुओ से यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि हमारे ज्योतिषियो ने रविफलसस्कार किसी पाश्चात्य ग्रन्थ से नही लिया है, बल्कि

---

१. Grant's History of the Ph. Astronomy, chap. XVIII.

शक के पूर्व ही स्वय निकाला है और यह बात प्रत्येक निष्पक्ष मनुष्य स्वीकार करेगा।

चन्द्रमा का आधुनिक परममन्दफल ६ अश १७ कला है, परन्तु मध्यम और स्पष्ट चन्द्रमा मे अन्तर उत्पन्न करनेवाले हेतु मन्दफल के अतिरिक्त अन्य भी हैं। उनके कारण कभी-कभी मध्यम और स्पष्ट चन्द्रमा मे ८ या ८½ अश का अन्तर पड जाता है। इसे लाने के लिए मध्यम चन्द्रमा मे लगभग ४० सस्कार करने पडते है। उनमे उपर्युक्त मन्दफलसस्कार बहुत बडा है। चार और बडे-बडे है। उनमे एक व्हेरिएशन (पाक्षिक अथवा तैथिक) नाम का है। उसका उपकरण है 'चन्द्रमा-स्पष्टरवि'। पूर्णिमा और अमावास्या के अन्त मे यह उपकरण ६ राशि और शून्य रहता है और वह सस्कार शून्य होता है (केरोपन्तीय ग्र० सा० को० पृष्ठ ११०)। चार मे से दूसरा सस्कार इव्हेक्शन (च्युति) नामक है। उसका उपकरण '२ (सस्कृतचन्द्र-स्पष्टरवि) —चन्द्रकेन्द्र' है। इसका प्रथम पद पूर्णिमा और अमावास्या के अन्त मे शून्य रहता है अर्थात् उस समय केवल '०—चन्द्रकेन्द्र' भाग ही शेष रह जाता है। यह उपकरण ३ या ९ राशि होने पर सस्कार महत्तम अर्थात् १ अश २० २ कला होता है, अत पूर्णिमान्त या अमान्त मे चन्द्रकेन्द्र ३ या ९ राशि पर होने पर इव्हेक्शन-सस्कार का उपकरण—

०–३ राशि = ९ राशि } और इव्हेक्शनसस्कार + १ अश २० कला
०–३ राशि = ३ राशि } − १ अश २० कला

होगा (ग्र० सा० को० पृष्ठ १०६) और उस समय

चन्द्रकेन्द्र ३ राशि रहने पर मन्दफलसस्कार—६ अश १७ कला और

चन्द्रकेन्द्र ९ राशि रहने पर मन्दफलसस्कार + ६ अश १७ कला होगा (ग्र० सा० को० पृष्ठ १०९)।

अर्थात् पूर्णिमान्त या अमान्त मे मन्दफलसस्कार और इव्हेक्शनसस्कार मिलकर

+१ अंश २० कला – ६ अश १७ कला = – ४ अश ५७ कला या

– १ अश २० कला + ६ अंश १७ कला = + ४ अश ५७ कला से अधिक नही होंगे।

उपर्युक्त चार सस्कारो मे से एक सस्कार जिसका मान ११ कला है, रवि मे दे दिया गया। इसे ऊपर लिख चुके है। चतुर्थ सस्कार का मान लगभग ७ कला है (केरोपन्तीय ग्र० सा० को० पृष्ठ १०५ और १११)। उपर्युक्त ४ अंश ५७ कला में इसे जोड देने से फल ५ अश ४ कला आता है। ४० मे से शेष ३५ सस्कार बहुत छोटे-छोटे है। हमारे सिद्धान्तो मे चन्द्रमा का परमफल ४।५६ से ५।६ पर्यन्त है, अत सिद्ध

हुआ कि वह बहुत सूक्ष्म है।[1] ग्रहण सूर्य और चन्द्रमा के फलो के सूक्ष्मत्व की परीक्षा करने का उत्तम साधन है और हमारे ज्योतिषियो ने चन्द्रमा और सूर्य के फलसस्कार ग्रहणो द्वारा ही निश्चित किये हैं।

सुधाकर ने लिखा है कि मुजाल ने चन्द्रमा मे च्युतिसस्कार सदृश एक सस्कार और पाक्षिक सस्कार तथा नित्यानन्द ने पाक्षिक और पातसस्कार बताये हैं।

टालमी के पहिले पञ्चग्रहस्पष्टीकरण कोई भी पाश्चात्य ज्योतिषी नही जानता था, हिपार्कस को भी उसका ज्ञान नही था[2] और टालमी के परमफल हमारे किसी भी ग्रन्थ से नही मिलते। इससे सिद्ध होता है कि हमारे ज्योतिषियो ने पञ्चग्रहो का स्पष्टीकरण स्वय किया है। रवि-चन्द्र तथा अन्य पाँच ग्रहो का स्पष्टीकरण ही ज्योतिष-गणित का महत्व का विषय है। इतना ही नही, यही ज्योतिषगणित का सर्वस्व है और हमने यह पाश्चात्यो से नही लिया है।

हमारे यहाँ फलसंस्कार इस "परिधि × ग्रहकेन्द्रभुजज्या — त्रिज्या" सारणी से लाते हैं। उच्च और ग्रह के अन्तर को केन्द्र कहते हैं। सूर्य और चन्द्रमा मे केवल मन्द-फल का ही सस्कार किया जाता है, परन्तु शेष ग्रहो मे मन्द और शीघ्र दो सस्कार देने पडते हैं और उसमे शीघ्रकर्ण का उपयोग करना पडता है।

भुजज्या और त्रिज्या

सिद्धान्तग्रन्थो मे ३$\frac{3}{4}$ अंशो का एक-एक खण्ड मानकर उनकी भुजज्याएँ दी रहती हैं। करणग्रन्थो मे सूक्ष्मता का अधिक विचार न रहने के कारण १०, १५ इत्यादि अशो का एक-एक खण्ड माना है। सिद्धान्तो मे भुजज्या लाने के लिए त्रिज्या प्राय ३४३८ मानी है पर ब्रह्मगुप्त ने ३२७० मानी है। सिद्धान्ततत्त्वविवेककार कमलाकर ने ६० त्रिज्या मानकर प्रत्येक अश की भुजज्या दी है। करणग्रन्थो मे प्राय १२० त्रिज्या रहती है। सुधाकर का कथन है कि मुजाल ने ८ अश ८ कला और चान्द्रमानकार गङ्गाधर ने १९१ मानी है। यन्त्रराज मे त्रिज्या ३६०० है और प्रत्येक अश की भुजज्या दी है। केरोपन्त ने (ग्र० सा० को० पृष्ठ ३१४ मे) लिखा है कि हिन्दू ज्योतिषियो की त्रिज्या ३४३८ बडी बेढब है। इससे गुणन-भजन मे बडा विस्तार होता है। उनका कथन कुछ अशो मे सत्य है, परन्तु हमारे ज्योतिषियो ने गुणन-भजन न बढने देने की युक्तियाँ की हैं और ३४३८ त्रिज्या कारणवशात् मानी है। कारण यह है कि वृत्तपरिधि मे २१६००

१. रविचन्द्र फल की यह उपपत्ति व्यंकटेश बापूजी केतकर ने सुझायी।

२. Grant's History of Ph. Astronomy, chap. XVIII.

कलाएँ होती हैं और तदनुसार व्यासार्ध ३४३८ आता है। व्यास और परिधि के अत्यन्त सूक्ष्म सम्बन्ध १ . ३ १४१५९२७ द्वारा २१६०० परिधि का व्यासार्ध ३४३७$\frac{3}{4}$ आता है। हमारे ग्रन्थकारो ने अत्यन्त स्वल्प अन्तर होने के कारण ३४३८ मान लिया है। इससे सिद्ध होता है कि हमारे ज्योतिषियो की त्रिज्या बहुत सूक्ष्म है।[1]

व्यास और परिधि की हमारे ग्रन्थो मे बतायी हुई भिन्न-भिन्न निष्पत्तियाँ नीचे लिखी हैं। उनसे ज्ञात होगा कि हमारे ग्रन्थकार उनका सूक्ष्म सम्बन्ध जानते थे। कही-कही स्थूल मान भी मिलते है, परन्तु उन्होने वे व्यवहार मे सुविधा होने के लिए दिये है।

सूर्यसिद्धान्त, ब्रह्मगुप्त, द्वितीय आर्यभट	१ √१० अर्थात् १ ३ १६२३
प्रथम आर्यभट	२०००० ६२८३२ अर्थात् १ ३ १४१६
द्वितीय आर्यभट, भास्कराचार्य[2]	७ २२ अर्थात् १ ३ १४२८
भास्कराचार्य	१२५० ३९२७ अर्थात् १ ३ १४१६
३४३८ त्रिज्या द्वारा	१ ३ १४१३६
आधुनिक यूरोपियन सूक्ष्ममान	१ ३ १४१५९२७

ब्रह्मगुप्त ने व्यासार्ध ३२७० माना है। इसका कारण वे बताते है—

> भगणकलाव्यासार्धं भवति कलाभिर्यतो न सकलाभि ।
> ज्यार्धानि न स्फुटानि तत कृत व्यासदलमन्यत् ।।१६।।
>
> गोलाध्याय

सूक्ष्म निष्पत्ति द्वारा २१६०० परिधि का व्यासार्ध पूर्ण ३४३८ नही आता और इस कारण ज्यार्ध सूक्ष्म नही होते, यह कथन तो ठीक है, परन्तु ब्रह्मगुप्त ने व्यास और परिधि की जो निष्पत्ति मानी है (१ √१०) उससे या किसी अन्य रीति द्वारा मुझे उनके व्यासार्ध ३२७० की सङ्गति लगती नही दिखाई देती।

भास्कराचार्य ने ज्यासाधन की भिन्न-भिन्न रीतियो और ज्योत्पित्ति का विवेचन

---

१. यूरोपियन गणक १० के दस घात या अन्य किसी घात तुल्य त्रिज्या मानते हैं। (उनके ग्रन्थों में उस त्रिज्या सम्बन्धी भुजज्यादि मान दिये रहते है, इससे गणित करने में बड़ी सुविधा होती है और बहुत बड़ी त्रिज्या रहने के कारण फल अत्यन्त सूक्ष्म आते है।)

२. द्वितीय आर्यभट और भास्कराचार्य ने ये निष्पत्तियां दो प्रकार बतायी है।

बहुत किया है। कमलाकर ने भी पर्याप्त विचार किया है। यहाँ उसका विस्तार करने की आवश्यकता नही है। हमारे ग्रन्थो की ज्योत्पत्ति के विषय मे प्लेफेअर नामक एक यूरोपियन विद्वान् (सन् १७८२) ने लिखा है (एशियाटिक रिसर्चेस पु० ४) कि "हिन्दू ज्योतिषियो की ज्यासाधन की रीतियो मे यह --तीन चापो मे से, जिनमे प्रथम और द्वितीय की निष्पत्ति द्वितीय और तृतीय की निष्पत्ति के बराबर है, आद्य और अन्त्य की भुजज्याओ का योग तथा मध्यवर्ती चाप की भुजज्या के दूने की निष्पत्ति आद्यन्त्य चापो के अन्तर की कोटिज्या और त्रिज्या की निष्पत्ति के तुल्य होती है-साध्य गर्भित है। यह साध्य यूरोपियन गणको को १७वी शताब्दी के आरम्भ तक ज्ञात था, इसका प्रमाण नही मिलता।" यह बात हमारे लिए भूषणास्पद है। ग्रीक केवल ज्याओ को ही जानते थे। ज्यार्धो का प्रयोग करना उन्हे नहीं मालूम था। अरब ज्योतिषियो को भी यह ईसा की नवी शताब्दी तक नही ज्ञात था। प्रथम आर्यभट के वर्णन मे लिख चुके हैं कि हमारे ज्योतिषियो को यह शक ४२१ से ही मालूम है। इतना अवश्य है कि स्पर्शरेखा, छेदनरेखा इत्यादि की कल्पना उन्हे नही हुई, पर केवल भुजज्याओ से निर्वाह हो जाता है।

स्पष्टाधिकार मे ग्रहो के वक्री, मार्गी, उदित और अस्त होने के समयो का विचार तथा कुछ अन्य फुटकर बाते भी रहती हैं, पर यहाँ उनका विस्तृत वर्णन करने की आवश्यकता नही है।

क्रान्ति

हमारे ग्रन्थो मे सूर्य की परमक्रान्ति २४ अश मानी है। क्रान्तिवृत्त का इतना तिर्यक्त्व शकपूर्व २४०० वर्ष के लगभग था। वह क्रमश न्यून होता जा रहा है। शक १८१८ के आरम्भ का उसका मान २३।२७।१० है अर्थात् सम्प्रति हमारे ग्रन्थो की क्रान्ति मे ३२′ ५०″ अशुद्धि है। शक ४०० के आसपास तिर्यक्त्व लगभग २३।३९ था। टालमी के ग्रन्थ मे (मिटाक्सिस भाग १) वह २३।५० और २३।५२।३० के मध्य मे है। प्रो० ह्विटने के लेख (बर्जेसकृत सूर्यसिद्धान्त का अनुवाद, पृष्ठ ५७) से ज्ञात होता है कि टालमी ने वह हिपार्कस के ग्रन्थ से लिया है। वह तिर्यकत्व हमारे ग्रन्थों से नही मिलता। इससे सिद्ध होता है कि हमारे ज्योतिषियो ने वह हिपार्कस या टालमी के ग्रन्थ से लिया है, बल्कि शक के पूर्व ही किसी समय स्वय निकाला है। यन्त्रराज मे क्रान्तिवृत्त का तिर्यक्त्व २३।३५ माना है (शक ९०० के लगभग वह वस्तुत उतना ही था भी), परन्तु उसके बाद अन्य किसी ग्रन्थकार ने उसे स्वीकार नही किया और न तो उसका मान स्वयं ही निकाला।

द्वितीय प्रकरण

पञ्चाङ्ग

पञ्चाङ्ग के पाँच अङ्गो का गणित स्पष्टाधिकार मे ही रहता है, इसलिए उनका विचार इसी अधिकार मे करेगे। शककाल, वर्षारम्भ, सवत्सर, पूर्णिमान्त-अमान्त मान इत्यादि कुछ बाते पञ्चाङ्ग की ही अङ्गभूत है। प्रथम उनका और उनके बाद पञ्चाङ्ग के पाँच अङ्ग, भिन्न-भिन्न प्रकार के पञ्चाङ्ग इत्यादि का विचार करेगे।

ज्योतिषगणित मे ग्रहस्थिति लाने के लिए कोई न कोई आरम्भकाल मानना आवश्यक होता है। सिद्धान्तग्रन्थो मे महायुगारम्भ अथवा किसी युग का आरम्भ, विशेषत कलियुगारम्भ और करणग्रन्थो मे शककाल का कोई वर्ष गणितारम्भकाल माना रहता है। दो एक ग्रन्थो मे शक के साथ साथ विक्रमसवत् भी दिया है। रामविनोदकरण मे शककाल और अकबरकाल तथा फत्तेशाहप्रकाश मे शककाल और फत्तेशाहकाल दो-दो दिये है। वार्षिकतन्त्र वस्तुत करणग्रन्थ है,परन्तु उसमे गणित कलियुगारम्भ से किया है और तदनुसार ग्रन्थकार ने उसको तन्त्र कहा है, फिर भी उसमे शककाल का सम्बन्ध आया है।

भिन्न-भिन्न कालों का विवेचन

हमारे पञ्चाङ्ग के आरम्भ में संवत्सर फल विचार मे युधिष्ठिर, विक्रम, शालिवाहन इत्यादि कलियुग के ६ शककर्ताओ के नाम लिखे रहते है। उनमें से युधिष्ठिरादि तीन बीत चुके है और तीन आगे होगे। शक शब्द वस्तुत एक जाति का बोधक है। भटोत्पल इत्यादिको ने लिखा है कि विक्रमादित्य द्वारा शको के पराजित होने के समय से शक नाम से कालगणना आरम्भ हुई, पर यह कथन सयुक्तिक नही प्रतीत होता। शक जाति के ही राजाओ ने अपने नाम पर कालगणना का आरम्भ किया होगा। शक शब्द प्रथम एक जाति का द्योतक था, परतु आज वह युधिष्ठिरशक, विक्रमशक इयादि शब्दो मे काल अर्थ का अर्थात् इगलिश के इरा (Era) और अरबी के सन् अर्थ का वाचक हो गया है। प्राचीन ताम्रपत्रादि लेखो मे सन् अर्थ मे सस्कृत के काल शब्द का प्रयोग मिलता है, जैसे—शकनृपकाल, विक्रमकाल, गुप्तकाल (गुप्त राजाओं के नाम पर आरम्भ किया हुआ काल)। इसलिए मैने अगले विवेचन मे सन् अर्थ मे काल शब्द का प्रयोग किया है। इस देश मे विक्रमकाल, शककाल इत्यादि अनेक काल प्रचलित थे और है। यहाँ उनका सक्षिप्त वर्णन करेगे।

गत और वर्तमान वर्ष

उनका वर्णन करने के पहिले गत और वर्तमान वर्ष के विषय मे थोडा लिख

देना आवश्यक है। ब्रह्मगुप्त के वर्णन मे उत्तरपुराण का एक श्लोक दिया है, उसमे उसका रचनाकाल शक ८२० लिखा है, परन्तु उसमे बतायी हुई ग्रहस्थिति शक ८२० मे नही, बल्कि आधुनिक पद्धति के शक ८१९ मे मिलती है, अत शंका होती है कि उस पुराण का रचनाकाल शक ८१९ है या ८२०। इस देशके अधिकाश प्रान्तो मे जिसे शक का १८१८वाँ वर्ष कहते है, उसीको तमिल, तेलगु, और मैसूरकी कनाडी लिपि मे छपे हुए कुछ पञ्चाङ्गो मे १८१९वाँ वर्ष लिखा है। इस भेद का कारण मुझे यह मालूम होता है कि सिद्धान्तग्रन्थो मे दिये हुए कलियुगारम्भकालीन ग्रह कलि के प्रथम वर्ष के आरम्भ के रहते है। कलि के ११वे वर्ष के आरम्भके ग्रह लाने हो तो गत १० वर्ष सम्बन्धी गति युगारम्भकालीन स्थिति मे जोडनी पडेगी। इस प्रकार के गणितो मे ११ के स्थान मे १० लेना पडता है। उपर्युक्त पुराणरचना सम्बन्धी शक ८१९ और ८२० की भी यही स्थिति होगी, अर्थात् शक ८१९ गत और ८२० वर्तमान होगा। ताम्र-पत्रादि लेखो मे इसके कुछ उदाहरण मिलते है। ऊपर बताया है कि शक के जिस वर्ष को इस प्रान्त मे १८१८वाँ कहते है उसीको कुछ मद्रासी पञ्चाङ्गो मे १८१९वाँ कहा है, पर पता नही, उधर के लोग गत और वर्तमान भेद को जानते है या नही। सम्प्रति तञ्जौर प्रान्त के अण्णा अय्यगर के बनाये हुए तमिल लिपि मे मुद्रित पञ्चाङ्ग मद्रास के तमिल प्रान्तो मे चलते है। कई वर्षो के वे पञ्चाङ्ग मेरे पास है। गत सर्वजित नामक सवत्सर के उस पञ्चाङ्ग मे शकवर्ष १८०९ लिखा है और उसी के आगे वाले सर्वधारी सवत्सर के पञ्चाङ्ग मे, जो कि उसी कर्ता का बनाया है, शक १८११ लिखा है। इन वर्षों को अन्य प्रान्तो मे क्रमश १८०९ और १८१० कहते है। इससे ज्ञात होता है कि पञ्चाङ्ग-कर्ता को ही गत और वर्तमान भेद का पता नही है। इस स्थिति मे सामान्य लोग उसे कैसे जान सकते है? पता लगाने पर मद्रास के सुप्रसिद्ध व्यक्ति नटेशशास्त्री तथा तञ्जौर प्रान्त के तिरुवादि नामक स्थान के निवासी प्रसिद्ध विद्वान् सुन्दरेश्वर श्रौती और व्यकटे-श्वर दीक्षित के भेजे हुए पत्रो से ज्ञात हुआ कि ऊपर जिसे वर्तमान वर्ष कहा है उसका प्रचार सम्प्रति उस प्रान्त मे बिल्कुल नही है, अत यह भी कहा जा सकता है कि गत और वर्तमान भेद वास्तविक नही बल्कि कल्पित है और इसकी कल्पना एक ही वर्ष मे किसी समय प्रमाद से दो अक लगा दिये जाने के कारण हुई है। यदि यह भेद सत्य हे तो इसकी सम्भावना केवल दो ही कालो, कलिकाल और शककाल, मे हो सकती है। क्योकि ज्योतिषगणित ग्रन्थो मे इन्ही का प्रयोग मिलता है। कलिवर्ष मे यह भेद स्पष्ट-तया लागू होता है। विक्रम इत्यादि कालो का प्रचार ज्योतिषगणित मे नही है, अत उनमे यह भेद होने का कोई हेतु नही दिखाई देता। कभी-कभी विक्रम के भी एक ही वर्ष में दो अको का प्रयोग मिलता है, परन्तु वह भ्रम से किया गया होगा। अनेक दृष्टियो

से विचार करके मैने अपना मत यह निश्चित किया है कि वर्तमान और गत भेद वास्तविक नही है सभी वर्ष वर्तमान ही है। आगे भिन्न-भिन्न कालो के वर्षो का अङ्क देकर तुलना की है, उसमे वर्ष का अङ्क लिखने मे मैने भारत की वर्तमान प्रचलित पद्धति का ही अनुसरण किया है। कही-कही गत और वर्तमान सज्ञाओ का भी प्रयोग किया है, पर वहा ऐसा नही किया है जहाँ एक ही वर्ष मे दो अको का सम्बन्ध आया है। अब भिन्न-भिन्न कालो का विचार करेगे।

कलिकाल—ज्योतिषग्रन्थो और पञ्चाङ्गो मे कालगणना मे कलियुग का भी उपयोग करते है। इस काल के चैत्रादि और मेषादि दो वर्ष प्रचलित है। पञ्चाङ्गो में कभी इसका गत वर्ष, कभी वर्तमान वर्ष और कभी-कभी दोनो लिखते है। ताम्रपत्रादि लेखो मे इसका अधिक प्रयोग नही मिलता। व्यवहार मे भी इस समय इसका प्रचार कही नही है, परन्तु मद्रास प्रान्त मे कुछ ऐसे पञ्चाङ्ग मिलते है जिनमे केवल कलिवर्ष लिखा रहता है। शक मे ३१७९ जोड़ने से गत कलिवर्ष आता है।[1]

सप्तर्षिकाल—सम्प्रति यह काल कश्मीर मे और उसके आसपास प्रचलित है। मालूम होता है बेरुनी के समय (शक ९५२) यह कश्मीर, मुलातान और कुछ अन्य प्रान्तो मे भी प्रचलित था। राजतरङ्गिणी मे सम्पूर्ण इतिहास इसी काल के वर्षो मे लिखा है। इसे लौकिककाल या शास्त्रकाल भी कहते है। सप्तर्षियो मे गति है, वे १०० वर्ष मे एक नक्षत्र चलते है और २७०० वर्षो मे भचक्र की पूरी प्रदक्षिणा करते है, इस कल्पना के आधार पर इस काल गणना का प्रचार हुआ है। इसी कारण इसमे २७०० वर्षो का एक चक्र माना जाता है, परन्तु प्रचलित पद्धति मे शताब्दी का अक प्राय छोड देते है अर्थात् १०० वर्ष पूर्ण हो जाने पर फिर प्रथम वर्ष से गणना करते है। कश्मीर के ज्योतिषियो के मतानुसार वर्तमान कलिवर्ष २७ चैत्र शुक्ल १ को सप्तर्षिकाल आरम्भ हुआ है। शताब्दियाँ छोड दे तो सप्तर्षिवर्ष मे ४६ जोडने से वर्तमान पद्धति का शकवर्ष और २४–२५ जोडने से ईसवी सन् आता है। सप्तर्षिवर्ष चैत्रादि है। डाक्टर कीलहार्न को पता लगा है[2] कि इसका वर्ष वर्तमान और मास पूर्णिमान्त है।[3]

विक्रमकाल—सम्प्रति यह गुजरात मे और बङ्गाल को छोड सम्पूर्ण उत्तर भारत मे

---

१. जगनलाल गुप्त ने इस विषय में 'संसार के संवत्' नाम का एक बडा अच्छा ग्रन्थ लिखा है। वह विकम संवत् १९८१ में छपा है। (अनुवादक)

२. Indian Antiquary, XX, p. 149 ff

३. पूर्णिमान्त और अमान्त पद्धतियों का विवेचन आगे किया है।

प्रचलित है। उन प्रान्तो के लोग अन्यत्र भी जहाँ है, इसी का प्रयोग करते है। नर्मदा के उत्तर इसके वर्ष का आरम्भ चैत्र से होता है और मास पूर्णिमान्त है, परन्तु गुजरात मे वर्ष कार्तिकादि है और मास अमान्त है। प्रोफेसर कीलहार्न ने विक्रम सवत् ८९८ से १८७७ तक के १५० प्राचीन लेखो के आधार पर निम्नलिखित तीन अनुमान किये है।[1]

(१) सामान्यत इस काल का गतवर्ष प्रचलित है पर कही-कही वर्तमान वर्ष का भी प्रचार है।[2]

(२) विक्रमवर्ष आरम्भ मे कार्तिकादि था, परन्तु मालूम होता है शकवर्ष के साहचर्य के कारण नर्मदा के उत्तर भाग मे वह धीरे-धीरे चैत्रादि हो गया। इस काल की १४वी शताब्दी तक तो एक ही प्रान्त मे कार्तिकादि और चैत्रादि दोनो वर्ष प्रचलित थे, पर कार्तिकादि का अधिक प्रचार था।

(३) कार्तिकादि वर्ष के मास अमान्त और पूर्णिमान्त दोनो और चैत्रादि वर्ष के प्राय. पूर्णिमान्त ही पाये जाते है, परन्तु यह नही कहा जा सकता कि इसका कोई एक निश्चित नियम था।

सन् ४५० ई० से ८५० पर्यन्त इस काल को मालवकाल कहते थे। विक्रमशब्द का प्रयोग सर्वप्रथम विक्रम सवत् ८९८ के एक लेख मे मिलता है, पर उससे भी यह स्पष्ट नही ज्ञात होता कि वह विक्रम राजा के ही उद्देश्य से किया गया है। वैसा स्पष्ट उल्लेख विक्रम सवत् १०५० के एक काव्य मे सर्वप्रथम मिलता है। सम्प्रति विक्रमकाल को विक्रमसवत् अथवा केवल सवत् भी कहते है। सवत् शब्द वस्तुत सवत्सर का अपभ्रश है। शकसवत् सिहसवत्, वलभीसवत् इत्यादि प्रयोग अनेक स्थानो में मिलते है। मद्रास प्रान्त के कुछ पञ्चाङ्गो मे शकवर्ष के साथ-साथ विक्रम का भी वर्तमान-वर्ष लिखा रहता है। इधर जिस वर्ष को शक १८१८ कहते है, उसे वहाँ शक १८१९ और विक्रम सवत् १९५४ कहते है। शक मे १३४–१३५ जोडने से कार्तिकादि और १३५ जोडने से चैत्रादि विक्रम वर्ष आता है।

खिस्ती सन (ईसवी सन्)—हमारे देश मे इस सन् का प्रचार अगरेजो का राज्य होने के बाद हुआ है। इसका वर्ष सायन सौर है। उसका आरम्भ जनवरी की पहली तारीख से होता है। सम्प्रति जनवरी का आरम्भ अमान्त पौष या माघ में होता है। यह पद्धति सन् १७५२ ई० से चली है। उसके पूर्व जनवरी का आरम्भ ११ दिन पहले होता था। शक मे ७८ या ७९ जोडने से खिस्ती वर्ष आता है।

---

१. Indian Antiquary, XX, p 398 ff.

२. गत और वर्तमान वर्ष का उपर्युक्त विवेचन देखिए।

शककाल—ज्योतिष करणग्रन्थो मे यही काल लिया गया है। ज्योतिषियो का आश्रय प्राप्त होने के कारण ही यह आज तक टिका है, अन्यथा गुप्तकाल, शिवाजी के राज्याभिषेक शक इत्यादिको की भाँति यह भी बहुत पहिले ही लुप्त हो गया होता। सम्प्रति टिनेवल्ली और मलावार के कुछ भाग को छोडकर सम्पूर्ण दक्षिण भारत मे व्यवहार मे मुख्यत इसी काल का प्रचार है। भारत के अन्य भागो मे भी यह स्थानिक काल के साथ-साथ प्रचलित है। इसका वर्ष चान्द्र और सौर है। तमिल और बङ्गाल प्रान्त मे सौरवर्ष और अन्य प्रान्तो मे इसका चान्द्रवर्ष प्रचलित है। चान्द्र वर्ष चैत्रादि और सौर वर्ष मेषादि है। नर्मदा के उत्तर भाग मे इसके मास पूर्णिमान्त और दक्षिण मे अमान्त हैं।

चेदिकाल अथवा कलचुरिकाल—यह काल सम्प्रति प्रचलित नही है। चेदिवर्ष ७९३ से ९३४ तक के १० ताम्रपत्रादि लेखो के आधार पर प्रोफेसर कीलहार्न ने अनुमान किया है कि चैत्रादि विक्रमसवत् ३०५ (शकसवत् १७०, सन् २४८–४९ ई०) आश्विन शुक्ल प्रतिपदा को चेदिकाल आरम्भ हुआ, उसका वर्ष आश्विनादि है, वह वर्तमान है और उसके मास पूर्णिमान्त हैं। चेदिवर्ष मे १६९–७० जोडने से शकवर्ष और २४७–४८ जोडने से ईसवी सन् आता है। पश्चिम भारत और मध्य भारत के कलचुरी राजा इस काल का उपयोग करते थे। सम्भवत उनके पहिले भी उन भागो मे यह प्रचलित रहा होगा। मेरा अनुमान है कि पूर्णिमान्त आश्विन कृष्ण १ अर्थात् अमान्त भाद्रपद कृष्ण १ चेदिवर्ष का आरम्भकाल होगा।

गुप्तकाल—सम्प्रति यह प्रचलित नही है। डाक्टर फ्लीट ने इसका विस्तृत विवेचन किया है।[1] गुप्तवर्ष १६३ से ३८६ तक के ताम्रपत्रादि लेखो के आधार पर उन्होने अनुमान किया है कि इसका वर्ष वर्तमान है, उसका आरम्भ चैत्र से होता है और मास पूर्णिमान्त हैं। शकवर्ष २४२ चैत्र शुक्ल प्रतिपदा गुप्तकाल का आरम्भकाल है। गुप्तवर्ष मे २४१ जोडने से शकवर्ष और ३१९-२० जोडने से ईसवी सन् आता है मध्यभारत और नेपाल मे यह काल प्रचलित था। गुप्तोपनामक राजा इसका उपयोग करते थे।

वलभीकाल—गुप्तकाल को ही बाद मे वलभीकाल कहने लगे थे। उसकी चतुर्थ शताब्दी मे वह काठियावाड मे प्रचलित हुआ,। उस समय उसके वर्ष का आरम्भ चैत्र मे होता था, पर बाद मे उस चैत्र के पूर्ववर्ती कार्तिक की शुक्ल प्रतिपदा को अर्थात्

---

१. Corpus Inscrip. Ind. vol. iii. Gupta Inscriptions, Indian Antiquary vol. xx, p. 376 ff.

पाँच मास पीछे होने लगा। उसका वर्ष वर्तमान है और कार्तिकादि है। मास पूर्णिमान्त और अमान्त दोनो है। वलभीवर्ष मे २४०–२४१ जोड़ने से शकवर्ष और ३१८–१९ जोडने से ईसवी सन् आता है। गुप्तसवत् अथवा वलभीसवत् ८२ से ९४५ तक के ताम्रपत्रादि लेख मिले है।

हिजरी सन्—इसकी उत्पत्ति अरब मे हुई है। हमारे देश मे इसका प्रचार मुसलमानी राज्यकाल से हुआ है। हिज्रर का अर्थ है भागना। मुसलमानो के पैगम्बर मुहम्मद साहब १५ जुलाई सन् ६२२ ई० तदनुसार शक ५४४ श्रावण शुक्ल १ गुरुवार की रात्रि (मुसलमानो की शुक्रवार की रात) को मक्का से भागकर मदीना गये थे। उनके भागने का समय ही इस सन् का आरम्भकाल है और इसी लिए इसे हिजरी सन् कहते है। इसके मोहर्रम इत्यादि मास चान्द्र है। अधिकमास लेने की पद्धति न होने के कारण यह वर्ष केवल चान्द्र अर्थात् ३५४ या ३५५ दिनो का होता है और इस कारण प्रति ३२ या ३३ सौर वर्षो मे इस सन् के वर्ष का अक किसी भी सौरकाल के वर्ष के अक की अपेक्षा १ बढ जाता है। मास का आरम्भ शुक्लपक्ष की प्रतिपदा या द्वितीया के चन्द्रदर्शन के बाद होता है। मास के दिनो को प्रथम दिन, द्वितीय दिन न कहकर प्रथमचन्द्र, द्वितीयचन्द्र इत्यादि कहते है। मास मे इस प्रकार के चन्द्र (तिथियाँ) २९ या ३० होते है। वार और तारीख का आरम्भ सूर्यास्त से होता है। इस कारण हमारे गुरुवार की रात्रि मुसलमानी पद्धति के अनुसार शुक्रवार की रात्रि होती है, पर दिन के नाम मे अन्तर नही पडता।

बङ्गाली सन्—यह सन् बङ्गाल मे प्रचलित है। इसका वर्ष सौर है। इसका आरम्भ मेषसक्रान्ति से होता है। महीनो के नाम चैत्र, वैशाख इत्यादि चान्द्र ही है। जिस महीने का आरम्भ मेषसक्रान्ति से होता है उसे वैशाख कहते है (तमिल प्रान्त मे उसी को चैत्र कहते है)। बङ्गाली सन् मे ५१५ जोडने से शकवर्ष और ५९३–९४ जोडने से ईसवी सन् आता है।

बिलायती सन्—यह सन् बङ्गाल के कुछ भाग मे और मुख्यत उडीसा प्रान्त मे प्रचलित है। इसका वर्ष सौर है, परन्तु महीनो के नाम चान्द्र ही है। वर्ष का आरम्भ कन्या सक्रान्ति के दिन होता है। बङ्गाल मे मास का आरम्भ सक्रान्ति के दूसरे या तीसरे दिन करते है, परन्तु बिलायती सन् के मास का आरम्भ सक्रान्ति के दिन ही होता है।[1]

---

१. वारन ने लिखा है कि बिलायती सन् के वर्ष का आरम्भ चैत्र कृष्ण १ को होता है। (काल संकलित, Tables p. 1x सन् १८२५ ई०) यह पद्धति भी कहीं प्रचलित होगी।

बिलायती सन् के वर्ष मे ५१४–१५ जोडने से शकवर्ष और ५९२–९३ जोडने से ईसवी सन् आता है।

अमली सन्—गिरीशचन्द्र के Chron logical Tables नामक ग्रन्थ मे लिखा है कि अमली सन् का वर्ष ओडिसा प्रान्त के राजा इन्द्रद्युम्न की जन्मतिथि भाद्रपद शुक्ल १२ से और उसका मास संक्रान्तिकाल से आरम्भ होता है। इससे ज्ञात होता है कि इसके मास सौर है परन्तु वर्ष चान्द्र है । इसके मास भी चान्द्र हो सकते है। बिलायती सन् और अमली सन् के वर्षांक समान होते है।

फसली सन्—फसल तैयार होने के काल के अनुसार इसे अकबर बादशाह ने चलाया है। पहिले हिजरी सन् का ही वर्षांक इसमे लगाया गया, परन्तु हिजरी सन् केवल चान्द्र (३५४ दिन का) और फसली सन् सौर होने के कारण बाद मे दोनो के वर्षांको मे अन्तर पडने लगा। हिजरीसन् ९६३, ईसवीसन् १५५६ मे अकबर गद्दी पर बैठा। उत्तर भारत मे फसली सन् उसी समय आरम्भ हुआ और दक्षिण मे शाहजहाँ ने उसे ईसवी सन् १६३६ अर्थात् हिजरीसन् १०४६ मे आरम्भ किया। प्रथम उसमे हिजरीसन् का ही वर्षांक अर्थात् १०४६ लगाया गया। उस समय उत्तर के फसली-सन् का वर्षांक १०४४ था। इसलिए दक्षिण का अक उत्तर की अपेक्षा दो अधिक हो गया। हिजरी वर्ष के केवल चान्द्र होने के कारण ऐसा हुआ। उत्तर और दक्षिण का वर्षारम्भ भिन्न होने के कारण दोनो मे कुछ और महीनो का भी अन्तर पड गया। इस वर्ष का उपयोग केवल सरकारी कामो मे होता है। धार्मिक कृत्यो से इसका कोई सम्बन्ध नही है। मालूम होता है इसी कारण इसका आरम्भकाल अनियमित हो गया। मद्रास प्रान्त मे प्रथम इस वर्ष का आरम्भ आडी (कर्क) मास के प्रथम दिन होता था अगरेज सरकार ने सन् १८०० ई० मे इसका आरम्भकाल जुलाई की १३वी तारीख और बाद मे सन् १८५५ ई० मे जुलाई की पहिली तारीख निश्चित किया। बम्बई हाते के कुछ भागो मे जिस दिन सूर्य मृगशिरा नक्षत्र मे प्रवेश करता है (सम्प्रति जून की ५, ६ या ७वी तारीख) उसे फसली वर्ष का आरम्भ दिन मानते है, अर्थात् वह सौर वर्ष है परन्तु उसके मोहर्रम इत्यादि मास चान्द्र है। उत्तर भारत मे प्राय सर्वत्र पूर्णिमान्त आश्विन की कृष्ण प्रतिपदा को फसली वर्ष का आरम्भ मानते है अर्थात् वहाँ यह वर्ष चान्द्रसौर है। बङ्गाल मे फसली सन् के १३००वे वर्ष का आरम्भ सन् १८९२ ई० के सितम्बर मे और दक्षिण मे १३००वे वर्ष का आरम्भ सन् १८९० ई० के जून या जुलाई मे हुआ। दक्षिण के फसली सन् के वर्ष मे ५१२–१३ जोडने से शकवर्ष और ५९०–९१ जोड़ने से ईसवी सन् आता है। बङ्गाल के फसली वर्ष में ५१४–१५ जोडने से शकवर्ष और ५९२–९३ जोडने से ईसवी सन् आता है। बङ्गाल के फसली, बिलायती

और अमली, तीनो सनो का वर्षांक एक ही रहता है। उनमे वर्ष मे अधिक से अधिक १८ दिन तक ही अन्तर रहता है। बगाली सन् इन तीनो से लगभग ६, ७ मास ही छोटा है। वस्तुत बगाली, बिलायती अमली और बगाली-फसली, इन सबो का मूल फसली सन् ही है। बाद मे इनके आरम्भकाल मे थोडा-थोडा अन्तर पड गया।

सूरसन् या शाहूरसन्—इसे कभी-कभी अरबी सन् भी कहते है। यह सन् १३४४ ई० अर्थात हिजरी सन् ७४५ मे आरम्भ हुआ और प्रथम इसमे हिजरीसन् का वर्षांक ७४५ ही लगाया गया। दक्षिण मे फसली सन् हिजरी सन् १०४६ मे अर्थात् सूरसन् के २९२ वर्ष बाद आरम्भ हुआ। उस समय सूरसन १०३७ था। इस कारण सूरसन और दक्षिणफसली सन् मे ९ का अन्तर पड गया। मरहठो के राज्यकाल मे सूरसन का बडा प्रचार था। यह बम्बई के फसली सन् से ९ वर्ष छोटा है परन्तु अन्य बातो मे दोनो बिलकुल समान है । इसके वर्ष का आरम्भ उस दिन होता है जिस दिन सूर्य मृग-शिरा नक्षत्र मे प्रवेश करता है अर्थात् इसका वर्ष सौर है परन्तु इसके मोहर्रम इत्यादि मास चान्द्र है। सूरसन् के वर्ष मे ५२१-२२ जोडने से शकवर्ष और ५९९-६०० जोडने से ईसवी सन् आता है—

बगाली, बिलायती और अमली सन् उत्तर के फसली सन् के विशिष्ट भेद है और उत्तर का फसली, दक्षिण का फसली तथा सूरसन्, ये हिजरी सन् के विशिष्ट प्रकार है।

हर्षकाल—इसे कन्नौज के राजा हर्षवर्धन ने चलाया था । बेरुनी के समय यह मथुरा और कन्नौज प्रान्तो मे प्रचलित था । इस समय इसका प्रचार नही है। इस काल की प्रथम और द्वितीय शताब्दी के १०-१२ ताम्रपत्रादि लेख नेपाल मे मिले है। उनमे वर्षांक के पीछे केवल सवत् शब्द लिखा है। हर्ष सवत् मे ५२८ जोडने से शक और ६०६-६०७ जोडने से ईसवी सन् आता है।

मगी सन्—यह सन् चटगॉव प्रान्त मे प्रचलित है। यह बगाली सन् से ४५ वर्ष छोटा है । दोनो की शेष सभी बाते समान है।[१]

कोल्लमकाल अथवा परशुरामकाल—इसके वर्ष को कोल्लम आण्डु कहते है । कोल्लम का अर्थ है पश्चिमी और आण्डु वर्ष को कहते है। यह काल मलाबार प्रान्त मे मगलोर से कुमारी पर्यन्त और तिनेवल्ली जिले मे प्रचलित है। इसका वर्ष सौर है। मलाबार के उत्तर भाग मे कन्नी (कन्या) मास से और दक्षिणी भाग मे तथा तिने-वल्ली प्रान्त मे चिगम (सिंह) मास से इसका वर्ष आरम्भ होता है। मलाबार प्रान्त मे इसके मासो के नाम मेष, वृष इत्यादि राशियो के अपभ्रश है । लोग कहते है कि

१. Chronological Tables for A D 1764-1900 by Girish Chandra.

१००० वर्ष का इसका एक चक्र होता है और वर्तमान चक्र चतुर्थ है, परन्तु सम्प्रति प्रचलित इसका वर्षांक १००० से अधिक हैं। शक १८१८ के आरम्भ मे कोल्लमवर्ष १०७२ है। शक ७४७ में प्रथम कोल्लमवर्ष था। इसके पूर्व कोल्लमकाल के प्रचलित होने का कोई प्रमाण नही मिलता। कोल्लमवर्ष मे ७४६-४७ जोडने से शकवर्ष और ८२४-२५ जोडने से ईसवी सन् आता है।

नेवारकाल—यह नेपाल मे शक १६९० पर्यन्त प्रचलित था। इसका वर्ष कार्तिकादि है और मास अमान्त हैं। सस्कृत ग्रन्थो मे और ताम्रपत्रादि लेखो मे इसे नेपालकाल कहा है। इसके वर्ष मे ८००-८०१ जोडने से शकवर्ष, ८७८-७९ जोडने से ईसवी सन् और ९३५ जोडने से कार्तिकादि विक्रम सवत् आता है।

चालुक्यकाल—इसे चालुक्य राजा विक्रमादित्य ने शक ९९८ के आसपास आरम्भ किया। विजय कलचुरी ने शक १०८४ मे पूर्व के चालुक्य राजाओ को पराजित किया। मालूम होता है उसी समय से इसका प्रचार बन्द हो गया। इसके मास और पक्ष की पद्धति महाराष्ट्र की पद्धति सरीखी है। इसके वर्षारम्भकाल का ठीक पता नही लगा है। चालुक्य वर्ष मे ९९७-९८ जोडने से शकवर्ष और १०७५-७६ जोडने से ईसवी सन् आता है।

सिंहसंवत्—यह काठियावाड और गुजरात मे प्रचलित था। सिहसवत् ३२, ९३, ९६, ५१ के लेख मिले है।[1] उनसे मुझे अनुमान होता है कि उसका वर्ष चान्द्र-सौर और वर्षांक वर्तमान है। मास अमान्त है (केवल एक उदाहरण मे पूर्णिमान्त है)। वर्ष प्राय आषाढादि है। यह निश्चित है कि चैत्रादि अथवा कार्तिकादि नही है। सिहसवत् मे १०३५-३६ जोडने से शकवर्ष, १११३-१४ जोडने से ईसवी सन् और ११७० जोडने से आषाढादि विक्रमसवत् आता है।

लक्ष्मणसेनकाल—यह काल तिरहुत और मिथिला प्रान्तों मे विक्रमकाल या शककाल के साथ-साथ चलता है। इसके आरम्भकाल के विषय मे मतभेद है। कोलब्रूक (सन् १७९६ ई०) का कथन है कि सन् ११०५ ई० मे इसका प्रथम वर्ष था। बुकनन (सन् १८१० ई०) ने लिखा है कि इसका प्रथम वर्ष सन् ११०५ या ११०६ ईसवी मे था। ईसवी सन् १७७६ से १८८० तक के तिरहुत प्रान्त के पञ्चाङ्गो को देखने से ज्ञात होता है कि प्रथम वर्ष ईसवी सन् ११०८ या ११०९ में था। बुकनन ने लिखा है कि इसका वर्ष अषाढी पूर्णिमा के दूसरे दिन अर्थात् श्रावण कृष्ण प्रतिपदा को आरम्भ होता है परन्तु राजेन्द्रलाल मित्र (सन् १८७८ ई०) और जनरल कनिंघम लिखते हैं कि वह

---

१. Indian Antiquary Vol, XVIII, XIX.

(पूर्णिमान्त) माघ कृष्ण प्रतिपदा को आरम्भ होता है।[1] डाक्टर कीलहार्न ने ईसवी सन् ११९४ से १५५१ तक के ६ लेखो के आधार पर अनुमान किया है[2] कि इस काल का वर्ष कार्तिकादि है, मास अमान्त है और इसका प्रथम वर्ष शक १०४०-४१ मे था। यह अनुमान अकबरनामा नामक ग्रन्थ के अबुलफजल के लेख से मिलता है। इस प्रकार इस काल के वर्ष मे १०४०-४१ जोडने से शकवर्ष, १११८-१९ जोडने से ईसवीसन् और ११७५ जोडने से कार्तिकादि विक्रमसवत् आता है।

इलाही सन्—इसे अकबर बादशाह ने चलाया है । इसे अकबरी सन् भी कहते है। हिजरी सन् ९६३ के रबीउस्सानी मास की तारीख २ शुक्रवार (१४ फरवरी सन् १५५६, शक १४४७) को अकबर गद्दी पर बैठा। यही वर्ष इस सन् का प्रथम वर्ष माना गया।[3] अकबर और जहाँगीर के सम्बन्ध मे इस सन् का उल्लेख अनेक स्थानो मे है। शाहजहाँ के समय इसका प्रचार मन्द पड गया। इसका वर्ष सौर है अबुल-फजल ने लिखा है कि "इस सन् के दिन और मास नैसर्गिक सौर (सावन) हैं। मास मे दिनो की क्षयवृद्धि नही होती। मास और दिनो के नाम प्राचीन पारसी है। मास मे २९ या ३० दिन होते है। प्रत्येक के भिन्न-भिन्न नाम है। सप्ताह नही हैं। कुछ मासो मे ३२ दिन होते हैं।"[4] यहाँ मास मे २९ या ३० दिन बताये है, परन्तु प्राचीन पारसी पञ्चाङ्गो मे प्रत्येक महीने मे ३० दिन रहते थे। पारसी महीनो के फरवर-दिन इत्यादि जो नाम सम्प्रति पञ्चाङ्गो मे रहते है वे ही इस सन् के महीनो के भी है।

---

१. यहाँ तक इस काल का वर्णन कनिंघम के Indian Eras के आधार पर किया गया है।

२ Indian Antiquary, XIX P. 7 ff

३. अबुलफजल के लिखे हुए अकबरी ५२ वर्षों के आरम्भदिन कनिंघम ने लिखे है (Indian Eras p 225.)। उनमें प्रथम वर्ष का आरम्भ दिन रबीउल आखिर की २७वीं तारीख (१० मार्च मंगलवार) है और आगे सब वर्षों के आरम्भदिन पुरानी पद्धति के अनुसार १० मार्च के लगभग अर्थात् सायन मेष संक्रान्ति के समय है। अतः प्रचलित मान के अनुसार २१ मार्च के लगभग अकबरी वर्ष का आरम्भ दिन आता है। अकबर रबीउल आखिर की दूसरी तारीख को गद्दी पर बैठा था तथापि जान-बूझ कर २५ दिन बाद सन् का आरम्भ माना गया। इससे ज्ञात होता है कि अकबर का उद्देश्य विषुवदिन में (सायन मेष में) जब कि दिन और रात्रि के मान समान होते हैं, वर्षारम्भ मानना था।

४. Prinsep's Indian Antiquities, II, Useful tables, p. 171.

इलाही सन् के वर्ष मे १४७६-७७ जोडने से शकवर्ष और १५५५-५६ जोडने से ईसवी सन् आता है।

राजशक अथवा राज्याभिषेक शक—मराठा राज्य के सस्थापक शिवाजी ने यह शक चलाया था। शिवाजी का राज्याभिषेकदिन अर्थात् ज्येष्ठ शुक्ल १३ शक १५९६ आनन्द सवत्सर इसका आरम्भकाल है। इसका वर्ष इसी तिथि को बदलता है। इसकी शेष बाते दक्षिण के चान्द्रसौर अमान्त शकवर्ष सदृश ही है। इस काल के वर्ष मे १५९५-९६ जोडने से शकवर्ष और १६७३-७४ जोडने से ईसवी सन् का वर्ष आता है।[1]

प्रचलित और लुप्त सब कालो के वर्षांको का अन्तर जानने मे सुविधा होने के लिए निम्नलिखित कोष्ठक मे वे एकत्र लिखे है। इसमे कलिवर्ष के गत और वर्तमान दोनो अक लिखे है। शेष कालो मे वर्षाक मे वस्तुत गत और वर्तमान भेद नही है। सम्प्रति हमारे देश मे प्राय जो वर्षांक प्रचलित है उन्हे वर्तमान मानकर इस कोष्ठक मे अनेक अंक दिये है। कालो के नाम के नीचे उनके वर्षारम्भकालीन मास या दिन भी दिये है। उनमे चान्द्रमास अमान्त है।

कलि	सप्तर्षि	विक्रम		ईसवी	शक
चैत्र, मेष गत ४९७९ वर्त ४९८०	चैत्र ४९५४	चैत्र १९३५	आषाढ कार्तिक १९३४	जनवरी १८७८	चैत्र, मेष १८००
चेदि	गुप्तवलभी	गुप्त	हिजरी	फसली दक्षिणी	फसली बगाली
भाद्रकृष्ण १ १६३०	कार्तिक १५५९	चैत्र १५५६	मोहर्रम १२९५	मृग, जुलाई १२८७	भाद्रकृष्ण १ १२८५
बिलायती	अमली	बगाली	अरबी, सूर	हर्ष	मगी
कन्या १२८५	भाद्रशुक्ल १२ १२८५	मेष १२८५	मृग १२७८	१२७२	मेष १२४०
कोलम	नेवार, नेपाल	चालुक्य	सिह / लक्ष्मण	इलाही अकबरी	शिवाजी राजशक
सिह कन्या १०५३	कार्तिक ९९९	८०२	आषाढ ७६४ / कार्तिक ७५९	सायनमेष ३२३	ज्येष्ठशुक्ल १३ २०४

१. ऊपर एक (छोटे) काल के वर्षांक में कुछ जोड़कर जो दूसरे (बड़े) काल के

इस कोष्ठक मे शक १८०० चैत्र शुक्ल ११ शनिवार, १३ अप्रैल सन् १८७८ के प्रत्येक काल के वर्षांक दिये है। उस दिन चान्द्रसौर मान से बहुधान्य (१२ वाँ) और बार्हस्पत्य मान से विकृति (२४वाँ) सवत्सर था। मेषसक्रान्ति उसके कुछ ही पूर्व अर्थात् चैत्र शुक्ल ९ गुरुवार की मध्यरात्रि के लगभग १० घटी बाद हुई थी। सौरमान का कलिवर्ष और शकवर्ष कही कही उसी दिन, कुछ स्थानो मे उसके दूसरे दिन और कही कही उसके तीसरे दिन अर्थात् चैत्रशुक्ल ११ शनिवार को आरम्भ हो गया था। चान्द्रमान के अनुसार तिथि सर्वत्र चैत्रशुक्ल ११ ही थी। उस दिन बगाल मे सौरमान से शक और बगाली सनो के सौर वैशाख (मेष) का प्रथम दिन और फसली चैत्र का २६ वाँ दिन था। ओडिसा प्रान्त मे बिलायती और अमली सनो के सौर वैशाख का तीसरा दिन था। तमिल (द्रविड) देश मे सौर चैत्र (मेष) का दूसरा दिन और उत्तर, दक्षिण मलावार मे कोलम (परशुराम) वर्ष के मेष मास का दूसरा दिन था। हिजरी सन् तथा हमारे (महाराष्ट्र) प्रान्त के फसली और सूर सन् के रबीउस्सानी का ९वाँ चन्द्रमा था।

चान्द्रसौर मान

अब यहाँ चान्द्र और सौर वर्षो के प्रचार का थोडा सा विवेचन करेगे । हमारे यहाँ कई मान प्रचलित है। धर्मशास्त्रोक्त अधिकाश कृत्यो का सम्बन्ध तिथि से अर्थात् चान्द्रमान से है, कुछ कर्म सक्रान्ति से अर्थात् सौरमान से सम्बन्ध रखते है और प्रभवादि सवत्सरो की उत्पत्ति बार्हस्पत्य मान से हुई है तथापि कुछ प्रान्तो मे सौर मान

वर्षाङ्क लाये गये है उनमे कहीं-कहीं दो अंक दिये है। उनके विषय में यह नियम ध्यान मे रखना चाहिए—

जहाँ अभीष्ट दिन छोटे काल के वर्षारम्भ दिन के बाद और बड़े काल के वर्षारम्भ दिन के पूर्व हो वहाँ प्रथम अंक और इससे भिन्न स्थिति में द्वितीय अंक जोड़े। उदाहरण—

(१) श्रावण शुक्ल १ शक १८०१ श्रावण शुक्ल १ कार्तिकादि विक्रम संवत् १९३५, आषाढ़ादि विक्रम संवत् १९३६, सन् १८७९ ई०।

(२) माघ शुक्ल १ शक १८०१ माघ शुक्ल १ आषाढ़ादि और कार्तिकादि विक्रम संवत् १९३६, सन् १८८० ई०।

(३) श्रावण शुक्ल १ फसली सन् दक्षिणी १२८९ श्रावण शुक्ल १ शक १८०१ सन् १८७९ ई०।

(४) चैत्र कृष्ण ३० फसली १२८९ चैत्र कृष्ण ३० शक १८०२, सन् १८८० ई०।

का और कुछ मे चान्द्रमान का विशेष प्रचार है । बगाल मे सौरवर्ष प्रचलित है। मद्रास मे छपे ज्वालापति सिद्धान्तीकृत शक १८०९ के पञ्चाङ्ग मे लिखा है कि इस देश मे लोकव्यवहारार्थं चान्द्रमान ग्राह्य है और शेषाचल के दक्षिण सौरमान ग्राह्य है। उपर्युक्त पञ्चाङ्ग मैने मद्रास के उत्तर नेलोर नामक स्थान के निवासी एक तैलग ब्राह्मण के पास देखा था। उसने कहा था कि हमारे देश मे चान्द्रमान प्रचलित है। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न प्रान्तो के लोगो से प्रत्यक्ष भेट करके ज्ञात की हुई बातो से तथा मेरे पास के मद्रास-प्रान्तीय अनेक पञ्चाङ्गो से विदित होता है कि बगाल और मलावार मे तथा मद्रास के उन प्रान्तो मे जहाँ कि तमिल भाषा बोली जाती है, लौकिक व्यवहार मे सौर मान प्रचलित है और भारत के अन्य प्रान्तो का व्यवहार चान्द्रमान के अनुसार होता है। धार्मिक कृत्य धर्मशास्त्रोक्त मानानुसार किये जाते है। इस मान के मास, मासारम्भ इत्यादि का विचार आगे करेगे।

वर्षारम्भ

यजुर्वेदसहिताकाल मे और तदनुसार उसके बाद सभी वैदिक कालो मे वसन्त ऋतु तथा मधुमास के आरम्भ मे वर्ष का आरम्भ माना जाता था। वैदिक काल के अन्त में मधुमास का नाम चैत्र पडा। सवत्सरसत्र के अनुवाक तथा कुछ अन्य वाक्यो से ज्ञात होता है कि चित्रापूर्णमास (चैत्रशुक्ल १५ अथवा कृष्ण १), फल्गुनीपूर्णमास (फाल्गुन शुक्ल १५ अथवा कृष्ण १) और कदाचित् अमान्त माघ कृष्ण ८ (एकाष्टका) को भी किसी समय वर्षारम्भ मानते थे। एक वाक्य मे फाल्गुन को सवत्सर का मुख कहा है। पता नही यह फाल्गुन अमान्त है या पूर्णिमान्त। सभवत किसी समय पूर्णिमान्त पौषारम्भ मे भी वर्षारम्भ होता था, परन्तु उस समय पौष नाम नही था। वेदाङ्गज्योतिष मे अमान्त माघ के आरम्भ मे वर्षारम्भ माना है। महाभारत मे मार्गशीर्ष के वर्षारम्भ होने के उल्लेख है तथापि सूत्रादिको से ज्ञात होता है कि वेदाङ्गकाल मे चैत्रादि वर्ष का प्राधान्य था। अब आगे के समयो का विचार करेगे ज्योतिषग्रन्थकार अपनी सुविधा के अनुसार सौरवर्षारम्भ से अथवा चान्द्रसौर वर्षारम्भ से गणित करते है। गणेश दैवज्ञ ने ग्रहलाघव मे चान्द्रसौर[1] वर्षारम्भ से गणित किया है, परन्तु उन्ही ने तिथिचिन्तामणि मे मेषसक्रान्ति को वर्षारम्भ माना है। सौरवर्ष का

---

१. चान्द्रसौर वर्ष उसे कहते है जिसके मास तो चान्द्र होते है, परन्तु सौर वर्ष से मेल रखने के लिए जिसमें अधिक मास प्रक्षिप्त किया जाता है।

आरम्भ अधिकतर मध्यम मेषसक्रान्ति और कोई-कोई स्पष्ट मेषसक्रान्ति से करते है। चान्द्रसौर वर्ष का आरम्भ चैत्रशुक्ल प्रतिपदा के आरम्भ से ही किया जाता है, यह कोई नियम नही है। प्राय उस दिन सूर्योदय से और कभी-कभी मध्यरात्रि, मध्याह्न अथवा सूर्यास्त से भी वर्षारम्भ मानते है।

धर्मशास्त्र मे चैत्र के आरम्भ से वर्षारम्भ माना है।

अब व्यावहारिक वर्षारम्भ का विचार करेगे। धर्म और व्यवहार का निकट सम्बन्ध होने के कारण दोनो प्रकार के वर्षारम्भ का भी निकट सम्बन्ध है। भारत के अधिक भाग मे वर्षारम्भ चैत्र से होता है। जिन प्रान्तो मे शक काल और चान्द्रमान का व्यवहार होता है उनमे चैत्रशुक्ल प्रतिपदा को वर्षारम्भ होता है। नर्मदा के उत्तर बगाल को छोड शेष प्रान्तो मे विक्रमसवत् चान्द्रमान और पूर्णिमान्त मास का प्रचार है तो भी वर्षारम्भ चैत्र शुक्ल प्रतिपदा को ही होता है। बगाल मे शककाल और सौरमान प्रचलित है। वहाँ वर्षारम्भ सौर वैशाख से अर्थात् स्पष्ट मेषसक्रान्ति से होता है परन्तु चान्द्र चैत्र शुक्ल प्रतिपदा का महत्त्व वहाँ भी होगा। तमिल प्रान्त मे सौर मान प्रचलित है। वहाँ वर्षारम्भ स्पष्ट मेषसक्रान्ति से मानते है पर चैत्र शुक्ल प्रतिपदा का माहात्म्य वहाँ भी होगा।

चैत्र मास अधिक होने पर वर्षारम्भ अधिक चैत्र मे करना चाहिए या शुद्ध चैत्र मे, इस विषय मे मतभेद दिखाई देता है।

सम्प्रति मेषसक्रान्ति से वर्षारम्भ माननेवाले प्रान्तो मे उसका आरम्भ स्पष्ट मेष-सक्रान्ति से किया जाता है, परन्तु मालूम होता है, पहिले मध्यम मेष[1] से वर्षारम्भ करते थे, क्योकि ज्योतिषग्रन्थो मे उसी का प्राधान्य है। भास्वतीकरण (शक १०२१) मे स्पष्ट मेषसंक्रान्ति को आरम्भकाल माना है। उसके पहिले के किसी भी ग्रन्थ मे स्पष्ट मेष आरम्भकाल नही है। शिलालेखो मे शक १०८३ के बाद के मलाबार प्रान्त के बहुत से उदाहरण मिले है जिनसे ज्ञात होता है कि मासारम्भ स्पष्ट सक्रान्तियो से होता था।[2] श्रीपति ने मध्यम मान के अधिमास का निषेध किया है और स्पष्टाधिमास को प्रशस्त बताया है। इससे अनुमान होता है कि लगभग शक १००० के पहिले व्यवहार

---

१. स्पष्ट मेष के कुछ समय बाद मध्यम मेष होता है। दोनों के अन्तर को शोध्य कहते हैं। इसका मान भिन्न-भिन्न सिद्धान्तो में भिन्न-भिन्न है। प्रथम आर्यसिद्धान्त में यह २ दिन ८ घं० ५१ पल १५ वि० और वर्तमान सूर्यसिद्धान्त में २ दिन १० घ० १४ पल ३० विपल है।

२. Indian Antiquary, XXV p. 53 ff.

मे भी वर्षारम्भ मध्यम मेष से ही होता रहा होगा पर बाद मे स्पष्ट मेष का प्रचार हुआ होगा।

चैत्रमास अथवा मेषमास के किस क्षण मे वर्षारम्भ होता है, इसका विवेचन आगे मासविचार मे करेगे। चैत्र अथवा मेष के अतिरिक्त अन्य मासो मे भी वर्षारम्भ होता है। यहाँ इसी का वर्णन करेगे।

नर्मदा के दक्षिण और गुजरात के कुछ भागो मे विक्रम सवत् का वर्ष कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा को आरम्भ होता है। अहमदाबाद मे छपा हुआ शक १८१० (सन् १८८८-८९ ई०) का एक पञ्चाङ्ग मेरे पास है। उसमे आषाढ़ादि विक्रमसवत् १९४५ लिखा है अर्थात् उसमे शक १८१० की आषाढ शुक्ल प्रतिपदा से विक्रम सवत् १९४५ आरम्भ हुआ है। बार्सी मे काठियावाड़ के एक प्रसिद्ध व्यापारी ने शक १८१० मे मुझसे कहा था कि राजकोट, जामनगर, मोरवी, टकारा, जोडिया, खभालिया इत्यादि शहरो मे अर्थात् काठियावाड के हालार प्रान्त मे और अमरेली, दामनगर, जेतपूर इत्यादि स्थानो मे, साराश यह कि लगभग सम्पूर्ण काठियावाड मे व्यवहार मे और बहीखाता लिखने मे आषाढ शुक्ल प्रतिपदा से नवीन सवत् का आरम्भ माना जाता है। उस व्यापारी के यहाँ काठियावाड से आये हुए पत्रो से भी मुझे ज्ञात हुआ कि शक १८१० की आषाढ शुक्ल प्रतिपदा को सवत् १९४४ समाप्त होकर १९४५ लगता है। डाक्टर फ्लीट ने भी लिखा है कि हालार सवत् आषाढ से आरम्भ होता है।[1] ईडर प्रान्त के कुछ व्यापारी मुझे शक १८१० मे बार्सी मे मिले थे। उनके कथन से ज्ञात हुआ कि उस प्रान्त मे और उसके आसपास लगभग १०० मील तक अमान्त आषाढ कृष्ण २ से वर्षारम्भ होता है। बगाल मे और उत्तर भारत के कुछ अन्य प्रान्तो मे फसली सन् का आरम्भ पूर्णिमान्त आश्विन कृष्ण प्रतिपदा को होता है। ओडिसा प्रान्त मे भाद्रपद शुक्ल १२ को वर्षारम्भ होता है। तिरहुत और मिथिला प्रान्तों में लक्ष्मणसेन वर्ष का आरम्भ पूर्णिमान्त श्रावण या माघ के आरम्भ मे होता है।

कोचीन और त्रिवेन्द्रम में छपे हुए पञ्चाङ्गों से तथा कुछ अन्य हेतुओ से ज्ञात होता है कि दक्षिण मलाबार और तिनेवल्ली प्रान्तो में वर्षारम्भ सिहसक्रान्ति को होता है। कालीकट और मगलोर मे छपे हुए पञ्चाङ्गो तथा अन्य हेतुओ से ज्ञात होता है कि उत्तर मलाबार में कन्या मास के आरम्भ मे वर्षारम्भ होता है। मद्रास प्रान्त के कर्क मास के साथ साथ फसली सन् आरम्भ होता था। बाद मे वह १३ जुलाई को आरम्भ होने लगा और आजकल पहिली जुलाई को होता है। महाराष्ट्र मे फसली सन्

1. Corpus inscriptionum indicarum, vol. iii.

का आरम्भ मृग नक्षत्र मे होता है। उडीसा प्रान्त मे बिलायती सन् का आरम्भ कन्या सक्रान्ति से होता है।

यहाँ तक वर्तमान पद्धति का वर्णन किया गया। अब प्राचीन पद्धति का विचार करेंगे। हमारे किसी भी ज्योतिष या अन्य विषय के ग्रन्थ मे वर्षारम्भ का इतिहास नही लिखा है और न तो उसके विषय मे कोई विचार या निर्णय ही मिलता है। इस कारण सम्प्रति उसका इतिहास जानना कठिन हो गया है। शिवाजी का राज्याभिषेक-वर्ष ज्येष्ठ शुक्ल १३ को और अकबरी सन् सायन मेषसक्रान्ति के समय आरम्भ होता था। कीलहार्न के मतानुसार चेदिसवत् का आरम्भ आश्विन मे होता था। इस विषय का बेरुनी का लेख (शक ९५२) बडे महत्त्व का है। उसने लिखा है—"ज्योतिषी लोग शकवर्ष का प्रयोग करते है। वर्ष का आरम्भ चैत्र के साथ होता है। कश्मीर की सीमा पर रहने वाले कनीर के लोग भाद्रपद से वर्षारम्भ करते है। बरदारी और मारीगल के मध्य मे रहनेवाले कार्तिक से वर्षारम्भ मानते है। मारीगल के उस ओर नीरहार प्रान्त के लोग तथा ताकेश्वर और लोहावर तक एव लघानवाले वर्षारम्भ मार्गशीर्ष से करते है। मुलतान वालो ने मुझसे कहा कि सिव और कन्नौज प्रान्तो मे यही वर्षारम्भ है और मुलतान मे भी यही था, परन्तु कुछ ही वर्षो से मुलतान वालो ने यह वर्ष छोड़ दिया है। अब वे कश्मीर का चैत्रादि वर्ष मानते है।"[1]

अमान्त चान्द्रमान के सब वर्षारम्भ इतने है—मधु मासारम्भ (चैत्र शुक्ल १), चैत्र कृष्ण १, ज्येष्ठ शुक्ल १३, आषाढ शुक्ल १, आषाढ कृष्ण १, आषाढ कृष्ण २, भाद्रपद शुक्ल १, भाद्रपद शुक्ल १२, भाद्रपद कृष्ण १, कदाचित् आश्विन शुक्ल १, कार्तिक शुक्ल १, अमान्त कार्तिक कृष्ण १ अथवा मार्गशीर्ष शुक्ल १ (मार्गशीर्षारम्भ), कदाचित् मार्गशीर्ष कृष्ण १ (पूर्णिमान्त पौषारम्भ), पौषकृष्ण १, माघ शुक्ल १, कदाचित् माघ कृष्ण १ (पूर्णिमान्त फाल्गुनारम्भ), माघ कृष्ण ८, कदाचित् फाल्गुन शुक्ल १, फाल्गुन कृष्ण १। निरयन सौरमान के अनुसार मेषारम्भ, मृग नक्षत्र (वृष मास का लगभग २५ वाँ दिन), कर्कारम्भ, सिंहारम्भ, कन्यारम्भ वर्षारम्भकाल है। ये अमान्त चान्द्रमान के क्रमश चैत्र, ज्येष्ठ (कदाचित् वैशाख), आषाढ श्रावण और भाद्रपद महीनो मे पडते है। मेषारम्भ और जुलाई की पहिली तारीख (सायन कर्क) का लगभग ११ वाँ दिन) सायन सौरमान सम्बन्धी वर्षारम्भ है।

अब वर्षारम्भ सम्बन्धी ये भिन्न-भिन्न मास और दिन किस समय कहाँ प्रचलित थे अथवा है, इसका क्रमश संक्षिप्त वर्णन करेंगे। वसन्त मे मधु मास के आरम्भ अर्थात्

---

१. Beruni's India, ii, p. 8.

चैत्रारम्भ मे वर्षारम्भ होने का वर्णन श्रुति, वेदाङ्ग स्मृति, पुराण, ज्योतिषगणितग्रन्थ तथा धर्मशास्त्र के प्राचीन और अर्वाचीन निबन्धग्रन्थ, सभी मे है। गुप्तसवत् १५६ से २०९ तक के अर्थात् शकवर्ष ३९७ से ४५० तक के गुप्त राजाओ के जो ताम्रपत्रादि लेख मिले है, उनमे लिखित ज्योतिष सम्बन्धी सभी बातो की सगति चैत्रारम्भ मे वर्षारम्भ मानने से लगती है।[1] इन गुप्तो की सत्ता एक समय उत्तर भारत के अधिकतर भाग में व्याप्त थी। बेरुनी ने भी चैत्रारम्भ मे वर्षारम्भ लिखा है। साराश यह कि यह वर्षारम्भ सार्वकालिक, सार्वत्रिक और सर्वमान्य है। इसके रहते हुए भी कही कही अन्य वर्षारम्भ थे और है। चैत्र कृष्ण प्रतिपदा वसन्त मे ही पडती है। मालम होता है, इसी कारण पूर्णिमान्त पद्धति के अनुसार वैदिक काल के कुछ भागो मे कही-कही उसे भी वर्षारम्भ मानते थे। बगाल मे सौर वैशाख के आरम्भ मे अर्थात् मेषारम्भ मे वर्षारम्भ मानते है। यद्यपि निश्चित पता नही लगता कि यह कितना प्राचीन है तथापि बगाल के जीमूतवाहन के धर्मशास्त्रग्रन्थ मे इसका वर्णन है और जीमूतवाहन का काल शक १०१४ के लगभग ज्ञात होता है।[2] भास्वतीकरण की रचना शक १०२१ मे जगन्नाथ क्षेत्र मे हुई है। उसमे मेषसक्रान्ति को वर्षारम्भ माना है। तमिलप्रान्त मे भी यही (सौर चैत्रारम्भ) वर्षारम्भ है। यह वहॉ कब से प्रचलित है, इसका पता नही लगता, परन्तु शककाल की १२ वी शताब्दी के जो उस प्रान्त के ताम्रपत्रादि लेख मिले है[3] उनमे सौरमास है। उस प्रान्त मे आर्यसिद्धान्त का प्रचार है। सभव है यह मासारम्भ भी उतना ही (शक ४२१) प्राचीन हो। सूर्य ज्येष्ठ मे और कभी-कभी वैशाख मे मृग नक्षत्र मे प्रवेश करता है। महाराष्ट्र मे और उसके आसपास के प्रान्तो मे सूर सन् और फसली सन् का वर्ष उसी समय आरम्भ होता है। वह शकवर्ष १२६६ (सन् १३४४ ई०) से प्रचलित है। वह ऋतुओ के अनुसार है। ज्येष्ठ शुक्ल १३ को आरम्भ होनेवाले वर्ष का सम्बन्ध शिवाजी से है। आषाढ शुक्ल १ को वर्षारम्भ मानने की प्रथा काठियावाड मे कम से कम सिहसवत् के आरम्भकाल (शक १०३६) से प्रचलित है। आषाढ कृष्ण २ की भी यही स्थिति होगी। आषाढ कृष्ण १ को वर्षारम्भ मानने की प्रथा लक्ष्मणसेन सवत् के सम्बन्ध से तिरहुत और मिथिला प्रान्तो मे शक १०४१ के बाद किसी समय प्रचलित हुई होगी। यद्यपि ये तीनो वर्ष आषाढ की तीन तिथियो से आरम्भ हुए है तथापि स्पष्ट है कि इनका सम्बन्ध वृष्ट्यारम्भ से अर्थात् ऋतु से

१ Gupta Inscriptions Introduction.

२. कालतत्त्वविवेचन नामक ग्रन्थ का मासतत्त्वविवेचन देखिए।

३. मेरे Indian Calendar का पृष्ठ ८९ देखिए।

है। मद्रास प्रान्त मे फसली सन् का आरम्भ पहिले कर्कारम्भ (आषाढ) मे होता था। आजकल जुलाई की पहली तारीख (ज्येष्ठ या आषाढ) से होता है अर्थात् इसका भी सम्बन्ध ऋतु से है। हमारे प्रान्त (महाराष्ट्र) मे सम्प्रति सरकारी मुल्की वर्ष अगस्त से आरम्भ होता है। (सरकारी वर्ष का आरम्भ अप्रैल से भी होता है। जनवरी मे वर्षारम्भ मानने की पद्धति भी सम्प्रति सर्वत्र प्रचलित हो गयी है)। मलाबार मे सिंहारम्भ (श्रावण) और कन्यारम्भ (भाद्रपद) से वर्षारम्भ होता है। यह कोल्लमकाल के तुल्य प्राचीन (शक ७४७) होगा। बगाल में कन्यारम्भ से वर्षारम्भ होता है, यह फसली सन् सम्बन्धी वर्षारम्भ अकबर के समय से चला है। बेरुनी के समय कश्मीर के आसपास भाद्रपद मे वर्षारम्भ होता था। उडीसा प्रान्त मे भाद्रपद शुक्ल १२ को जो वर्षारम्भ होता है उसका सम्बन्ध एक व्यक्ति से है। चेदिवर्ष का आरम्भकाल भाद्रपद कृष्ण १ होगा। आश्विन शुक्ल १ भी हो सकता है। चेदिवर्ष ७९३ (शक ९६२) के बाद के ताम्रपत्र मिले है अत यह इतना प्राचीन अवश्य होगा। कार्तिक को संवत्सरारम्भमास मानने की पद्धति बहुत प्राचीन ज्ञात होती है। बृहत्सहिता की टीका मे भटोत्पल ने प्राचीन सहिताकारो के जो वचन उद्धृत किये है उनमे कही-कही प्रसगवशात् सब मासो का वर्णन है। उसमे कही-कही कार्तिक को आरम्भमास कहा है। सूर्यसिद्धान्त में भी यह वर्षारम्भ है। उत्तर भारत मे यह वर्षारम्भ विक्रमसवत् के आरम्भकाल से प्रचलित होगा। उत्तर भारत मे विक्रमवर्ष ८९८ के बाद के अनेक ऐसे ताम्रपत्रादि लेख मिले है जिनमे विक्रम-वर्ष कार्तिकादि है। बेरुनी के समय भी कार्तिकादि वर्ष था। नेपाल मे भी यह सन् १७४८ ई० पर्यन्त था। इस समय केवल गुजरात मे है। कृत्तिका नक्षत्र के प्राथम्य के कारण कार्तिक प्रथम मास हुआ। कृत्तिका से मार्गशीर्षादि वर्ष का भी सम्बन्ध ज्ञात होता है। मालूम होता है, प्रथम नक्षत्र कृत्तिका से युक्त पूर्णिमा को (उसके दूसरे दिन) आरम्भ होनेवाला जो मास था (उसकी पूर्णिमा मृगशीर्ष से युक्त होने के कारण उसका नाम मार्गशीर्ष रखकर) उसे प्रथम मास मान लिया। महाभारत मे प्रथम मास कार्तिक नही बल्कि मार्गशीर्ष है। इससे ज्ञात होता है कि कार्तिक को प्रथम मास मानने की पद्धति की अपेक्षा मार्गशीर्ष को प्रथम मास मानने की पद्धति प्राचीन है। वह शकपूर्व २००० वर्ष से ही प्रचलित होगी। बेरुनी के समय अनेक प्रान्तो मे मार्ग-शीर्ष मे वर्षारम्भ होता था। अब वह प्रथा नही है। मृगशीर्ष के आग्रहायणी नाम से ज्ञात होता है कि जब मृगशीर्ष प्रथम नक्षत्र माना जाता रहा होगा (शकपूर्व ४०००) उस समय मृगशीर्षयुक्त पूर्णिमा के दूसरे दिन से वर्षारम्भ करते रहे होगे। उस समय यह पौष इत्यादि नाम प्रचलित होते तो पौष ही वर्षारम्भ मास माना गया होता, परन्तु

उनका प्रचार नही था। इसी कारण पौषादि मास का उल्लेख कही नही मिलता। उसका न मिलना इस बात का भी एक प्रमाण है कि जिस समय कृत्तिका प्रथम नक्षत्र माना जाता था उस काल के बाद मासो की चैत्रादि सज्ञाएँ प्रचलित हुई है। लक्ष्मण-सेन वर्ष का आरम्भकाल बगाल मे किसी समय पौष कृष्ण १ रहा होगा। माघारम्भ मे वर्षारम्भ होने का वर्णन वेदाङ्गज्योतिष मे है। यह प्रथा अधिक प्रदेशो मे बहुत दिनो तक नही रही होगी। 'फाल्गुन सवत्सर का मुख है'—इस वाक्य मे कथित वर्षारम्भ माघ कृष्ण १ अथवा फाल्गुन शुक्ल १ होगा। यह एकदेशीय ज्ञात होता है। माघ कृष्ण ८ (एकाष्टका) भी ऐसा ही ज्ञात होता है क्योकि सवत्सरसत्र के आरम्भ मे वह नियुक्त नही किया गया है। ('मीमासको का कथन है कि जैमिनि ने सवत्सरसत्र के अनुवाको से यह निष्कर्ष निकाला है कि माघी पूर्णिमा के ४ दिन पूर्व सत्रारम्भ करना चाहिए।) आश्वलायन ने फाल्गुनी अथवा चैत्री पूर्णिमा को सत्रारम्भ करने के लिए कहा है। इससे भी वही बात सिद्ध होती है। फाल्गुनी पूर्णिमा को जो वर्षा-रम्भ बताया है उसका सम्बन्ध वसन्त से है, परन्तु वेदकाल मे फाल्गुन मे विषुव नही होता था, यह पहिले दिखा चुके है।

ऐसा एक भी अमान्त चान्द्रमास नही है जिसका किसी न किसी समय वर्षारम्भ से सम्बन्ध न रहा हो। उनमे चैत्र का सम्बन्ध सबसे अधिक है। कार्तिक और मार्ग-शीर्ष का उससे बहुत कम है तो भी बहुत है। भाद्रपद का उनसे कम है, परन्तु बहुत कम नही है। ज्येष्ठ, आषाढ, श्रावण, माघ और फाल्गुन का थोडा सा है। वैशाख और आश्विन का बहुत थोडा है।

उपर्युक्त प्राय सभी वर्षारम्भो का कारण ऋतु है।

एक ही प्रान्त मे एक ही समय कई वर्षारम्भ प्रचलित थे और है। जैसे महाराष्ट्र मे सम्प्रति चैत्र शुक्ल १, मृगशिरा नक्षत्र, कार्तिक शुक्ल १, जनवरी इत्यादि वर्षारम्भ हैं। कम से कम दो वर्षारम्भ तो सभी प्रान्तो मे है।

उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होगा कि किसी एक मास मे होने वाला वर्षारम्भ कुछ समय बाद पूर्व के मास मे चला गया हो और उसके बाद भी वह क्रमश. पीछे खिसकता रहा हो, ऐसा नही हुआ है।

नक्षत्रचक्रारम्भ

वेदो मे नक्षत्रारम्भ कृत्तिका से है। अनुमान होता है कि कृत्तिका के पूर्व मृगशीर्ष से नक्षत्रगणना करते रहे होगे, पर इसका प्रत्यक्ष उल्लेख कही नही मिलता। ज्योतिष-सिद्धान्तग्रन्थो में अश्विनी को आदि-नक्षत्र माना है। वैदिक काल या वेदाङ्गकाल में

यह पद्धति नही थी। वेदाङ्गज्योतिष मे धनिष्ठा से गणना की है। महाभारत से ज्ञात होता है कि एक समय श्रवण प्रथम नक्षत्र था, अर्थात् ये दोनो वेदाङ्गकाल मे प्रथम नक्षत्र माने जाते थे। उस समय कृत्तिका भी प्रथम नक्षत्र था ही। मृग, कृत्तिका और अश्विनी के प्राथम्य का सम्बन्ध वसन्त से अथवा वसन्तान्तर्गत विषुव से है और धनिष्ठा तथा श्रवण का सम्बन्ध उत्तरायणारम्भ से है।

नक्षत्रचक्र के आरम्भ मे क्रमश एक-एक नक्षत्र पीछे मानने की परम्परा चली आ रही हो, ऐसा नही ज्ञात होता।

संवत्सर

बार्हस्पत्य संवत्सर

यह शब्द वस्तुत वर्ष अर्थ का वाचक है, परन्तु एक पद्धति यह है कि ६० वर्षो के प्रभाव इत्यादि क्रमश ६० नाम रख दिये गये है, उन नामो को भी सवत्सर कहा जाता है। इन संवत्सरो की उत्पत्ति बृहस्पति की गति से होने के कारण इन्हे बार्हस्पत्य सवत्सर कहते है। बृहस्पति को नक्षत्रमण्डल की एक प्रदक्षिणा करने मे लगभग १२ वर्ष लगते है, यह बात ज्ञात हो जाने पर बार्हस्पत्य सवत्सर की उत्पत्ति हुई होगी। जैसे सूर्य को नक्षत्रमण्डल की एक प्रदक्षिणा करने मे जितना समय लगता है उसे वर्ष और उसके १२वे भाग को मास कहते है, उसी प्रकार पहले गुरु की एक प्रदक्षिणा सम्बन्धी काल को गुरुवर्ष और उसके लगभग १२वे भाग को गुरुमास कहते रहे होगे। चान्द्र मासो के चैत्रादि १२ नाम नक्षत्रो के नाम पर पडे है। सूर्यसान्निध्य के कारण गुरु-वर्ष मे कुछ दिन अस्त रहता है। जिस नक्षत्र मे उसका उदय होता है उसी के नाम पर चान्द्र मास की भाँति गुरुमासो के भी नाम रखे गये। ये गुरु के मास वस्तुत सौर वर्षों के नाम है। इसी लिये इन्हे चैत्रसवत्सर, वैशाखसवत्सर इत्यादि कहने लगे।

द्वादश-संवत्सरचक्र

वर्षसख्या गिनने का एक उत्तम साधन है द्वादश-सवत्सरचक्र। ये दो प्रकार के है। एक तो वह है जिसमे सवत्सर का नाम गुरु के उदयानुसार रखा जाता है। इसे उदय-पद्धति कहेगे। गुरु का एक उदय होने के लगभग ४०० दिनो के बाद दूसरा उदय होता है और एक गुरुभगण मे अर्थात् १२ वर्षो मे ११ गुरूदय होते है और एक संवत्सर का लोप हो जाता है। इस पद्धति मे थोडी असुविधा है। इसी लिए ज्योतिषियो ने गुरु की मध्यम गति का ठीक ज्ञान हो जाने पर नक्षत्रमण्डल का १२वॉ भाग अर्थात् एक राशि चलने मे गुरु को जितना समय लगता है उसे गुरु का मास अर्थात सवत्सर

तुल्य ही मान लिया जाता है। इसी कारण उसे सौरसवत्सर कहते है। चान्द्र वर्ष के साथ आरम्भ होने के कारण उसे चान्द्र सवत्सर भी कहते है। सम्प्रति नर्मदा के उत्तर बार्हस्पत्य और दक्षिण मे चान्द्रसौर सवत्सर प्रचलित है। कोई कोई नर्मदा के दक्षिण वाले सवत्सर को भी बार्हस्पत्य सवत्सर कहते है, पर यह ठीक नही है। अब उसमे बार्हस्पत्यत्व नही रह गया है।

चान्द्रसौर संवत्सर

दक्षिण मे यह पद्धति बाद मे चली है। चान्द्रसौर सवत्सर का उल्लेख वर्तमान रोमकसिद्धान्त और शाकल्योक्त ब्रह्मसिद्धान्त मे है, परन्तु वे ग्रन्थ अन्य ज्योतिष-सिद्धान्तो के तुल्य प्राचीन नही है। अन्य सभी सिद्धान्तो मे सवत्सर केवल बार्हस्पत्य मान का ही लेने को कहा है। ज्योतिषग्रन्थो मे सावनादि भिन्न-भिन्न मानो के वर्णन मे स्पष्ट लिखा है कि सबत्सर बार्हस्पत्य मान का लेना चाहिए ताम्रपत्रादि प्राचीन लेखो से सिद्ध होता है कि दक्षिण में भी पहिले बार्हस्पत्य संवत्सर प्रचलित था। उदाहरणार्थ---राष्ट्रकूट, राजा तृतीय गोविन्द का शकवर्ष ७२६, सुभानु सवत्सर, वैशाख कृष्ण ५ गुरुवार का एक ताम्रपत्र मिला है।[1] गणित करने से ज्ञात हुआ कि शक ७२६ को गतवर्ष मानने से वैशाख कृष्ण ५ अमान्त मान से ३ मई सन् ८०४ शुक्रवार को आती है और पूर्णिमान्त मान से ४ अप्रैल सन् ८०४ गुरुवार को आती है अर्थात् पूर्णिमान्त मान से लेख की सङ्गति लगती है। ७२६ को वर्तमान वर्ष मानने से सङ्गति नही लगती। शक ७२६ मे दक्षिण की वर्तमान पद्धति के अनुसार १८वाँ सवत्सर तारण आता है, परन्तु लेख मे १७वाँ सुभानु है। नर्मदा के उत्तर वाले अर्थात् वास्तविक बार्हस्पत्य मान से सुभानु सवत्सर का आरम्भ अधिक आषाढ कृष्ण ९ शनिवार शक ७२५ (गत), १७ जून सन् ८०३ को आता है और आगे चल कर आषाढ शुक्ल प्रतिपदा बुधवार, १२ जून सन् ८०४ को तारण सवत्सर लगता है अर्थात् ताम्रपत्र का लेखनदिन सुभानु मे ही आता है। इससे सिद्ध हुआ कि शक ७२६ पर्यन्त दक्षिण मे वास्तव बार्हस्पत्य मान प्रचलित था।

दक्षिण में बार्हस्पत्य संवत्सर

तुङ्गभद्रा के तटवर्ती उस प्रदेश मे तो यह अवश्य ही प्रचलित रहा होगा, जहाँ वह ताम्रपत्र मिला है। इस प्रकार के कुछ और भी उदाहरण है। वास्तविक बार्हस्पत्य मान से सवत्सर का आरम्भ चैत्र शुक्ल प्रतिपदा को नही आता और ८५ वर्षो मे

---

१. इण्डियन ऐंटिक्वैरी, पुस्तक १, पृष्ठ १२६ देखिए।

एक सवत्सर लुप्त हो जाता है, इस प्रपञ्चात्मक पद्धति का त्याग कर सदा चान्द्र अथवा सौर वर्ष के साथ सवत्सरारम्भ करने की ओर झुकाव होना बिलकुल स्वाभाविक है। दक्षिण में चान्द्रसौर पद्धति का प्रचार इसी कारण अथवा प्रति ८५ वर्ष के बाद एक सवत्सर लुप्त करने की पद्धति की उपेक्षा कर देने से हुआ होगा। परन्तु वास्तविक बार्हस्पत्य मान से जो सवत्सर आता है, वही चान्द्रसौर पद्धति द्वारा भी जिस समय आता रहा होगा उसी समय से इसका प्रचार हुआ होगा, यह बिलकुल स्पष्ट है। शक ७४३ से ८२७ पर्यन्त दोनो पद्धतियो द्वारा एक ही सवत्सर आता था। उसके बाद उत्तर मे नियमानुसार सवत्सर का लोप होता रहा और दक्षिण मे वह बन्द हो गया। इस कारण दक्षिण का सवत्सर पीछे हटने लगा। शक १८१८ के आरम्भ मे दक्षिण मे दुर्मुख अर्थात् ३०वाँ और उत्तर मे ४२वाँ कीलक सवत्सर है। साराश यह कि दक्षिण मे शक ८२७ से चान्द्रसौर सवत्सर प्रचलित हुआ।

पूर्णिमान्त और अमान्त मास

प्रथम भाग मे दिखा चुके है कि वेदकाल मे मास की अमान्त और पूर्णिमान्त दोनो पद्धतियाँ प्रचलित थी। सम्प्रति नर्मदा के उत्तर पूर्णिमान्त और दक्षिण भाग में अमान्त मान प्रचलित है, तथापि कार्तिकस्नान इत्यादि कुछ धार्मिक कर्म दक्षिण में भी पूर्णिमान्त मान से ही किये जाते है। ऊपर षष्टिसंवत्सरचक्र के विवेचन मे शक ७२६ का एक उदाहरण दिया है, उससे ज्ञात होता है कि उस समय दक्षिण मे अथवा कम से कम तुङ्गभद्रा पर्यन्त व्यवहार मे पूर्णिमान्त मान प्रचलित था। उसके पहिले के भी इसके कुछ उदाहरण मिले है। हरिहर राजा के मन्त्री माधवाचार्य (विद्यारण्य)[1] के ताम्रपत्र में लिखा है—"शके १३१३ वैशाखमासे कृष्णपक्षे अमावास्यायां सौम्य-दिने सूर्योपरागपुण्यकाले।" पूर्णिमान्त मान के वैशाख की ही अमावास्या को बुधवार और सूर्यग्रहण आता है, अमान्त वैशाख की अमावास्या को नही आता। इससे ज्ञात होता है कि शक की १४वी शताब्दी मे भी दक्षिण मे कभी-कभी पूर्णिमान्त मास का उपयोग किया जाता था।

यद्यपि उत्तर भारत मे सम्प्रति पूर्णिमान्त मास प्रचलित है तथापि मासो के नाम और अधिकमास वहाँ भी अमान्त मान से ही निश्चित किये जाते है। इसका विवेचन आगे करेगे। जहाँ सौर मास प्रचलित है वहाँ इस वाद की आवश्यकता ही नही पडती।

मास और अधिकमास की चैत्रादि सज्ञाएँ प्रथम चित्रादि नक्षत्रो द्वारा उत्पन्न हुई

---

१. Memoirs of Savantvadi State, p 287.

अर्थात् चन्द्रमा जिन नक्षत्रो मे पूर्ण होता था उन्ही के नाम पर मास के नाम रखे गये, परन्तु चैत्र मे चन्द्रमा सदा चित्रा नक्षत्र मे ही नही पूर्ण होता। कभी चित्रा मे, कभी स्वाती में और कभी हस्त मे पूर्ण होता है, अत आगे चलकर इसके लिए दूसरा नियम बनाना पडा। उस नियम के अनुसार कृत्तिकादि दो-दो नक्षत्रो में जिन मासो की पूर्णिमा को चन्द्रमा पूर्ण होता था, उनके क्रमश कार्तिकादि नाम रखे गये, उसमे भी फाल्गुन, भाद्रपद और आश्विन मासो को तीन-तीन नक्षत्र दिये गये।[1] इस नियम से भी मास का नाम कभी-कभी बडा विचित्र आता है। उदाहरण—शक १८१५ के ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्ग मे आषाढी पूर्णिमा के अन्त मे श्रवण नक्षत्र था, अत नियमानुसार उसका नाम श्रावण हो जाता है। गणित करने से मुझे यह भी मालूम हुआ (ग्रन्थविस्तार होने के भय से यहाँ गणित नही दिया है) कि ८०० कलाओ का एक नक्षत्र माने तो भी इस नियम से अधिकमास और क्षयमास बार-बार आयेगे और वे नियमपूर्वक नही आयेगे। नक्षत्रो के तारो से गणना करेगे तो और भी अव्यवस्था होगी, क्योकि उनमें समान अन्तर नही है। चन्द्रमा की गति का सूक्ष्म ज्ञान होने के पूर्व यह पद्धति स्थूल रूप मे अर्थात् विशेष अधिमास और क्षयमास न मानते हुए कुछ काल तक प्रचलित रही होगी। वेदाङ्गज्योतिष मे चन्द्रगति बहुत सूक्ष्म है, उस समय से यह पद्धति छूट गयी। वेदाङ्गज्योतिष के अनुसार ३० मास मे एक अधिमास आता है। वेदाङ्ग-ज्योतिष-विचार मे लिख चुके हैं कि सूक्ष्म न होने के कारण यह नियम भी शीघ्र ही व्यवहार से उठ गया होगा। उस नियम के स्थान मे ३२ या ३३ मासो मे अधिकमास मानने की पद्धति बाद मे प्रचलित हुई होगी। पितामह-सिद्धान्त मे ३२ मास मे एक अधिमास माना है। पञ्चसिद्धान्तिकोक्त सूर्यसिद्धान्तादि सूक्ष्म ग्रन्थ बन जाने पर सूक्ष्म गणित द्वारा अधिमास लाया जाने लगा। सम्प्रति मास का नाम रखने का सामान्य नियम यह है कि जिन चान्द्र मासो मे स्पष्ट मेषादि सक्रान्तियाँ होती है, उन्हे क्रमश चैत्र, वैशाख इत्यादि कहते हैं जिस मास मे सक्रान्ति नही होती उसे अधिमास और जिसमे दो सक्रान्तियाँ होती हैं उसे क्षयमास कहते हैं। परन्तु इसकी दो परिभाषाएँ मिलती हैं। एक यह है—

> मेषादिस्थे सवितरि यो यो मास प्रपूर्यते चान्द्र ।
> चैत्राद्य स ज्ञेय पूर्तिद्वित्वेऽधिमासोऽन्त्य ॥

---

[1] सूर्यसिद्धान्त के मानाधिकार का १६वाँ श्लोक देखिए। इण्डियन ऐंटिक्वैरी सन् १८८८ जनवरी के अङ्क मे Twelve year cycle शीर्षक लेख मे मैंने इसका विस्तृत विवेचन किया है।

यह वचन ब्रह्मसिद्धान्त का कहा जाता है, परन्तु ब्रह्मगुप्त और शाकल्य किसी के भी ब्रह्मसिद्धान्त मे नही मिलता। माधवाचार्य (विद्यारण्य) कृत कालमाधव मे जो कि शक १३०० के आसपास बना है, यह वचन है। इसका अर्थ यह है कि मेषादि राशियों मे सूर्य के रहने पर जो चान्द्रमास पूर्ण होंगे, उन्हे चैत्रादि कहेगे और एक सौर मास में यदि दो चान्द्रमास पूर्ण होगे तो उनमे से दूसरे को अधिमास कहेगे (नाम पूर्व नियमानुसार ही रखा जायगा)। दूसरा निम्नलिखित वचन कालतत्त्वविवेचन नामक धर्मशास्त्रग्रन्थ में व्यास के नाम पर दिया है।[1]

मीनादिस्थो रविर्येषामारभप्रथमे क्षणे।
भवेत्तेब्दे चान्द्रमासाश्चैत्राद्या द्वादश स्मृता.॥

इसका अर्थ यह है कि जिन चान्द्रमासो के आरम्भकाल मे सूर्य मीनादि राशियो में रहता है उन्हे चैत्रादि कहते है। ये मास वर्ष मे १२ होते है। मासो के नाम तो दोनो पद्धतियो से एक ही आते है, पर अधिमास और क्षयमास के नाम भिन्न आते है। अधिक मास का उदाहरण—मान लीजिए किसी चान्द्रमास की कृष्ण चतुर्दशी को मेषसक्रान्ति हुई, द्वितीय मास में सक्रान्ति नही हुई, तृतीय मास की शुक्ल प्रतिपदा की वृषसक्रान्ति और चतुर्थ की शुक्ल द्वितीया को मिथुन सक्रान्ति हुई। प्रथम और द्वितीय चान्द्र-मासो की समाप्ति के समय सूर्य क्रमश मेष और वृष राशियो मे था, अत प्रथम श्लोक के अनुसार उनके नाम चैत्र और वैशाख हुए। दोनो के आरम्भकाल मे क्रमश. मीनस्थ और मेषस्थ सूर्य होने के कारण द्वितीय श्लोक से भी वे ही नाम आये। द्वितीय मास मे सक्रान्ति नही हुई है, अत. वही अधिक मास है। उसकी समाप्ति के समय सूर्य मेष मे था, अत प्रथम श्लोक के अनुसार उसका नाम चैत्र और आरम्भकाल मे मेषस्थ सूर्य होने के कारण द्वितीय श्लोकानुसार वैशाख हुआ। आजकल द्वितीय पद्धति ही सर्वत्र प्रचलित है। इसके अनुसार अधिक मास अग्रिम मास के नाम से पुकारा जाता है। भास्कराचार्य ने सिद्धान्तशिरोमणि के मध्यमाधिकार मे 'असक्रान्तिमासोऽधिमास. स्फुट स्यात्' श्लोक की टीका मे 'क्षयमासात् पूर्वं मासत्रयान्तर एकोऽधिमासोऽग्रतश्च मासत्रयान्तरितोऽन्यश्चासक्रान्तिमास स्यात्' लिखकर आगे लिखा है—'पूर्व किल भाद्रपदोऽसक्रान्तिर्जातस्ततो मार्गशीर्षो द्विसक्रान्तिस्तत पुन चैत्रोऽप्यसक्रान्ति।' इससे सिद्ध होता है कि उस समय भी वर्तमान पद्धति ही प्रचलित थी।

---

१. पूना के आनन्दाश्रम में इस ग्रन्थ की एक प्रति है (नं० ४४१३)। इसका रचनाकाल शक १५४२ है।

कालमाधव मे शक १२५९ ईश्वर सवत्सर मे श्रावण अधिक मास लिखा है । वर्तमान पद्धति से भी वही आता है, अत उस समय भी यही पद्धति रही होगी। प्रथम श्लोकानुसार उस अधिमास का नाम आषाढ आता है। एक ताम्रपत्र के लेख से ज्ञात होता है कि प्रथम श्लोकोक्त पद्धति भी कुछ दिनो तक प्रचलित थी। उसका वर्णन आगे किया है।

मध्यम और स्पष्ट अधिमास

सम्प्रति अधिक या क्षयमास स्पष्ट सक्रान्ति द्वारा लाये जाते है, पर मालूम होता है एक समय मध्यममान से अधिकमास मानने की भी पद्धति थी। मध्यमगति सदा समान नही रहती है। उसके अनुसार ३२ चान्द्रमास १६ तिथि ३ घटी ५५ पल मे अर्थात् कभी ३२ और कभी ३३ महीने मे अधिकमास आता है। मध्यमगति के अनुसार सौरमास का मान ३० दिन २६ घटी १८ पल और चान्द्रमास का मान २९ दिन ३१ घटी ५० पल आता है, अत मध्यममान से एक चान्द्रमास मे दो सक्रान्तियाँ कभी नही होती, अर्थात् क्षयमास कभी नही आता, पर सूर्य की स्पष्टगति सदा समान न होने के कारण स्पष्ट सौरमास छोटे-बडे हुआ करते है, अत. एक चान्द्रमास मे दो सक्रान्तियाँ हो सकती है, अर्थात् स्पष्टमान से क्षयमास आता है। क्षयमास आने पर वर्ष मे दो अधिमास होते है। स्पष्टमान से दो अधिमासो का लघुतम अन्तर २८ मास[1] और महत्तम अन्तर ३५ मास आता है। धरसेन चतुर्थ का गुप्तवलभी सवत् ३३० द्वितीय मार्गशीर्ष शुक्ल २ का एक ताम्रपत्र खेडा से मिला है। द्वितीय विशेषण से स्पष्ट हो जाता है कि उसमे मार्गशीर्ष अधिकमास है। गुप्तवलभी सवत् ३३० अर्थात् शक ५७० मे स्पष्टमान से कार्तिक अधिमास आता है, परन्तु मध्यममान से और 'मेषादिस्थे सवितरि' परिभाषा से मार्गशीर्ष अधिक आता है। अन्य किसी भी रीति से उपर्युक्त मार्गशीर्षाधिमास की उपपत्ति नही लगती। इससे सिद्ध होता है कि शक ५७० मे गुजरात मे मध्यममान से और 'मेषादिस्थे सवितरि' परिभाषा के अनुसार अधिकमास माना जाता था। मध्यममानिक अधिकमास के प्रचार का प्रमाण ग्रन्थो मे भी मिलता है। ज्योतिषदर्पण नामक मुहूर्तग्रन्थ मे श्रीपति (शक ९६१) के सिद्धान्तशेखर से निम्नलिखित श्लोक दिये है।

---

१. कभी-कभी २७ मास का अन्तर भी पड़ जाता है। शक १३११ में ज्येष्ठ और १३१३ में भाद्रपद अधिक था।

मध्यमरविसङ्क्रमयोर्मध्ये मध्यार्कचन्द्रयोर्योगे ।
अधिमास ससर्प स्फुटयोरहस्पतिर्भवेद्योगे ।।
मध्यग्रहसभूतास्तिथयो योग्या न सन्ति लोकेऽस्मिन् ।
ग्रहण ग्रहयुद्धानि च यतो न दृश्यानि तज्जानि ।।
रविमध्यमसक्रान्तिप्रवेशरहितो भवेदधिक ।
मध्यश्चान्द्रो मासो मध्याधिकलक्षणञ्चैतत् ।।
विद्वासस्त्वाचार्या निरस्य मध्याधिक मासम् ।
कुर्यु स्फुटमानेन हि यतोऽधिक स्पष्ट एव स्यात् ।।

इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि मध्यममान से अधिकमास मानने का प्रचार पहिले था। मध्यममान से क्षयमास बिलकुल आता ही नही, पर भास्कराचार्य ने उसका वर्णन किया है, इससे ज्ञात होता है कि उनके समय मे मध्यममान की पद्धति प्रचलित नही थी। शक १००० के लगभग उसका सर्वथा लोप हो गया होगा।

मैने और राबर्ट सेवेल ने मिलकर इगलिश मे इण्डियन कलेण्डर नामक ग्रन्थ लिखा है। उसमे सन् ३०० ईसवी से १९०० तक के स्पष्टाधिमास और सन् ३०० से ११०० तक के मध्यममान के अधिमास दिये है। (वह ग्रन्थ सन् १८९६ के जून मे छपा है।)

नर्मदा से उत्तर अधिक मास

नर्मदा के उत्तर यद्यपि सम्प्रति पूर्णिमान्त मास प्रचलित है तथापि मासों के नाम औरअधिमास अमान्तमान के ही माने जाते हैं। पूर्णिमान्त और अमान्त दोनो के शुक्ल पक्ष एक ही मास के कहे जाते है, पर दक्षिण (अमान्तमान) का कृष्ण पक्ष जिस मास का होगा, उत्तर (पूर्णिमान्तमान) वाले उसे अग्रिम मास का कृष्ण पक्ष कहेगे। दक्षिणी जिसे चैत्र शुक्ल कहते है, उसे उत्तर वाले भी चैत्र शुक्ल ही कहते हैं, परन्तु दक्षिण के चैत्र कृष्ण को उत्तर में वैशाख कृष्ण कहते है, सक्रान्ति चाहे जिस समय हो। वास्तविक पूर्णिमान्तमान की पद्धति इससे भिन्न हैं। पञ्चसिद्धान्तिका के वर्णन मे लिख चुके है कि वराहमिहिर के समय जिस पूर्णिमान्त मास मे मेषसंक्रान्ति होती थी, उसी को चैत्र कहते थें, सक्रान्ति चाहे शुक्लपक्ष मे हो या कृष्णपक्ष मे। नीचे के कोष्ठक से इसका स्पष्टीकरण हो जायगा।

वास्तव पूर्णिमान्त			अमान्त
फाल्गुन		१ शुक्लपक्ष	
	मेषेर्क	२ कृष्णपक्ष	चैत्र
चैत्र		३ शुक्लपक्ष	
		४ कृष्णपक्ष	अधिमास
वैशाख	वृषेर्क	५ शुक्लपक्ष	
		६ कृष्णपक्ष	वैशाख
ज्येष्ठ	मिथुनेर्क	७ शुक्लपक्ष	ज्येष्ठ

यहाँ वास्तव पूर्णिमान्त मान से अधिमास नही आता, क्योकि पूर्णिमा को समाप्त होने वाले प्रत्येक मास मे सक्रान्ति हुई है। अमान्त मान से तृतीय और चतुर्थ पक्ष अधिमास मे आते है। नर्मदा के उत्तर भी इसी को अधिमास मानते है। उत्तर की पद्धति मे विचित्रता यह है कि अधिमास के पूर्व और पश्चात् शुद्ध मास का एक-एक पक्ष रहता है। उपर्युक्त कोष्ठक का द्वितीय पक्ष अधिक नही बल्कि शुद्ध वैशाख का कृष्णपक्ष है, तृतीय और चतुर्थ अधिक वैशाख के है और पचम पक्ष फिर शुद्ध वैशाख का शुक्लपक्ष है।[1]

मासारम्भ

तिथि का आरम्भ और सूर्य-सक्रमण (उसका एक राशि से दूसरी मे गमन) दिन मे किसी भी समय हो सकता है और वस्तुत चान्द्र और सौर मासो का आरम्भ क्रमश इन्ही समयो से होता है, परन्तु सूर्योदय से मासारम्भ मानने से व्यवहार मे सुविधा होती है इसलिए जिस दिन सूर्योदय मे प्रतिपदा रहती है, उसी दिन चान्द्रमास का आरम्भ मान लेते है। प्रतिपदा दो दिन सूर्योदय काल मे रहने पर मासारम्भ प्रथम दिन माना जाता है। सौरमासारम्भ के निम्नलिखित कई नियम प्रचलित है।

(१. क) वगाल मे सूर्योदय और मध्यरात्रि के बीच मे सक्रान्ति होने पर पर्वकाल उसी दिन मानते है और मासारम्भ दूसरे दिन करते है। मध्यरात्रि के बाद और सूर्योदय के पूर्व सक्रान्ति हुई तो पर्वकाल दूसरे दिन और मासारम्भ तीसरे दिन मानते है। (१ ख) उडीसा प्रान्त मे अमली और बिलायती सनो के मासो का आरम्भ सक्रान्ति

---

१. नामों मे जो यह अव्यवस्था दिखाई दे रही है, उसे दूर करने के लिए उपर्युक्त उदाहरण के द्वितीय और तृतीय पक्ष को प्रथम वैशाख तथा चतुर्थ और पंचम को द्वितीय वैशाख कहते है।

के दिन ही होता है, सक्रान्ति चाहे जिस समय हो। मद्रास मे भी दो नियम है। (२. क) तमिल प्रान्त मे सूर्यास्त के पूर्व सक्रान्ति होने पर उसी दिन और सूर्यास्त के बाद होने पर दूसरे दिन मासारम्भ मानते है। (२ ख) मलावार प्रान्त मे अपराह्ण का आरम्भ होने के पूर्व सक्रान्ति होने पर उसी दिन और बाद मे होने पर दूसरे दिन मासारम्भ मानते है।[1] मैने ये चार नियम उन प्रान्तो के पञ्चाङ्गो तथा कुछ अन्य बातो के आधार पर लिखे है, पर इनके अपवाद भी हो सकते है। मद्रास मे छपे हुए शक १८१५ के एक तमिल पञ्चाङ्ग मे मध्यरात्रि के पूर्व सक्रान्ति होने पर उसी दिन और बाद मे होने पर दूसरे दिन मासारम्भ माना है। कलकत्ता हाईकोर्ट की आज्ञा से एक कोष्ठक (Chronological Tables) प्रति वर्ष छपता है। उसमे सन् १८८२, १८८३ ई० की पुस्तक मे विलायती सन् के महीनो का आरम्भ इसी नियम के अनुसार किया गया है।

पञ्चाङ्ग के अङ्ग

अब पञ्चाङ्ग के मुख्य पाँच अङ्गो का विचार करेगे। पञ्चाङ्ग के तिथि, वार, नक्षत्र, योग और करण ये पाँच अङ्ग माने जाते है। आकाश मे सूर्य और चन्द्रमा के एकत्र होने पर अर्थात् उनका योग समान होने पर अमावास्या समाप्त होती है। इसके बाद गति अधिक होने के कारण चन्द्रमा सूर्य से आगे जाने लगता है। दोनो मे १२ अश का अन्तर पडने मे जितना समय लगता है उसे तिथि कहते है। इस प्रकार दोनो के पुन एकत्र होने तक अर्थात् एक चान्द्रमास मे (३६० ÷ १२) ३० तिथियाँ होती है। सूर्य और चन्द्रमा मे ६ अश अन्तर पडने मे जो समय लगता है उसे करण कहते है।[2] एक सूर्योदय से दूसरे सूर्योदय तक के काल को वार कहते है। नक्षत्रमण्डल के आठ-आठ सौ कलाओ के २७ समान भाग माने गये है प्रत्येक भाग को और उसे भोगने मे चन्द्रमा को जितना समय लगता है, उसे नक्षत्र कहते है। सूर्य-चन्द्र के भोगो के योग द्वारा योग

---

१. त्रिचनापल्ली निकटस्थ श्रीरंगम् से ५ मील उत्तर कन्ननूर नामक स्थान में एक मन्दिर में शक ११९६ का एक शिलालेख है। उसमें २ क, २ ख में से एक नियम है, यह बात सिद्ध हो चुकी है। देखिए Epigraphia Indica, III p. 10

२. परन्तु वस्तुतः पञ्चाङ्गो में करण का अलग साधन नहीं करते अर्थात् सूर्य-चन्द्र में ६ अंश अन्तर पड़ने में तात्कालिक गत्यन्तर द्वारा जो समय आयेगा उसे करण नहीं मानते, बल्कि तिथिकाल के आधे को करणकाल कहते है और ऐसा ही विधान भी है (—अनुवादक)।

लाया जाता है। सूर्य और चन्द्रमा की गति का योग ८०० कला होने मे जितना समय लगता है उसे योग कहते है।

पाँचों अङ्गों का प्रचारकाल

हमारे यहाँ पञ्चाङ्ग बनाने की प्रथा बडी पुरानी है। पञ्चाङ्ग तभी से प्रचलित हुआ होगा जब कि हमें ज्योतिष का थोडा-बहुत ज्ञान होने लगा था, पर यह निश्चित है कि वह पुराना पञ्चाङ्ग आज सरीखा नही था। पञ्च-अङ्ग के स्थान मे पहिले किसी समय चतुरग, त्र्यङ्ग, द्व्यङ्ग अथवा एकाङ्ग भी प्रचलित थे और लिपि का ज्ञान होने के पहिले तो कदाचित् जबानी ही उनका ज्ञान कर लेते रहे होगे। परन्तु इतना अवश्य है कि ज्योतिषस्थिति-दर्शक कोई पदार्थ अति प्राचीन काल से ही प्रचजित रहा है। यहाँ उसे ज्योतिर्दर्पण कहेंगे। वेदो मे भी लिखा है कि अमुक दिन, नक्षत्र और ऋतु मे अमुकामुक कर्म करने चाहिए, अत स्पष्ट है कि ज्योतिर्दर्पण बहुत प्राचीन है। उसका प्रथम अङ्ग सावन दिन है। सम्प्रति सावन दिन के स्थान मे वार का प्रयोग किया जाता है। सावन दिन के बाद नक्षत्रो का ज्ञान हुआ और नक्षत्र दूसरा अग बना। उसके बाद तिथि का ज्ञान हुआ। वेदाङ्गज्योतिषकाल अर्थात् शकपूर्व १४००वें वर्ष मे तिथि और नक्षत्र अथवा सावन दिन और नक्षत्र दो ही अङ्ग थे। तिथि का मान लगभग ६० घटी होता है अर्थात् उसे अहो-रात्र-दर्शक कहना चाहिए। तदनुसार केवल दिन अथवा केवल रात्रि के दर्शक तिथ्यर्ध अर्थात् करण नामक अङ्ग का प्रचार तिथि के थोडे ही दिनो बाद हुआ होगा और उसके बाद वार प्रचलित हुए होगे। अथर्वज्योतिष मे करण और वार दोनो है। पहले लिख चुके है कि हमारे देश में शकारम्भ के ५०० वर्ष पूर्व मेषादि सज्ञाओ का प्रचार हुआ होगा और यह भी दिखा चुके है कि अथर्वज्योतिष और याज्ञवल्क्यस्मृति से ज्ञात होता है कि राशियो का ज्ञान होने के कई शतब्दी पूर्व वारो का ज्ञान हुआ होगा। एक अन्य ग्रन्थ मे भी इसका प्रमाण मिलता है। ऋग्गृह्य-परिशिष्ट मे तिथि,करण, मुहूर्त, नक्षत्र, तिथि की नन्दादि सज्ञाओ, दिनक्षय और वार का वर्णन है, पर मेषादि राशियाँ नही है। ये तीनो ग्रन्थ मेषादि राशियो का प्रचार होने के पहिले के है पर तीनो एक ही समय नही बने होगे। इससे ज्ञात होता है कि वारो का प्रचार मेषादि सज्ञाओ से कई शताब्दी पूर्व हुआ है। वारो और मेषादि सज्ञाओ की उत्पत्ति सर्वप्रथम चाहे जहाँ हुई हो पर उनका सर्वत्र प्रचार होने मे अधिक समय नही लगा होगा, क्योकि उनमे गणितादि का कोई प्रपञ्च नही है। उनकी उत्पत्ति चाहे जहाँ हुई हो, पर उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारे देश मे दोनो एक साथ नही प्रचलित हुए है। वारो का

प्रचार मेषादि राशियो से लगभग ५०० वर्ष पूर्व अर्थात् शकपूर्व १००० के आसपास हुआ होगा। शकपूर्व ४०० से अर्वाचीन तो वे नही ही है।[1]

करण नामक काल-विभाग तिथि द्वारा अपने आप ध्यान मे आने योग्य है, अत तिथि के कुछ ही दिनो बाद और वार के पूर्व उसका प्रचार हुआ होगा। वेदाङ्गकालीन जिन ग्रन्थो का विवेचन पीछे किया है, उनमे से अथर्वज्योतिष, याज्ञवल्क्यस्मृति और ऋग्गृह्यपरिशिष्ट, इन तीन मे वार आये है और इन तीनो मे से याज्ञवल्क्यमृति मे करण नही है, शेष दो मे है। इससे शका होती है कि वार के पहिले करणो का प्रचार नही रहा होगा। यदि यह ठीक है तो दोनो का प्रचार प्राय एक ही समय हुआ होगा अथवा करण वारो के कुछ दिनो बाद शीघ्र ही प्रचलित हुए होगे। यह निश्चित है कि वे शकपूर्व ४०० से अर्वाचीन नही है।[2]

शनिवार, रविवार, सोमवार इत्यादि वारक्रम की उपपत्ति पहिले लिख चुके हैं। उससे ज्ञात होता है कि इस क्रम का मूल कारण होरा नामक कालविभाग है। निम्नलिखित और भी एक प्रकार से इसकी उपपत्ति लगायी जा सकती है। चन्द्रमा से आरम्भ कर ऊर्ध्वक्रम से घटिकाधिपति मानें तो प्रथम दिन का स्वामी अर्थात् प्रथम दिन की प्रथम घटी का स्वामी चन्द्रमा और दूसरे दिन की प्रथम घटी अर्थात् दूसरे दिन का स्वामी (चूकि ६० मे ७ का भाग देने से शेष ४ बचता है) उससे पाँचवाँ अर्थात् मङ्गल होगा। वराहमिहिर ने पञ्चसिद्धान्तिका के त्रैलोक्य सस्थान मे लिखा भी है—"ऊर्ध्वंक्रमेण दिनपाश्च पञ्चमा।" परन्तु इस पक्ष मे आपत्ति यह है कि होराधिपो का वर्णन वराहमिहिरादिको के ग्रन्थो मे है, परन्तु घटिकाधिप की चर्चा किसी ने भी नही की है। दूसरी विप्रतिपत्ति यह है कि इस पद्धति में प्रथम वार सोम आता है, जिसका

---

१. रोमकसिद्धान्त कितना भी नवीन हो पर यह निश्चित है कि वह शकारम्भ के बाद का नहीं है। सूर्यादिक प्राचीन चार सिद्धान्त उससे प्राचीन हैं। ज्योतिषसंहिताएं उनसे भी प्राचीन है और मेषादि संज्ञाएँ संहिताओं से भी प्राचीन है। अतः मेषादि संज्ञाएँ शकपूर्व ३०० के बाद की कभी भी नही हो सकती और वार उनसे कम से-कम १०० वर्ष प्राचीन अवश्य है।

२. महाभारत में मेषादि संज्ञाए उनसे प्राचीन वार और करण भी उल्लिखित नहीं है, अतः उसकी रचना कम-से-कम शकपूर्व ४०० वर्ष से पहले ही हुई होगी। ऋग्गृह्य-परिशिष्ट, अथर्वज्योतिष और याज्ञवल्क्यस्मृति का रचनाकाल शकपूर्व ३०० वर्ष से अर्वाचीन नहीं है।

एक भी प्रमाण नही मिलता। अत मानना पडता है कि वारो की उत्पत्ति होरा से ही हुई है और यह कालविभाग तथा यह शब्द हमारे देश का नही है।

वारो की उत्पत्ति हमारे देश मे नही हुई है, क्योकि उनकी उत्पत्ति का सम्बन्ध होरा नामक पदार्थ से है जो कि हमारे देश का नही है। साथ ही साथ इसके सम्बन्ध मे एक और भी बडे महत्व की बात है। पहले बता चुके है कि होराधीश शनि, गुरु, भौम इत्यादि क्रम से माने जाते है,अत जिसने होराधीश निश्चित किये होगे उसे पृथ्वी की प्रदक्षिणा करनेवाले ग्रहो का चन्द्र, बुध, शुक्र इत्यादि क्रम ज्ञात रहा होगा अर्थात् उसे ग्रहगति का उत्तम ज्ञान रहा होगा। ज्योतिष के प्राचीन इतिहास मे यह बात बडे महत्त्व की है। हमारे ज्योतिषगणित-ग्रन्थो मे ग्रहगति सूर्य, चन्द्र, मङ्गल इत्यादि वारो के क्रम से लिखी है चन्द्र बुध शुक्र इत्यादि कक्षाक्रम से नही। वारो का प्रचार होने के पहिले यदि गत्यनुसारी ग्रहक्रम का ज्ञान रहा होता तो हमारे आचार्य ग्रहगति सूर्य, चन्द्र इत्यादि क्रम से नही बल्कि चन्द्र बुध, शुक्र इत्यादि क्रम से लिखते, पर उन्होने ऐसा नही किया है। ग्रहक्रम का ज्ञान होने के पहिले से हमारे मन मे समाया हुआ वारक्रम का महत्त्व, किंबहुना, पूज्यत्व ही इसका कारण है। दूसरे यह कि ज्योतिषसहिता,-ग्रन्थो मे ग्रहचार प्रचरण मे ग्रहो का वर्णन सूर्य, चन्द्र मङ्गल इत्यादि क्रम से ही रहता है। कुछ सहिताग्रन्थ सूर्यसिद्धान्तादि गणित ग्रन्थो से प्राचीन है और वारोत्पत्ति के लिए जितने ज्ञान की आवश्यकता है उतना उनमे नही दिखाई देता। इन दोनो हेतुओ और होरा नामक कालविभाग हमारे देश का नही है इस बात से यह सिद्ध होता है कि वार हमारे देश मे नही उत्पन्न हुए है।

उपर्युक्त कथन मे यह भी गर्भित है कि यदि हमने गत्यनुसारी ग्रहक्रम का ज्ञान स्वय प्राप्त किया हो तो भी हमसे पहिले परदेशी उसे प्राप्त कर चुके थे।

सम्प्रति भूमण्डल मे जहाँ-जहाँ वार प्रचलित है, सर्वत्र सात ही है और उनका क्रम भी सर्वत्र एक है, अत वारो की उत्पत्ति किसी एक ही स्थान मे हुई होगी। किसी यूरोपियन विद्वान् ने उनका उत्पत्तिस्थान मिस्र और किसी ने खाल्डिया बताया है। कनिघम का कथन है[1] कि "डायन काशिअस (सन् २०० ई०) ने लिखा है कि वारो की पद्धति मिस्र देश की है, पर मिस्र के लोग सात दिन के सप्ताह द्वारा मास का विभाग नही करते थे, बल्कि वे एक-एक भाग दस-दस दिन का मानते थे।" इससे कहा जा सकता है कि वारो का उद्गम स्थान मिस्र नही है, पर वहाँ की प्राचीन लिपि और प्राचीन भाषा मे निष्णात रेनुफ नामक विद्वान् ने अपने सन् १८९० ई० के ग्रन्थ में

---

१. Indian Antiquary, XIV p. 1-4

लिखा है[1] कि मिस्र देश में अहोरात्र का होरा या होरस् देवता मानते थे। इससे ज्ञात होता है कि प्राचीन मिस्र मे होरा शब्द और वह कालविभाग प्रचलित था, अत. वहाँ वारो की उत्पत्ति की भी सम्भावना हो सकती है। आजकल होरा शब्द ग्रीक माना जाता है, परन्तु हिराडोटस (ई० पू० ५वी शताब्दी) का कथन है कि वह कालविभाग ग्रीको की वस्तुत बाबिलोन अर्थात् खाल्डिया से ही मिला है। पहिले गत्यनसारी ग्रहक्रम का ज्ञान खाल्डिया और मिस्र दोनो मे से किसी एक को था या नही, यदि था तो किसे था और पहिले किसे प्राप्त हुआ, इसका पता नही लगता, अत वारो का उत्पत्ति-स्थान निश्चयपूर्वक नही बताया जा सकता। सम्भव है कि उनकी उत्पत्ति ग्रीस मे हुई हो, परन्तु यह निश्चित है कि उनका उत्पत्ति-स्थान इन तीनो देशो के अतिरिक्त अन्य नही है।

अन्य देशो में वारो का प्रचार कब से है, इसके विषय मे कनिंघम ने लिखा है[2] कि "(रोमन) टिब्युलस ने ई० पू० २० मे शनिवार का उल्लेख किया है और जुलिअसफण्टिनस (सन् ७०—८० ई०) ने लिखा है कि जरुसलेम शनिवार को लिया गया। इससे ज्ञात होता है कि रोमन लोगो ने ईसवी सन् के आरम्भ के आसपास वारो का व्यवहार आरम्भ किया था। परन्तु उसके लगभग अथवा उसके पूर्व ही ईरानी और हिन्दुओ को वार ज्ञात हो चुके थे। सेलसस ने—जो आगस्टस (ई० पू० २७) और टायबेरिअस नामक रोमन राजाओ के राज्यकाल मे था—लिखा है कि ईरान के मन्दिर मे सात ग्रहो के नाम के दरवाजे थे और वे उन्ही धातुओ और रगो से बनाये गये थे जो कि उन ग्रहो को प्रिय है।[3]"

हमारे देश में अब तक अनेको ताम्रपत्र और शिलालेख मिले है। उनमे वारो के प्रयोग का प्राचीनतम उदाहरण शक ४०६ का है। मध्यप्रान्त के एरन नामक स्थान में एक खम्भे पर बुधगुप्त राजा का गुप्त-वर्ष १६५ अर्थात् शक ४०६ आषाढ शुक्ल १२ गुरुवार का एक शिलालेख है। सम्प्रति इससे प्राचीन ज्योतिष का ऐसा कोई भी पौरुष ग्रन्थ उपलब्ध नही है, जिसके लेख से यह विदित होता हो कि सचमुच वह शक ४०६ से प्राचीन है।

---

१. मत्कृत धर्ममीमांसा, भौतिक धर्म, पं० १२७ देखिए।

२. Indian Antiquary, xiv p. 1-4

३. हमारे ग्रन्थों में भी लिखा है कि किस ग्रह को सुवर्णादि कौन-सी धातु और कौन-सा रंग प्रिय है। कोई-कोई सातवारों को भिन्न-भिन्न सात रंगों की पगड़ियाँ पहनते हैं।

योगों का उत्पत्तिकाल

केरोपन्त ने लिखा है (ग्रहसाधनकोष्ठक, पृष्ठ १६३) कि "पता नही चलता, करण आकाशस्थ ग्रहो की कौन सी स्थिनि दिखाते है। इनका उपयोग केवल फलग्रन्थो मे है, उनका यह कथन ठीक नही है । करण तिथि का आधा होता है। जैसे तिथि से यह ज्ञात होता है कि सूर्य और चन्द्रमा मे १२ अश और अधिक अन्तर हो गया उसी प्रकार करण बताता है कि सूर्य-चन्द्रमा का अन्तर ६ अश और बढ गया। करण का मान लगभग ३० घटी है, अत वह एक उचित कालविभाग है। करण पर नही पर केरोपन्त का कथन विष्कम्भादि २७ योगो पर लागू हो सकता है। एक मनुष्य पूना से १० कोस पर और दूसरा २० कोस पर है। दोनो का योग ३० कोस हुआ। यह ३० कोस किसी भी स्थिति का द्योतक नही है और मेरी तो धारणा है कि पञ्चाङ्ग के पाँच अङ्गो मे योग का प्रवेश अन्य अङ्गो के कई शताब्दी बाद हुआ है। पञ्चसिद्धान्तिका मे तिथि और नक्षत्रसाधन की रीति है पर योगसाधन की नही है। इसी प्रकार बृहत्सहिता मे नक्षत्रो के फल के विषय मे बहुत लिखा है, पर योगो के विषय मे कुछ भी नही। इससे मुझे ज्ञात होता है कि वराहमिहिर के समय योग नही थे। आर्यभट ने तिथि और नक्षत्र निकालने की रीति नही लिखी है, अत उनके सम्बन्ध मे योगो के विषय मे कुछ नही कहा जा सकता।

ब्रह्मगुप्त ने ब्रह्मसिद्धान्त मे तिथि-नक्षत्रानयन की रीति दी है । वही योग लाने की भी एक आर्या है, परन्तु मुझे वह प्रक्षिप्त मालूम होती है, क्योकि पूना कालेज की जिस प्रति की मैने नकल की है, उसमे वह आर्या ६२वी और ६३वी आर्याओ के मध्य मे है अर्थात् उसके आगे श्लोकसख्या नही लिखी है। वह आर्या दूसरे अध्याय मे है। उस अध्याय के अन्त मे ब्रह्मगुप्त ने श्लोकसख्या ६७ लिखी है,पर उस आर्या को भी गिनने से श्लोक-सख्या ६८ हो जाती है। दूसरी बात यह कि उस पर पृथूदक की टीका नही है। इतना ही नही, पृथूदकटीका वाली पुस्तक मे वह आर्या है ही नही। इसके अतिरिक्त तिथि, नक्षत्र और करण शब्दो को ब्रह्मगुप्त ने कई स्थानो मे एकत्रित लिखा है, पर उनमे योग का नाम कही भी नही है। यथा—

(१) सक्रान्तिभतिथिकरणव्यतिपाताद्यन्तगणितानि ।।६६।।

(२) ज्यापरिधिस्पष्टीकरणदिनगतिचरार्धभतिथिकरणेषु ।।६७।।

(अध्याय २)

(३) सक्रान्तेराद्यन्तौ ग्रहस्य यो राशिभतिथिकरणान्तान् ।
व्यतिपाताद्यन्तौ वा यो वेत्ति स्फुटगतिज्ञ स ।।३६।।
(४) एव नक्षत्रान्तात्तिथिकरणान्ताच्छशिप्रमाणार्द्धात् । १।।
(अध्याय १४)

इस प्रकार ब्रह्मसिद्धान्त मे ४ स्थानो मे नक्षत्रतिथिकरणो का एकत्र उल्लेख रहते हुए उनमे योग का नाम एक जगह भी नही है। खण्डखाद्य मे सम्प्रति योगसाधनोपयोगी एक आर्या मिलती है, पर वह भी प्रक्षिप्त ही है। बेरुनी ने खण्डखाद्य की बहुत सी बाते लिखी है, पर योग नही दिये है (इण्डिका भाग २, पृष्ठ २०९)। उसने लिखा है कि करणतिलक मे २७ योग है। यदि खण्डखाद्य मे योगानयन की रीति होती तो बेरुनी के ग्रन्थो मे उसका वर्णन अवश्य रहता। इससे सिद्ध होता है कि ब्रह्मगुप्त के समय भी योग नही थे।

अथर्वज्योतिष मे लिखा है कि अमुक मुहूर्त, तिथि, करण मे अमूकामुक कर्म करने चाहिए पर उसमे योगो सम्बन्धी कर्म नही लिखा है। इसके आगे लिखा है—

चतुर्भि कारयेत् कर्म सिद्धिहेतोर्विचक्षण ।
तिथि-नक्षत्र-करण-मुहूर्तेनेति नित्यश. ।।

यहाँ शुभ कर्म मे तिथि, नक्षत्र, करण और मुहूर्त का ही ग्रहण किया है। योग का नाम नही लिया है, परन्तु इसके आगे लिखा है—

तिथिरेकगुणा प्रोक्ता नक्षत्रञ्च चतुर्गुणम् ।
वारश्चाष्टगुणः प्रोक्त. करण षोडशान्वितम् ।।८०।।
द्वात्रिंशद्गुणको योगस्तारा षष्टिसमन्विता ।
चन्द्र शतगुण. प्रोक्त ।।९१।।

यहाँ योग शब्द आया है पर उसका अर्थ दूसरा है। अमुक नक्षत्र और अमुक वार का सयोग होने से अमुक योग होता है, इस प्रकार फलग्रन्थो मे २८ योग बताये हैं यह योग वही होगा अथवा यह श्लोक ही प्रक्षिप्त होगा। ऋग्गृह्यपरिशिष्ट में योग नहीं है।

वर्तमान धी वृद्धिदतन्त्र मे योग है, परन्तु वे प्रक्षिप्त होगे अथवा उसकी रचना गनके कुछ ही पूर्व उस प्रान्त मे उनका प्रचार हुआ होगा। इन सब बातो से मुझे यह ब्रह्मसशय प्रतीत होता है कि शक ६०० पर्यन्त योग नामक अङ्ग पञ्चाङ्ग मे नही था। ब्रह्मगुप्त की उपर्युक्त आर्याओ मे व्यतीपात शब्द दो जगह आया है परन्तु वह व्यतीपात २७

योगो मे का नही है, बल्कि उसका सम्बन्ध सूर्य-चन्द्र के क्रान्तिसाम्य से है जिसे सम्प्रति महापात भी कहते है। पूर्वापर सन्दर्भ और टीका इत्यादिको का विचार करने से इस विषय मे सन्देह नही रह जाता। क्रान्तिसाम्य जानने का एक स्थूल साधन—जिसका गणितग्रन्थो मे उपयोग भी किया रहता है—यह है कि सूर्य और चन्द्रमा (के भोगो का योग ६ या १२ राशि होने पर उनका क्रान्तिसाम्य होता है। इनमे से पहिले को व्यतीपात और दूसरे को वैधृति कहते है। यह क्रान्तिसाम्य लाने के लिए सूर्य-चन्द्रमा का योग करना पडता है। सम्भवत इसी आधार पर जैसे सूर्य-चन्द्र के अन्तर द्वारा तिथि लाते थे उसी प्रकार सदा उनके योग द्वारा २७ योग लाये गये होगे।

सूक्ष्म नक्षत्र

एक नक्षत्र का मान सामान्यत क्रान्तिवृत्त का २७वाँ भाग अर्थात् ८०० कला है, परन्तु प्राचीन काल मे एक और पद्धति प्रचलित थी। उसमे कुछ नक्षत्रो को अर्धभोग, कुछ को समभोग (एक भोग) और कुछ को अध्यर्ध (डेढ) भोग मानते थे। यह पद्धति गर्गादिको ने फलादेश के लिए लिखी है—ऐसा कहकर ब्रह्मगुप्त ने और तदनुसार भास्कराचार्य ने उसका उल्लेख किया है। उसमे भरणी, आर्द्रा, आश्लेषा, स्वाती, ज्येष्ठा और शतभिषक् ये ६ नक्षत्र अर्धभोग, रोहिणी, पुनर्वसु, उत्तरात्रय, विशाखा ये ६ अध्यर्ध भोग और शेष १५ समभोग माने गये है।

गर्गपद्धति, ब्रह्मसिद्धान्तपद्धति

गर्ग ने भोग का प्रमाण ८०० कला और ब्रह्मगुप्त ने चन्द्र-मध्यम-दिनगति अर्थात् ७९० कला ३५ विकला माना है। इसीलिए ब्रह्मसिद्धान्त मे अभिजित् नक्षत्र लेकर चक्रकला की पूर्ति के लिए उसका भोग (चक्रकला—२७ × ७९०।३५=) ४ अश १४ कला १५ विकला दिया है। नारद ने इस पद्धति के अनुसार अर्धभोग नक्षत्रो का कालात्मक मान १५ मुहूर्त (३० घटी), समभोग वालो का ३० मुहूर्त और अध्यर्ध भोग वालो का ४५ मुहूर्त लिखा है और मध्यम मान से यह ठीक भी है। मालूम होता है इस पद्धति का कुछ दिनो तक प्रत्यक्ष व्यवहार किया जाता था। कन्नौज के राजा भोजदेव का एक शिलालेख झाँसी से लगभग ६० मील नैर्ऋत्य की ओर देवगढ नामक स्थान मे मिला है। उसमे लिखा है—"सवत् ९१९ आश्विन-शुक्लपक्ष-चतुर्दश्या बृहस्पतिदिने उत्तराभाद्रपदानक्षत्रे...शककालाब्दसप्तशतानि चतुरशीत्यधिकानि ७८४।" इसमे लिखे हुए नक्षत्र की सङ्गति उपर्युक्त गर्गोक्त या ब्रह्मसिद्धान्त पद्धति से ही लगती है, ८००

कला का नक्षत्र मानने से नही लगती।[1] आजकल सूर्य की सक्रान्ति जिस दैनन्दिन नक्षत्र मे होती है, उसी के मान के अनुसार उसका १५, ३० या ४५ मुहूर्त मान लेते है और तदनुसार सुभिक्ष-दुर्भिक्ष का निर्णय करते है। इसका मूल यह उपर्युक्त पद्धति ही है। नक्षत्रो का भोग आधा, सम या डेढ गुना मानने का मूल कारण नक्षत्रो के तारो का समान अन्तर पर न होना ही होगा। नक्षत्र-चक्र के आरम्भ का विवेचन पहले कर चुके है।

भिन्न-भिन्न प्रान्तों के पञ्चाङ्ग

अब यहाँ इस देश के भिन्न-भिन्न प्रान्तो मे प्रचलित पञ्चाङ्गो का विचार करेगे। मैने अनेक प्रान्तो के पञ्चाङ्ग देखे है और वे मेरे सग्रह मे भी है। उनके अवलोकन से ज्ञात होता है कि सब प्रान्तो के पञ्चाङ्गो की पद्धति प्राय एक ही है। उनमे तिथि, नक्षत्र, योग और करण के घटी-पलो मे एव सक्रान्तिकाल तथा स्पष्टग्रहो मे थोडा बहुत अन्तर पड जाता है, पर उसका कारण यह है कि भिन्न-भिन्न प्रान्तो मे पञ्चाङ्ग सौर, ब्राह्म अथवा आर्यपक्ष के भिन्न-भिन्न ग्रन्थो द्वारा बनाये जाते है।

तीन पक्ष

इन तीनो पक्षो के विषय मे पिछले पृष्ठो मे थोडा लिख चुके है। ग्रहलाघव (शक १४४२) मे इन तीनो पक्षो का स्पष्ट उल्लेख है। गणेश दैवज्ञ ने लिखा है कि अमुक पक्ष का अमुक ग्रह ठीक मिलता है और तदनुसार उन्होने उसे ग्रहण किया है। उनके मत मे सूर्यसिद्धान्त, करणप्रकाश और करणकुतूहल क्रमश सौर, आर्य और ब्राह्म पक्ष के ग्रन्थ है। मुहर्तमार्तण्ड नामक मुहूर्तग्रन्थ मे (शक १४९३) भी इन पक्षो का स्पष्ट उल्लेख है। विश्वनाथी टीका इत्यादि ग्रन्थो मे भी कही-कही इनका वर्णन मिलता है। इस समय भी इन तीनों पक्षो के अभिमानी ज्योतिषी हैं। वैष्णव आर्यपक्ष को मानते है। सुधाकर ने लिखा है कि माध्वसम्प्रदाय के कृष्णामृतवाक्यार्थ नामक ग्रन्थ मे निम्नलिखित वाक्य हैं—

"विष्णोश्च जन्मदिवसाश्च हरेर्दिनञ्च विष्णुव्रतानि विविधानि च विष्णुभ च।
....कार्याणि चार्यभटशास्त्रत एव सर्वे ॥"
"आर्यभटसिद्धान्तसम्मतकरण प्रकाशग्रन्थ"

---

१. मेरा किया हुआ इसका ब्यौरेवार गणित इण्डि० ऐंटि०, जनवरी १८८८ पृष्ठ २४ में देखिए। उसी अंक के Twelve-year cycle of Jupitor **निबन्ध में मैंने इस पद्धति का विस्तृत विवेचन किया है।**

स्मृत्यर्थसार नामक धर्मशास्त्र ग्रन्थ मे भी इसी अर्थ के कुछ वाक्य मिले है । मालूम होता है गणेश दैवज्ञ के समय इन तीन पक्षो का अभिमान दृढ हो गया था जिसके कारण सबको प्रसन्न रखने के लिये उन्हे यह युक्ति निकालनी पडी कि मैने अमुक पक्ष का अमुक ग्रह लिया है, अन्यथा उन्हे जो ग्रह लेने थे वे सब 'आर्य सेषुभाग शनि' की तरह अथवा कुछ बीजसस्कार मानकर किसी भी एक ही ग्रन्थ से लिये जा सकते थे । करण-कुतूहल के पूर्व का ब्रह्मपक्षीय ग्रन्थ राजमृगाक उसके सर्वथा समान था। उसका रचना-काल शक ९६४ है । लल्लोक्त बीजसस्कार उससे लगभग ३०० वर्ष पहिले का है (आर्यसिद्धान्त मे उसका सस्कार करके करणप्रकाश ग्रन्थ बना है, और वर्तमान सूर्यसिद्धान्त का प्राबल्य भी अनुमानत लगभग लल्ल के समय से ही है, अर्थात् ये तीनो पक्ष बडे प्राचीन है परन्तु राजमृगाक के समय से इनके भिन्नत्व की दृढ स्थपना हुई होगी और एक-एक पक्ष का विशेष अभिमान उत्पन्न हुआ होगा ।[1] कोई मनुष्य जिस किसी ग्रन्थ से गणित करता है उसके वशज और शिष्य भी प्राय. उसी का अनुकरण करते है और इस प्रकार स्वभावत उनका उस ग्रन्थ और पक्ष के प्रति अभिमान बढता जाता है। कभी-कभी भिन्न पक्ष के अनुयायियो मे द्वेष भी हो जाता है । वस्तुत इन पक्षो मे भेद इतना ही है कि उनके वर्षमान और ग्रहगतियो मे थोडी भिन्नता होने के कारण सूर्यसक्रान्ति मे कुछ घटियो का और अन्य ग्रहो के सक्रमण काल मे ग्रहो की शीघ्रमन्द गति के अनुसार कुछ दिनो का अन्तर पड जाता है । वस्तुत उन पक्षो के लिए ततत् सिद्धान्तो के आधार नाम मात्र का है, यह हम उन सिद्धान्तो के वर्णन मे दिखा चुके है। ज्योतिषियो को अपने समय मे वेध द्वारा ग्रहो मे जितना अन्तर दिखाई पडा उसे दूर करने के लिए उन्होने अपनी इच्छानुसार भिन्न-भिन्न बीजसस्कारो की कल्पना की है, अत किसी पक्षविशेष का दुरभिमान करना व्यर्थ है ।

पञ्चाङ्ग का गणित और प्रसिद्धि

मैने इस प्रान्त मे छपा हुआ सबसे पुराना पञ्चाङ्ग शक १७५३ का देखा है । इससे अनुमान होता है कि महाराष्ट्र मे लगभग इसी समय से पञ्चाङ्ग छपने लगा था । बम्बई और पूना मे मराठी लिपि मे जितने पञ्चाङ्ग छपते है वे सब ग्रहलाघव और लघु-चिन्तामणि से बनाये जाते है। तिथि, नक्षत्र और योग के घटी-पल लघुचिन्तामणि से लाते है और शेष गणित ग्रहलाघव से करते है। कोकण प्रान्त मे लघुचिन्तामणि की अपेक्षा बृहत्चिन्तामणि का अधिक प्रचार है। उसके द्वारा लाये हुए तिथ्यादिको के

---

1. इससे प्राचीन इसके तुल्य कोई ग्रन्थ अभी तक मुझे नहीं मिला है।

घटीपलो मे कुछ पलो का सूक्ष्मत्व रहता है। बम्बई और पूना के पञ्चाङ्गो मे पलभा ४ और देशान्तर ४० योजन पश्चिम मानते है। बहुत दिनो तक प्राय मुद्रित पञ्चाङ्गो का गणित वसई से आबा जोशी मोघे करते थे। लगभग शक १७९८ से उनके पुत्र पाडुरग आबा करने लगे थे। शक १८१८ से उनके पुत्र रामचन्द्र पाडुरग करते है। निर्णयसागर प्रेस का पञ्चाङ्ग बहुत दिनो से वसई के ही चिन्तामणि पुरुषोत्तम पुरन्दरे जोशी बनाते है। यह पञ्चाङ्ग और गणपत कृष्णाजी के प्रेस का पञ्चाङ्ग जिसे मोघे बनाते है, दोनो मे औरो की अपेक्षा विशेषता केवल इतनी ही है कि इनके कुछ पदार्थ दूसरो की अपेक्षा कुछ अधिक सूक्ष्म रहते है। वस्तुत बम्बई और पूना के छपे हुए सब पञ्चाङ्ग बिलकुल एक ही है और सम्पूर्ण महाराष्ट्र मे इनका प्रचार है ऐसा कहने मे कोई आपत्ति नही है। बहुत से पुस्तकविक्रेताओ से मुझे पता लगा है कि बम्बई और पूना के पञ्चाङ्गो की खपत हैदराबाद राज्यनिवासी सभी महाराष्ट्र-भाषाभाषियो मे तथा सरहद पर के तैलगी और कर्नाटकी प्रान्तो मे भी होती है। महाराष्ट्र मे कुछ जिलो के मुख्य स्थानो मे कभी कभी पञ्चाङ्ग छपते है वे भी ग्रहलाघवीय ही रहते है। बेलगॉव और धारवाड मे छपे हुए पञ्चाङ्गो का व्यवहार वहॉ आसपास के प्रान्तो मे होता है वे पञ्चाङ्ग भी ग्रहलाघवीय ही है। बीजापुर और कारवाड जिलो मे तथा मद्रास प्रान्त के बेलारी जिले मे ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्ग ही चलता है। मद्रास की ओर कानडी जिलो मे भी अनुमानत यही पञ्चाङ्ग चलता होगा। बरार और नागपुर प्रान्तो मे भी ग्रह-लाघवीय पञ्चाङ्ग का ही व्यवहार होता है। इन्दौर और ग्वालियर राज्यो मे राज्य की ओर से अथवा राज्य के आश्रय से इस समय जो पञ्चाङ्ग छपते है और इसी कारण जो वहॉ प्रायः या यो कहिए कि सर्वत्र प्रचलित है वे भी ग्रहलाघवीय ही है। इस प्रकार जहा दक्षिणी लोगों का प्राबल्य है अथवा जहा उनकी बस्ती अधिक है उन सभी स्थानो मे ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्ग का ही प्रचार होगा।

बम्बई के 'अखबारे सौदागर' प्रेस से गुजराती लिपि तथा गुजराती और सस्कृत भाषा में छपा हुआ एक पञ्चाङ्ग मेरे पास है। वह बम्बई के मराठी पञ्चाङ्गो के बिलकुल समान है। बम्बई मे छपे हुए और बम्बई मे या अन्यत्र रहने वाले गुजराती लोगों मे प्रचलित सभी पञ्चाङ्ग सभवत ऐसे ही होगे। नवसारी से हमारे एक मित्र लिखते है कि यहॉ केवल बम्बई के ही छपे हुए पञ्चाङ्ग चलते है। बम्बई के पञ्चाङ्गो का प्रचार सूरत मे भी है। काठियावाड से हमारे एक मित्र लिखते है कि यहॉ बम्बई के छपे हुए मराठी या गुजराती पञ्चाङ्ग और अहमदाबाद के भी पञ्चाङ्ग चलते है। इसी मित्र ने अहमदाबाद के यूनियन प्रिंटिग प्रेस मे देवनागरी लिपि और गुजराती तथा संस्कृत भाषा में छपा हुआ शक १८१० का एक पञ्चाङ्ग मेरे पास भेजा। उसके ग्रह

शुद्ध ग्रहलाघवीय है और तिथ्यादिक भी प्राय तिथिचिन्तामणि के ही है। बडौदा राज्य मे ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्ग ही चलता है। अत यह कहने मे कोई आपत्ति नही है कि सभी गुर्जर प्रान्तो मे ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्ग का ही प्रचार है।

पहिले बडे-बडे नगरो (गाँवो) मे ज्योतिषी लोग पञ्चाङ्ग स्वय बनाते थे, आजकल भी कही कही बनाते है, परन्तु इस समय मुद्रित पञ्चाङ्ग बहुत थोडे मूल्य मे मिलने लगे है, इस कारण हस्तलिखित पञ्चाङ्ग प्राय लुप्त हो गये। पहिले अनेक ज्योतिषी पञ्चाङ्ग बनाते थे अत उस समय महाराष्ट्र और गुजरात मे ब्राह्म और आर्य पक्ष के भी पञ्चाङ्ग कुछ लोग बनाते रहे होगे। इसके प्रमाण भी मिलते है। एक ताजिकग्रन्थ की टीका मे विश्वनाथ दैवज्ञ का इस आशय का एक लेख है कि जिस पक्ष के मान से कुण्डली बनायी हो, वर्षपत्रिका मे रवि उसी पक्ष का लेना चाहिए। मुहूर्तमार्तण्डकार का निवासस्थान देवगढ (दौलताबाद) के पास था। उन्होने क्षयमास सम्बन्धी एक उदाहरण मे ब्राह्म और आर्यपक्षीय सक्रान्ति और तिथि का गणित दिया है। इससे ज्ञात होता है कि उस प्रान्त मे इन पक्षो के पञ्चाङ्ग भी उनके सामने आया करते थे। हमारे नवसारी के मित्र ने लिखा है कि यहाँ ज्योतिषी ब्रह्ममानसारणी द्वारा भी पञ्चाङ्ग बनाते है पर वे पञ्चाङ्ग छपते नही। कुछ अन्य प्रमाणो से भी गुजरात मे ब्राह्मपक्ष का प्राबल्य ज्ञात होता है। पञ्चाङ्ग छपने से यह हानि हुई है कि पञ्चाङ्गनिर्माता ज्योतिषी दिनोदिन दुर्लभ होते जा रहे है, परन्तु एक दृष्टि से यह लाभ भी हुआ है कि सर्वत्र एक प्रकार के पञ्चाङ्ग प्रचलित हो गये है।

मारवाड़ियो के यहाँ चडूपञ्चाङ्ग चलता है। उसमे पलभा ६ और देशान्तर जोधपुर के रहते है। बम्बई मे छपे हुए इस प्रकार के कुछ पञ्चाङ्ग मेरे पास है। उनमे सूर्य और उसकी सक्रान्तियाँ ब्राह्मपक्षीय है और अहर्गण भी दिया है। अहर्गण करण-कुतूहल का है पर उनमे एक लघु अहर्गण भी दिया रहता है। ग्रह करणकुतूहल के ग्रहो से नही मिलते। तिथ्यादिको मे भी कुछ भिन्नता है। इससे ज्ञात होता है कि करणकुतूहल मे कुछ बीजसस्कार देकर इन्होने कोई नया ग्रह बनाया है और उसी से यह पञ्चाङ्ग बनाते है।

काशी, ग्वालियर और उत्तर भारत के अन्य भी अनेक प्रान्तो मे मकरन्द का अधिक प्रचार है। वहाँ मकरन्दीय पञ्चाङ्ग चलता है।

तैलगी लिपि मे मद्रास का छपा हुआ मेरे पास शक १८०९ का एक सिद्धान्त-पञ्चाङ्ग है। वह ३$\frac{1}{2}$ के लगभग पलभा मानकर बनाया गया है। इससे और पिछले पृष्ठो मे लिखे हुए उसके वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि उसका प्रचार मद्रास के उत्तर तैलग प्रान्त मे है। उसमें दिये हुए सूर्यसक्रान्तिकाल से उसका सूर्य सूर्यसिद्धान्ती

ज्ञात होता है। परन्तु शेष ग्रह ग्रहलाघवीय या मकरन्दीय पञ्चाङ्ग से नही मिलते। पता नही चलता, उनका आनयन किस ग्रन्थ से किया गया है। सभव है सूर्यसिद्धान्त में कोई दूसरा बीज-सस्कार देकर तदनुसार वे लाये गये है।

कोचीन मे छपे हुए मेरे पास मलयाली लिपि के कुछ पञ्चाङ्ग हैं। उनमे शक १८०९ के पञ्चाङ्ग मे मेषसक्रान्ति अमान्त चैत्र कृष्ण ५ भौमवार को ८ घटी ५७ पल पर लगी है।

भिन्न-भिन्न पक्षो के स्पष्ट मेषसक्रान्तिकाल मे सम्प्रति कितना अन्तर पडता है इसे जानने के लिये यहाँ कुछ ग्रन्थो के मेषसक्रान्तिकाल लिखते है। यह मेषसक्रान्ति शक १८०९ मे अमान्त चैत्र कृष्ण ५ भौमवार (१२ अप्रैल सन् १८८७)को उज्जयिनी के मध्यमोदय से निम्नलिखित घटी-पलो पर हुई है।

	घटी	पल	
मूल सूर्यसिद्धान्त	१३	१८	
वर्तमान सूर्यसिद्धान्त	१५	१४	सौरपक्ष
प्रथम आर्यसिद्धान्त, करणप्रकाश	७	३१	आर्यपक्ष
द्वितीय आर्यसिद्धान्त	१०	२५	
राजमृगाक, करणकुतूहल	१०	४५	ब्राह्मपक्ष

ब्रह्मसिद्धान्तानुसार यह सक्रमण चैत्र कृष्ण ३ रविवार को ५४ घटी ४६ पल पर अर्थात् लगभग सवा दिन पूर्व आता है, परन्तु पहले बता चुके है कि लगभग शक ९६४ से ही प्रत्यक्ष व्यवहार मे ब्रह्मसिद्धान्त का उपयोग बन्द है। उपर्युक्तमलयाली पञ्चाङ्ग का सक्रान्तिकाल प्रथम आर्यसिद्धान्त से मिलता है। उसमे १ घटी २६ पल का अन्तर देशान्तर और चर के कारण पडा है। इससे सिद्ध होता है कि वह पञ्चाङ्ग आर्यपक्ष का है। उसके कुछ अन्य ग्रह करणप्रकाशीय ग्रहो से मिलते है,[1] पर कुछ नही मिलते। मालूम होता है उनके बीजसस्कारो मे कुछ भिन्नता है। कुछ अन्य प्रमाणो से भी इस बात की पुष्टि होती है कि मद्रास की ओर जिन प्रान्तो मे मलयाली और तमिल भाषाएँ बोली जाती है वहाँ प्राय आर्यपक्ष ही प्रचलित है। सुनते है वहाँ वाक्यकरण नामक ग्रन्थ द्वारा पञ्चाङ्ग बनाते है। यद्यपि मैंने वह ग्रन्थ नही देखा है तथापि यह निश्चित

---

१. यद्यपि मुझे मलयाली और तमिल लिपियों का पूर्ण ज्ञान नहीं है तथापि उन दोनों पञ्चाङ्गों को बड़ी सावधानी से पढ़कर मैंने उपर्युक्त वर्णन किया है। इसमें अशुद्धि नहीं है, इस बात का मुझे पूर्ण विश्वास है।

है कि वहाँ उस ग्रन्थ से अथवा आर्यसिद्धान्तानुकूल किसी अन्य ग्रन्थ से पञ्चाङ्ग बनाते है।

कलकत्ते का छपा हुआ एक पञ्चाङ्ग मेरे पास है। वह किस ग्रन्थ द्वारा बनाया गया है, इसका पता नही लगता, पर उसमे वर्षमान सूर्यसिद्धान्तीय है। इससे ज्ञात होता है कि बगाल मे उस वर्षमान का प्रचार है।

पञ्चाङ्गकौतुक ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि कश्मीर मे बहुत दिनो तक अर्थात् लगभग शक १५८० पर्यन्त खण्डखाद्यानुसार पञ्चाङ्ग बनाते थे और इस समय भी बनाते होगे। परन्तु खण्डखाद्य अब तक अपने प्रारभिक रूप मे ही चला आ रहा है, यह बात नही है। टीकाग्रन्थो से ज्ञात होता है कि उसमे अनेकों बीजसस्कार दिये गये है। खण्डखाद्य से लाया हुआ सूर्यसक्रान्तिकाल मूलसूर्यसिद्धान्ततुल्य होता है और वह औरो की अपेक्षा वर्तमान सूर्यसिद्धान्त द्वारा लाये हुए काल के विशेष सन्निकट होता है।

ग्रन्थप्राधान्य

इस समय सामान्यत ग्रहलाघव और तिथिचिन्तामणि का सबसे अधिक प्रचार है और उसके बाद मकरन्द का है। इन तीनो ग्रन्थो का वर्षमान वर्तमान सूर्यसिद्धान्त का है। बगाल और तैलग प्रान्तो मे इसी वर्षमान का प्रचार है अर्थात् इस देश के लगभग $\frac{4}{5}$ भाग मे यही वर्षमान चलता है। मारवाड मे ब्राह्मपक्ष का, द्रविड और मलावार प्रान्तो मे आर्यपक्ष का तथा कश्मीर मे मूल सूर्यसिद्धान्त का वर्षमान चलता है। जब कि पञ्चाङ्ग छपते नही थे, प्राय सर्वत्र बडे बडे ज्योतिषी पञ्चाङ्ग बनाते थे। सभव है, उस समय वे किसी अन्य पक्ष के भी पञ्चाङ्ग बनाते रहे हो पर सामान्यत उपर्युक्त व्यवस्था ही रही होगी और उस समय तो वही है। ज्योतिषसिद्धान्तकाल के आरम्भ से किस सिद्धान्तग्रन्थ, करणग्रन्थ और सारणीग्रन्थ का पञ्चाङ्गगणित मे कहाँ और किस समय प्राधान्य था, इसका वर्णन मध्यमाधिकार मे विस्तारपूर्वक कर चुके है।

दृक्प्रत्ययद नवीन पञ्चाङ्ग

सम्प्रति हमारे देश मे प्रचलित सब निरयन पञ्चाङ्गो से दृक्प्रतीति नही होती अर्थात् उनमे लिखी परिस्थिति आकाश मे नेत्रो से प्रत्यक्ष दिखाई नही देती, अत कुछ लोगो ने नवीन दृक्प्रत्ययद सूक्ष्म पञ्चाङ्ग बनाना आरम्भ किया है। यहाँ उन्ही का वर्णन करेंगे।

केरोपन्ती अथवा पटवर्धनी पञ्चाङ्ग—यह पञ्चाङ्ग शक १७८७ से छपता है इसमे अक्षाश और रेखा बम्बई के है कैलासवासी केरो लक्ष्मण छत्रे इसके कर्ता और

कैलासवासी आबा साहब पटवर्धन प्रवर्तक थे। आरम्भ मे कुछ दिनो तक छत्रे ने इसक गणित स्वय किया होगा। बाद मे उनकी देखरेख मे वसई के आबा जोशी मोघे करते थे। उनका स्वर्गवास हो जाने के बाद उनके वशज करते है। केरोपन्त के बाद उसका निरीक्षण उनके पुत्र नीलकठ विनायक छत्रे करते है। सुनते है, केरोपन्त के एक दूसरे पुत्र और कई शिष्य भी कुछ गणित करते है। रत्नागिरि के जगन्मित्र प्रेस के मालिक जनार्दन हरि आठले की इस पञ्चाङ्ग पर बडी श्रद्धा है। शक १७९१ से १८११ पर्यन्त वे इसे अपने व्यय से छापते थे। पहिले इसका नाम नवीन पञ्चाङ्ग था। इसके गणित का खर्च आबा साहब पटवर्धन देते थे। उन्हे यह विषय बडा प्रिय था। उन्होने तीन चार सहस्र रूपया व्यय करके कुछ यन्त्र भी मोल लिये थे और वे स्वय वेध करते थे। यद्यपि यह सत्य है कि इस पद्धति के कल्पक केरोपन्त है परन्तु आबासाहब प्रोत्साहन न देते तो इसका उदय न हुआ होता। पटवर्धन की स्मृति मे शक १७९९ से इसका नाम नवीन या पटवर्धनीय पञ्चाङ्ग रखा गया। शक १८१२ से पूना के चित्रशाला प्रेस के मालिक वासुदेव गणेश जोशी इसे अपने व्यय से छपाते थे। पञ्चाङ्ग की बिक्री कम होने के कारण उन्हे इसमे घाटा हुआ करता है। आठले और जोशी ने यदि छापना स्वीकार न किया होता तो यह पञ्चाङ्ग कभी का लुप्त हो चुका होता परन्तु किसी ने उनका प्रत्यक्ष आभार भी नही माना। इतना ही नही, वे अपने व्यय से पञ्चाङ्ग छपाते है, यह बात किसी ने प्रकाशित तक नही की।

इस देश मे प्रचलित अन्य पञ्चाङ्गो से केरोपन्ती पञ्चाङ्ग मे दो बाते भिन्न है। एक यह कि रेवती योगतारा (जीटापीशियम) शक ४९६ मे सम्पात मे था, अतः उस वर्ष अयनाश शून्य और अयनगति वास्तविक अर्थात् लगभग ५०·२ विकला मानी है। अत स्पष्ट है कि वर्षमान वास्तविक नाक्षत्र सौर अर्थात् ३६५ दिन १५ घटी २२ पल ५३ विपल है। इस प्रकार प्रतिवर्षीय रेवती योगतारे और सम्पात के अन्तर को उस वर्ष का अयनाश माना है। शक १८१८ के आरम्भ मे अयनाश १८ अश १७ कला माना है।[1] दूसरी बात यह है कि इस पञ्चाङ्ग की ग्रहगतिस्थिति शुद्ध होने के कारण इसके ग्रहण, ग्रहयुति इत्यादि आकाश से ठीक मिलते है।[2] यह पञ्चाङ्ग नाटिकल

१. जीटापीशियम की स्थिति के आधार पर अत्यन्त सूक्ष्म गणित करने से शक १८१८ के आरम्भ में अयनांश १८।१७।१० आता है। पटवर्धनी पञ्चाङ्ग में १० विकला की अशुद्धि है।

२. ग्रहों के उदयास्त में कभी-कभी अन्तर पड़ जाता है। उसका कारण दूसरा है। आगे उदयास्ताधिकार में उसका विवेचन किया है।

आल्मनाक से बनाया जाता है। चूंकि वह इगलिश पञ्चाङ्ग अत्यन्त सूक्ष्म दृक्प्रत्ययद होता है अत केरोपन्ती पञ्चाङ्ग का भी वैसा होना स्वाभाविक है। आगे पञ्चाङ्ग-शोधनविचार मे इस पञ्चाङ्ग का विस्तृत विवेचन किया है। केरोपन्त ने संस्कृत या मराठी मे ऐसा कोई ग्रन्थ नही लिखा है जिससे यह पञ्चाङ्ग बनाया जा सके। वेंकटेश बापूजी केतकर ने हाल ही मे वैसा ग्रन्थ बनाया है ।

दृग्गणितपञ्चाङ्ग—मद्रासनिवासी रघुनाथाचार्य[1] ने इगलिश नाटिकल आल्मनाक द्वारा शक १७९१ से यह पञ्चाङ्ग बनाना आरम्भ किया। यह द्रविड और तैलगी दोनो लिपियो मे छपता है। इससे ज्ञात होता है कि उन प्रान्तो मे इसका विशेष प्रचार है। इसे शिरिय (लघु) कहते हैं। मालूम होता है रघुनाथाचार्य अपने समय मे पेरिय (बृहत्) दृग्गणितपञ्चाङ्ग बनाते थे। रघुनाथाचार्य के पुत्र वेकटाचार्य का बनाया हुआ शक १८१८ (वर्तमान कलि ४९९८) का द्रविड लिपि मे छपा हुआ शिरिय सौर पञ्चाङ्ग हमारे पास है। उसमे शक १८१९ की मेषसक्रान्ति रविवार (११ अप्रैल सन् १८९७ ई०) को ५२ घटी ४३ पल पर है। सूर्यसिद्धान्तानुसार स्पष्ट मेषसक्रान्ति लगभग इसी समय आती है। बहुत थोडा अन्तर पडता है। इससे सिद्ध होता है कि इसमे सूर्यसिद्धान्तागत स्पष्टरवि और नाटिकल आल्मनाक द्वारा लाये हुए स्पष्ट सायन रवि के अन्तर तुल्य—शक १८१९ के आरम्भ मे २२।१५—अयनाश माना है। इसमे अक्षाश और रेखाश मद्रास के होगे।

बापूदेव शास्त्री का पञ्चाङ्ग—बापूदेव शास्त्री को सायन गणना मान्य है। सन् १८६३ के लगभग सायन गणना की शास्त्रीयता के विषय मे उन्होने इंगलिश मे एक निबन्ध लिखा था। वह छपा है। उससे ज्ञात होता है कि उनके मन मे सायन पञ्चाङ्ग ही शास्त्रानुकूल है। यद्यपि उन्होने काशीराज के आश्रय द्वारा शक १७९८ से निरयन पञ्चाङ्ग छपाना आरम्भ किया है तथापि निरयन पञ्चाङ्ग को मानने वाली जनता के केवल सन्तोष के लिए उन्होने ऐसा किया है, क्योकि पञ्चाङ्ग की प्रस्तावना मे लिखा है—

> महाराजाधिराजद्विजराज श्री ५ मदीश्वरीप्रसादनारायणसिंहबहादुराख्येन श्रीकाशीनरेश आदिष्ट पञ्चाङ्गकरणे प्रवृत्तोऽहम्। भवति यद्यप्यत्र सायनगणनैव मुख्या तथाप्यस्मिन भारतवर्षे सर्वत्र निरयनगणनाया एव प्रचारात् सामान्यजन-प्रमोदायेद .. तिथिपत्र निरयनगणनयैव व्यरचयम्।

---

१. चिन्तामणि रघुनाथाचार्य का उपनाम है। नटेश शास्त्री के लेख से ज्ञात होता है कि वे काञ्ची से ८ मील पूर्व कावांडलम् नामक गाँव मे रहते थे।

बापूदेव शास्त्री का पञ्चाङ्ग इगलिश नाटिकल अल्मनाक से बनता है। उसमे अक्षाश और रेखा काशी के है। उन्होने लिखा है कि सूर्यसिद्धान्तादि ग्रन्थो द्वारा लाये हुए रवि और सूक्ष्म सायन रवि के अन्तर तुल्य इसमे अयनाश माना है। नाटिकल आल्मनाक के सायन रवि और अपने पञ्चाङ्ग के निरयन रवि की तुलना करते हुए इन्होने शक १८०६ मे अयनाश लगभग २२ अश १ कला माना है। उस वर्ष सूर्यसिद्धान्तानुसार अमान्त चैत्र कृष्ण १ शुक्रवार को काशी के स्पष्ट सूर्योदय से ३० घटी २६ पल पर मेष सक्रान्ति आती है पर बापूदेवशास्त्री के पञ्चाङ्ग मे उसी दिन ३१ घटी १२ पल पर, अर्थात् सूर्यसिद्धान्त से वह ४६ पल आगे है। अन्य किसी भी सिद्धान्त से यह काल नही आता। इससे सिद्ध होता है कि उन्होने सूर्य अन्य किसी ग्रन्थ का नही बल्कि सूर्यसिद्धान्त का ही लिया है। उसमे ४६ विकला की अशुद्धि होगी। केरोपन्त से बापूदेवशास्त्री का वादविवाद हुआ था, उस सम्बन्ध मे उन्होने पूना के ज्ञानप्रकाश पत्र के १४ जून सन् १८८० के अक मे एक लेख दिया था। उसमे लिखा था कि सूर्य सूर्यसिद्धान्त का ही लेना चाहिए परन्तु मध्यम। उपर्युक्त सूर्यसिद्धान्तागत मेषसक्रान्तिकाल मे नाटिकल आल्मनाक द्वारा सायन रवि २२।०।३१ आता है, अत अयनाश इतना ही मानना चाहिए, पर शास्त्रीजी ने २२।१।० माना है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि उन्होने पञ्चाङ्ग मे मध्यम रवि का नही बल्कि स्पष्ट रवि का ही अन्तर स्वीकार किया है। बापूदेव शास्त्री के बाद उनके शिष्यो ने पञ्चाङ्ग बनाने का काम जारी रखा है।

अन्य पञ्चाङ्गो से बापूदेवशास्त्री के पञ्चाङ्ग में भिन्नता केवल इसी एक बात की है कि वह नाटिकल आल्मनाक से बनाया जाता है, इस कारण उसकी ग्रहगतिस्थिति शुद्ध अर्थात् दृक्प्रत्ययद होती हैं। अयनाश में थोडा अन्तर है पर वह नही के बराबर है। सूर्यसिद्धान्तार्गत रवि और नाटिकल आल्मनाक के रवि के अन्तर तुल्य अयनाश मानने से वर्षमान सूर्यसिद्धान्तीय मानने सरीखा ही होता है। आगे पञ्चाङ्गशोधन-विचार मे इस पञ्चाङ्ग का विस्तृत विवेचन किया है।

अन्य सूक्ष्म निरयन पञ्चाङ्ग

इगलिश नाटिकल आल्मनाक द्वारा बनने वाले मैंने दो और सूक्ष्म निरयन पञ्चाङ्ग देखे है। तजौर प्रान्त के तिरुवादि स्थाननिवासी सुन्दरेश्वर श्रौती और वेकटेश्वर दीक्षित शक १७९८ से तमिल लिपि मे एक सूक्ष्म सौर पञ्चाङ्ग बनाते है। उसमें शक १८१५ के आरम्भ में अयनाश २२।१० अर्थात् लगभग रघुनाथाचार्य के पञ्चाङ्ग तुल्य ही माना है। उस वर्ष मेषसक्रान्ति भौमवार को ५१ घटी ३१ पल पर लगी है।

मालूम होता है तिरुवादि मे ज्योतिस्तन्त्रसभा नाम की कोई सभा स्थापित हुई थी। उसके अध्यक्ष चिदम्बरम् ऐयर ने सन् १८८३ ई० मे (Hındu Zodıac) नामक एक छोटा सा ग्रन्थ लिखा है। उसमे उन्होने लिखा है कि उपर्युक्त पञ्चाङ्ग कुभकोणस्थ शकराचार्य की आज्ञानुसार बनता है।

राजपूताने मे खेतडी नाम की रियासत है। वहाँ के राजा अजितसिह की आज्ञा से रूडमल्ल नामक ज्योतिषी का बनाया हुआ अजितप्रकाश नामक शक १८१८ का पञ्चाङ्ग मैंने देखा है। मालूम होता है, यह इसी वर्ष से बनने लगा है। इसमे वर्ष के आरम्भ मे अयनाश २२।११ माना है। यह नाटिकल आल्मनाक द्वारा बनाया जाता है। इसमे अक्षाश और रेखा खेतडी के हैं। अक्षाश २८ और कालात्मक देशान्तर उज्जयिनी से पश्चिम ३ पल दिया है।

सायन पञ्चाङ्ग

जिस दिन से दिनमान घटने या बढने लगता है वस्तुत उसी दिन से क्रमशः उत्तरायण और दक्षिणायन आरम्भ होता है और यह बात आकाश मे भी प्रत्यक्ष दिखाई देने लगती है। पर ऐसा होते हुए भी हमारे देश मे प्रचलित आजकल के पञ्चाङ्गो मे अयनप्रवृत्ति उस दिन नही लिखी रहती। हमारे पञ्चाङ्गकार मकर और कर्क सक्रान्तियाँ लगभग २२ दिन बाद लिखते है। साधारण मनुष्य को भी शका होगी कि वास्तविक परिस्थिति के विपरीत ऐसा क्यो किया जाता है। इस शका की उत्पत्ति और उसके समाधानार्थ किये हुए सशोधन का फल आधुनिक सायन पञ्चाङ्ग है। इसके जन्मदाता तीन है। लेले, जनार्दन बालाजी मोडक और मै। इन प्रत्येक के मन मे सायन पञ्चाङ्ग की कल्पना स्वय उद्भूत हुई। इनमे से आधुनिक सायन पञ्चाङ्ग के मुख्य उत्पादक विसाजी रघुनाथ लेले है। जब कि केरोपन्त छत्रे ने आबासाहब पटवर्धन की सहायता से पञ्चाङ्ग के सुधार का कार्य और उसे छपाना आरम्भ किया उस समय लेले ने यह सोचकर कि पञ्चाङ्ग मे आधे की अपेक्षा पूर्ण सुधार करना उत्तम है और यह कार्य केरोपन्त द्वारा होने योग्य है, शक १७९४ से इन्दुप्रकाश नामक समाचारपत्र द्वारा केरोपन्ती पञ्चाङ्ग पर आक्षेप करना आरम्भ किया। पहिले उन्होने गोविन्दराव सखाराम द्वारा इन्दुप्रकाश में—यदि पञ्चाङ्ग का सुधार करना है तो वर्षमान सायन लेना चाहिए इत्यादि—सूचना दिलाई। केरोपन्त ने उसका उत्तर यह दिया कि निरयन पञ्चाङ्ग को माननेवाला मै अकेला नही हूँ। काशी से रामेश्वर तक उसका प्रचार है अत आपको आक्षेपो का उत्तर अवश्य मिलेगा। यदि किसी ने नही दिया तो मै स्वयं उत्तर दूंगा। इसके बाद कई वर्ष तक उन्होंने उत्तर नही दिया। तब भी लेले स्फुटवक्ता

अभियोगी नाम धारण कर समाचारपत्रो द्वारा बार-बार उसकी चर्चा करते ही रहे। उन्हे आशा थी कि केरोपन्त या मुँह से सायन गणना को शास्त्रीय कहने वाले बापूदेव शास्त्री मे से कोई सायन पञ्चाङ्ग बनाना आरम्भ करेगा। उनकी प्रबल इच्छा थी कि वे यह श्रेय ग्रहण करे पर उसके विपरीत बापूदेव का निरयन पञ्चाङ्ग छपने लगा। सन् १८८० के लगभग ज्ञानप्रकाश पत्र द्वारा बापूदेव शास्त्री और केरोपन्त का इस विषय पर शास्त्रार्थ हुआ कि निरयन पञ्चाङ्ग मे वर्षमान और अयनाश कितना लेना चाहिए। उस समय लेले ने दोनो से सायन पञ्चाङ्ग स्वीकार करने की प्रार्थना की पर वह व्यर्थ हुई। केरोपन्त ने उन्हे यह उत्तर दिया कि ऋतुओ के विषय मे सायन गणना ठीक है पर मुझे सायन पञ्चाङ्ग बनाना पसन्द नही। केरोपन्त अपने पञ्चाङ्ग की प्रस्तावना मे लिखते है कि मैने पटवर्धनी पञ्चाङ्ग इस उद्देश्य से आरम्भ किया जिसम धर्मशास्त्रोक्त कर्म ठीक समय पर हो, लेकिन लेले को दिये हुए उपर्युक्त उत्तर मे उनके कुछ ऐसे उद्गार निकले है जिससे धर्मशास्त्र का तिरस्कार सा होता है। इस कारण लेले ने उनसे शास्त्रार्थ करना छोड दिया। उस समय और उसके बाद भी लेले, मोडक और मैने थाना के अरुणोदय नामक समाचारपत्र मे सायन पञ्चाङ्ग सम्बन्धी अनेक लेख लिखे। उस पत्र का आश्रय मिल जाने से शक १८०४ और १८०५ मे उस पत्र के साथ सायन पञ्चाङ्ग का एक-एक पक्ष प्रकाशित हुआ। उसके बाद कृष्णराव रघुनाथ भिडे के प्रयत्न से तुकोजी राव होलकर का आश्रय प्राप्त हुआ और शक १८०६ से स्वतन्त्र सायन पञ्चाङ्ग छपने लगा। पर शक १८०८ मे तुकोजी महाराज का स्वर्गवास हो जाने के कारण वह आश्रय चार ही वर्ष रहा और उस समुदाय मे भिडे-जैसा प्रयत्नशील अन्य कोई व्यक्ति न होने के कारण दूसरा भी आश्रय नही मिला। फिर भी लेले ने शक १८-१० से आरम्भ कर तीन चार साल प्राय. अपने व्यय से पञ्चाङ्ग छपाया। शक १८१३ से आरम्भ कर इधर चार वर्षों से मै प्रायः स्वकीय व्यय से छपा रहा हूँ। शक १८११ के अन्त में जनार्दन बालाजी मोडक का और शक १८१७ मे लेले का देहावसान हुआ। शक १८१८ से पञ्चाङ्ग के पक्ष थाना के अरुणोदय पत्र के कर्ता उसके साथ साथ छपाते है। इस पञ्चाङ्ग का गणित प्रथम वर्ष लेले ने किया। शक १८०५ का गणित तीनो ने मिल कर किया और उसके बाद १३ वर्षो से गणित तथा उस पञ्चाङ्ग सम्बन्धी अन्य सब कार्य मै करता हूँ। पटवर्धनी पञ्चाङ्ग की तरह इसके गणित का पारिश्रमिक कोई नही देता। इतना ही नही, पञ्चाङ्ग की बिक्री कम होने के कारण उसे छपाने के व्यय की व्यवस्था भी हमी को करनी पडती है।

द्वारका के शारदामठ के अधिपति श्री जगद्गुरु शंकराचार्य शक १८१५ मे ग्वालियर आये थे। उस समय विसाजी रघुनाथ लेले ने उन्हे ग्रहलाघवीय, पटवर्धनी,

बापूदेवकृत और सायन पञ्चाङ्ग दिखाये और उनसे यह निर्णय करने की प्रार्थना की कि इनमे से कौन सा ग्राह्य है। जगद्गुरु ने साधक-बाधक सब बातो का विचार करके भारतीय सम्पूर्ण जनता को सायन पञ्चाङ्ग ग्रहण करने की आज्ञा दी। उम आज्ञापत्र को यहाँ उद्धृत करते है।

श्रीशारदाम्बा विजयतेतराम्

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्य — पदवाक्यप्रमाणपारावारपारीण — यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाध्यष्टागयोगानुष्ठाननिष्ठ — तपश्चर्याचरणचक्रवर्त्यनाद्यविच्छिन्नगुरुपरम्पराप्राप्तषण्मतस्थापनाचार्यसाख्यत्रयप्रतिपदकवैदिकमार्ग — प्रवर्तकनिखिलनिगमागमसारहृदयश्रीमत्सुधन्वन साम्राज्यप्रतिष्ठापनाचार्य — श्रीमद्राजाधिराजगुरुभूमण्डलाचार्य — चातुर्वर्ण्यशिक्षकगोमतीतीरवासश्रीमद्द्वारकापुरवराधीश्वर-पश्चिमाम्नायश्रीमच्छारदापीठाधीश्वर — श्रीमत्केशवाश्रमस्वामिदेशिकवरकरकमलसञ्जातश्रीशारदापीठाधीश्वर—श्रीमद्राजराजेश्वरशकराश्रमस्वामिभि शिष्यकोटिप्रविष्टान् निरवद्यवैदिकराद्धान्तश्रद्दधानचेत —साम्राज्यसमलकृतानशेषभरतखण्डसदायतनविद्वद्वरान् प्रति प्रत्यग्ब्रह्मैक्यानुसधाननियतनारायणस्मरणससूचिताशिषस्समुल्लसन्तुतराम्। जगद्गुरूणा महेश्वरापरावतारश्रीमच्छकरभगवत्पूज्यपादाचार्याणामादिमैकान्तिकास्थानद्वारकास्थ—श्रीमच्छारदापीठगोचरा भक्तिरनवधिकश्रेयोनिदानमिति सार्वजनीनमेतत्। साम्प्रत भगवत्या शारदाया लश्करनगरी ग्वालियरसन्निहितात्रीजनपदसमावेशवासरविशेषमुपक्रम्याप्रस्थितेर्लश्करप्रस्थात् प्रज्ञापितसायननिरयनभेदभिन्नप्रक्रियातिशयसमास्पदीभूतप्रक्रमभरबुभुत्सापरायन्तस्वान्तेन लेले इत्युपाभिधानविसाजीरघुनाथशर्मणा तन्नगरीनिकेतनेनानुपदमभ्यर्हितामभ्यर्थनामुररीकुर्वाणैर्विगानविशेषपरामृष्टप्रत्ययसन्धानैरिदमत्रास्माभिरवधार्यते। तथा हि—

दर्शनसामान्यस्यावान्तरमहातात्पर्यविशेषानुगृहीतविग्रहवत्तयोपक्रमपरामर्शोपसहारानन्नु-गम्यापि चरमामेव तयोस्तात्पर्यमहाभूमिमभ्युदितफलाभिधेयप्रसवित्रीमाचक्षाणास्सम्मीयन्ते तीर्थकारा ।

अवान्तरतात्पर्येतिकर्तव्यताप्रयुक्तप्रसक्तिनिर्वहणाय आभ्यन्तरपदार्थपरिशीलनौ-पयिकप्रयत्नातिशयस्यार्थवत्त्वेऽपि तथात्वमेव तस्यावक्लृप्तमवसित भवत्युपसर्जन-मुद्रयाकिलाशेषश्च ।

महातात्पर्यकयासुधात्वविक्रुतवस्तुभेदप्रग्रहमेव प्रत्यस्तमितसातिशयविधाविधान-मपूर्वतरमनुभावयन्ती प्रतर्पयन्ती च निरूढार्थप्रघट्टिकामसाधरणी ता चकास्त्येव सर्वश सरणिरेषा सर्वास्वपि दर्शनस्थितिषु सत्येव साधारणी प्रतिष्ठापयत्यर्थतत्त्वमिति वस्तुस्थिति ।

प्रकृते हि सायननिरयनतन्त्रयोरितरेतरप्रत्यनीकभावभावितयोरप्यन्योन्यस्वरूप-विशेषसमर्पणकृते कृताकाक्षयोरस्ति हि वैषम्य भूयस्तच्च परिगणितानेकपदार्थविभाग-भागपि ज्योति शास्त्रमहातात्पर्यविषयीभूतकालावयवयाथात्म्यमनुभावयमान विहित-समस्तश्रौतस्मार्तक्रिया कलापनियतकालविभ्रमापनोदनिर्भरमनुकूलीकृताशेषशेषभूतव-स्तुव्यवस्थाकमपरामृष्टविपर्ययप्रतीतिजननमविपर्यस्तावाधितासदिग्धदृक्प्रतीतिपर्याप्तिमेवपरि-समाप्यते स्वाभावभावितमर्थत इत्यादरगोचर भ वत्येव सायनतन्त्रगत तदेतत् ।

निरयनतन्त्रायत्त तदिद यथाभूतक्रियाकलापकालनिर्देशनिर्वर्तनासमर्थसत्तदुप-जीवकतामेवाविवादमश्नुत इति स एष सायनपक्ष सर्वैरपि 'श्रीमता विसाजीरघुनाथशर्मणा समर्थितस्सदसद्विचारणापुर सरमाद्रियता महाशयैरशेषवर्णाश्रमिभिरित स्थितम् । अनादिसिद्धश्रीमज्जगद्गुरुसस्थानाज्ञापरिपालनैकपरपराकेषु किमधिक ब्रह्मक्षत्रादि-शिष्यवरेष्विति शिवम् ।

श्रीमच्छकरभगवत्पूज्यपादाचार्याणामवतारशकाब्दा २३६२ फाल्गुन—कृष्णा-ष्टम्या ८ स्थिरे सवत् १९४९ शके १८१४ (सवारी मु० धवलपुरम्) श्री. ॥

(बार अंक २२९)

लेले के नाम से भी एक आज्ञापत्र आया है। उसका साराश यह है—"आपने सायननिरयन पञ्चाङ्गसम्बन्धी विस्तृत प्रार्थनापत्र भेजा । उसके सभी प्रमाणो का विचार करने से निश्चित हुआ कि निरयन पञ्चाङ्ग श्रुतिस्मृतिपुराणविहित कालदर्शक न होने के कारण अत्यन्त विचारास्पद हो गये है, और आपका सायन पञ्चाङ्ग उक्त कालदर्शक होने से प्रमाणभूत है। सभी धर्मकृत्यो मे उसका ग्रहण करने की श्री

जगद्गुरुसस्थान की ओर से अभ्यनुज्ञा है। श्रीमच्छकरभगवत्पूज्यपादाचार्याणामवतार-शकाब्दा. २३६२ मिति फाल्गुन शुक्ल २ स्थिरवार मवत् १९४९ मु० लश्कर ग्वालियर।" (दोनो आज्ञापत्रो की मूल प्रतियाँ लेले के पास है)

प्राचीन पञ्चाङ्ग और सायनपञ्चाङ्गो मे अन्तर दो बातो का है। पहिली बात तो यह है कि सायन पञ्चाङ्ग का वर्षमान भिन्न रहता है और उसमे अयनाश सदा शून्य रहता है। दूसरे वह इगलिश नाटिकल आल्मनाक द्वारा अथवा Connaissance des Temps (काल-ज्ञान) नामक फेञ्च पञ्चाङ्ग के आधार पर बनाया जाता है, इस कारण उसकी ग्रहस्थिति दृक्प्रत्ययद होती है। इसमे अक्षाश और रेखा उज्जयिनी के है।

पञ्चाङ्ग शोधन विचार

सम्प्रति इस देश के प्राय सभी प्रान्तो मे प्रचलित ग्रहलाघवीय इत्यादि पञ्चाङ्गो के ग्रहगति-स्थिति प्रभृति पदार्थ अनुभवविरुद्ध होते है, अत उन पञ्चाङ्गो का सशोधन आवश्यक है। गत ३० वर्षों मे जो ६ नये सूक्ष्म पञ्चाङ्ग निकले है, जिनका वर्णन अभी किया गया है, उनमे एक सायन और पाँच निरयन है। सब निरयन पञ्चाङ्गो के अयनाश समान नही है। मेरा मत यह है कि पञ्चाङ्ग निरयन नही बल्कि सायनपद्धति का बनना चाहिए। यहाँ इस बात का विवेचन करेगे।

लक्षण

नाक्षत्र (निरयन) वर्ष और साम्पातिक (सायन) वर्ष की परिभाषा ऊपर लिख चुके है। साम्पातिक सौरवर्ष की अपेक्षा नाक्षत्र सौरवर्ष लगभग ५१ पल अधिक होता है, परन्तु हमारे सब ज्योतिष ग्रन्थो मे वर्णित वर्ष साम्पातिक वर्ष से लगभग ६० पल बडा है। आकाश मे ग्रहो की स्थिति बताने के लिए एक आरम्भस्थान मानना आवश्यक है। हमारे ज्योतिषग्रन्थो का आरम्भस्थान शक ४४४ के लगभग वसन्त-सम्पात मे था। हमारे ग्रन्थो का वर्षमान सायन वर्षमान से लगभग ६० पल अधिक होने के कारण वह आरम्भस्थान वसन्तसम्पात से प्रतिवर्ष लगभग ६० विकला[1] आगे जा रहा है। सम्पात से उस आरम्भस्थान तक के अन्तर को अयनाश कहते है। सम्पात-गति का ज्ञान प्रथम अयनचलन द्वारा हुआ। जितना अश अयनचलन हुआ होगा उसी

---

१. सूर्यसिद्धान्तीय वर्षमान के अनुसार सूक्ष्म विचार करने से ज्ञात होता है कि ५८ विकला आगे जा रहा है। पीछे अयनचलन मे इसका विस्तृत विवेचन किया है।

को अयनचलनाश किवा अयनाश कहा होगा। उस अयनचलन को ही बाद मे सम्पात-चलन कहने लगे। सम्पात को आरम्भस्थान मानकर वहाँ से ग्रहस्थिति की गणना करने से अयनाश भी उसके भीतर आ जाते है, अत वह ग्रहस्थिति सायन कही जाती है और हमारे ज्योतिषग्रन्थो मे बताये हुए आरम्भस्थान से परिगणित ग्रहस्थिति मे अयनाश नही आते, अत उसे निरयन (अयनाश-विरहित) कहते है।

अयनांशविचार

ग्रहलाघवानुसार शक १८०९ में अयनाश २२।४५ आता है। ब्राह्मपक्ष के राज-मृगाक इत्यादि ग्रन्थो से और आर्यपक्षीय करणप्रकाश से २२।४४ आता है। सूर्य-सिद्धान्तानुसार २०।४९।१२ आता है। मकरन्दी और बङ्गाल के पञ्चाङ्गो मे भी अनुमानत. इतना ही मानते है । पूर्ववर्णित तैलङ्गी सिद्धान्तपञ्चाङ्ग मे सब सायन सक्रान्तियाँ लिखी रहती है। उनके आधार पर गणित करने से ज्ञात होता है कि उसमे भी प्राय. इतना ही माना है, परन्तु २२।४४ या २२।४५ मानने मे जो अशुद्धि है, उसकी अपेक्षा इसमे अधिक है। मद्रास प्रान्त के मलयाली और तामिल भागो मे ग्रहलाघव तुल्य ही अयनाश माने जाते है। पञ्चाङ्गकौतुकादि ग्रन्थो से ज्ञात होता है कि कश्मीर मे भी लगभग ग्रहलाघव तुल्य ही मानते है। मेषसक्रान्ति से सौरवर्ष आरम्भ होता है, अत जैसा कि पहले अयनचलनविचार मे आया है, किसी भी ग्रन्थ से जिस समय स्पष्ट निरयन मेषसक्रान्ति आती है, उस समय वेध द्वारा जो स्पष्ट सायन रवि आता है, उस ग्रन्थ द्वारा बनाये हुये निरयन पञ्चाङ्ग मे उतना ही अयनाश मानना चाहिए। ऐसा करने से अयन और विषुव दृक्प्रत्ययद होगे। भिन्न-भिन्न ग्रन्थो द्वारा लाये हुए शक १८०९ के स्पष्ट मेषसक्रान्तिकाल पहले लिख चुके है। उन समयो मे फ्रेञ्च आल्मनाक या इगलिश नाटिकल आल्मनाक द्वारा सायन रवि लाने से ज्ञात हुआ कि उन ग्रन्थो के वर्षमान लेने है तो अयनाश निम्नलिखित मानने चाहिए।[1]

१. यदि रवि मध्यम लेना है तो शक १८०९ में वर्तमान सूर्यसिद्धान्तीयअयनांश २२।१८।४४ मानना चाहिए और तदनुसार औरों का अधिक मानाना चाहिए।

शक १८०९ के अयनाश—	अश	कला	विकला
मूल सूर्यसिद्धान्त	२२	१	२७ ६
वर्तमान सूर्यसिद्धान्त	२२	३	२१ ३
प्रथम आर्यसिद्धान्त, करणप्रकाश	२१	५५	४७ ८
द्वितीय आर्यसिद्धान्त	२१	५८	३८ २
राजमृगाक, करणकुतूहल	२१	५८	५७ ८

ग्रहलाघव मे वर्षमान सूर्यसिद्धान्त का रहते हुए शक १८०९ मे अयनाश २२।४५ आता है, परन्तु वह—जैसा कि ऊपर लिखा है—२२।३ होना चाहिए, अर्थात् उसमे लगभग ४२ कला की अशुद्धि है। उस मान से ग्रहलाघवीय सायन रवि और नाटिकल आल्मनाक द्वारा लाये हुए सायन रवि मे अन्तर पडता है।[1]

बापूदेव शास्त्री नाटिकल आल्मनाक से पञ्चाङ्ग बनाते है और वे भास्कराचार्यादि कथित पद्धति के अनुसार मेषसक्रातिकालीन सिद्धान्तगत रवि और सायन रवि के अन्तरतुल्य अयनाश मानते है। तदनुसार शक १८०९ के उनके पञ्चाङ्ग का अयनाश —जिस प्रकार मैंने ऊपर रखा है—सूक्ष्म अर्थात् लगभग २२।४ है। केरोपन्त ने सम्पात से रेवती तारे तक के अन्तर को अयनाश माना है। उनके पञ्चाङ्ग मे अयनाश तदनुसार शक १८०९ मे १८।१८ है। सायन पञ्चाङ्ग मे सम्पात को ही आरम्भस्थान मानते है, अत उसमे अयनाश की आवश्यकता ही नही पडती। उपर्युक्त ६ सूक्ष्म पञ्चाङ्गो मे से शेष तीन मे शक १८०९ मे अयनाश लगभग २२।३ है और वह ठीक ही है।

सायन और निरयन पञ्चाङ्गों का स्वरूप

अग्रिम वृत्त क्रान्तिवृत्त है। इसमे व वसन्तसम्पात मे और तुलासम्पात या शारदसम्पात है। र रेवती तारे का वर्तमान (लगभग शक १८१८ का) स्थान है। यह व से लगभग १८ अश २६ कला दूर है। र बिन्दु स्थिर है। उ और द उत्तरायण तथा दक्षिणायन

---

१. पहले अयन विचार मे बता चुके है कि सूर्यसिद्धान्तीय वर्ष और सायन वर्ष के अन्तर तुल्य काल में सायन रवि की गति ५८.८ होती है, अतः अयनगति ५८.८ या ५८.६ विकला माननी चाहिए। यह सूक्ष्म है। ५८.७ गति मानकर उपर्युक्त शक १८०९ के अयनांश द्वारा विलोम गणित करने से सूर्यसिद्धान्त का शून्यायनांश वर्ष शक ४५७ आता है। पहले ४५० लाया गया है। उसका कारण यह है कि कालान्तर संस्कार और फलसंस्कार में समयानुसार अन्तर पडता रहता है।

के आरम्भबिन्दु है। सम्पात और अयनबिन्दु उलटे चलते है। ये चारो बिन्दु प्रतिवर्ष लगभग ५० विकला पीछे खिसक जाया करते है। हमारे ग्रन्थो का वर्षमान यदि शुद्ध
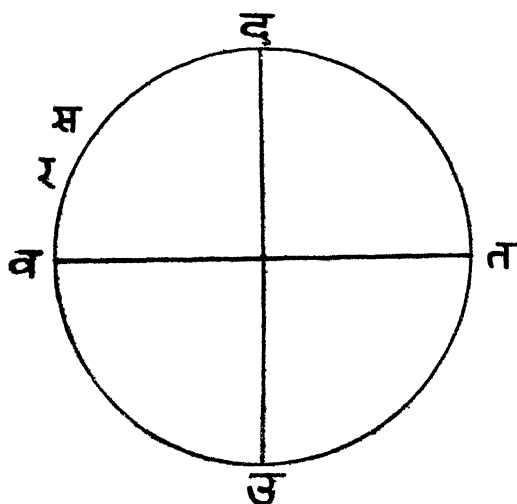
नाक्षत्रसौरवर्ष तुल्य होता तो स्पष्ट मेषसक्रान्ति के समय प्रतिवर्ष सूर्य र बिन्दु मे आ जाया करता, पर हमारा वर्षमान ८.६ पल बडा है, अत वर्षारम्भस्थान र बिन्दु से प्रतिवर्ष लगभग ८ ५ विकला आगे बढता रहता है। स बिन्दु सूर्यसिद्धान्तादि ग्रन्थो की स्पष्ट मेषसक्रान्ति के समय के सूर्य का वर्तमान (लगभग शक १८१८ का) स्थान है। यह शक १८१८ के आरम्भ मे व से २२ अश १२ कला दूर है। यह बिन्दु स्थिर नही है। साराश यह कि व बिन्दु र से ५० २ विकला प्रतिवर्ष पीछे हटता रहता है और स बिन्दु ८ ५ विकला आगे बढता है।

सम्पात को आरम्भस्थान मानकर क्रान्तिवृत्त के जो १२ समान भाग किये जाते हैं, उन्हे सायन राशि और जो समान २७ विभाग किये जाते है उन्हे नक्षत्र कहते है।[1]

---

१. कुछ लोगों का आक्षेप है कि राशि, नक्षत्र, मास और पञ्चाङ्ग में सायन विशेषण लगाना अनुचित है। परन्तु ग्रहों (ग्रहस्थिति) मे सायन विशेषण लगाया जाता है, भास्कराचार्य इत्यादिकों नें भी लगाया है। अतः सायन ग्रहस्थिति सम्बन्धी राशि-नक्षत्रों को भी सायन कहने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। इसी प्रकार सायन गणना

सम्पात चल होने के कारण सायन राशि और नक्षत्र चल है। रेवती या किसी अन्य तारे को आरम्भ स्थान मानकर क्रान्तिवृत्त के जो १२ भाग किये जाते है, उन्हे स्थिर या निरयन राशि और जो २७ भाग किये जाते है, उन्हे स्थिर या निरयन नक्षत्र कहते है (ये स्थिर-चर सज्ञाएँ हमारे ग्रन्थो मे है)। इससे सायन-निरयन पञ्चाङ्ग के लक्षण और स्वरूप का ज्ञान होगा। केरोपन्तीय पञ्चाङ्ग शुद्ध निरयन है। बापूदेव शास्त्री के पञ्चाङ्ग और हमारे ज्योतिष ग्रन्थो द्वारा बनाये हुए अन्य पञ्चाङ्गो के वर्षमान वास्तव निरयनवर्ष तुल्य नही है, परन्तु उनमे अयनाश वर्षमान के अनुसार माने गये है। इस कारण उनकी ग्रहस्थिति अयनाशविरहित ही रहती है, अत उन्हे निरयन पञ्चाङ्ग और उनके राशि नक्षत्रो को निरयन राशिनक्षत्र कह सकते है। उनका वर्षमान वास्तव नाक्षत्रवर्ष से किञ्चित् अधिक होने के कारण उनका आरम्भ स्थान स्थिर नही रहता, परन्तु सब सिद्धान्तो को उसका स्थिर होना ही अभिलषित है, क्योकि उनमे नक्षत्र-भोग स्थिर माने है। उनमे कभी परिवर्तन नही होता। अत हमारे सिद्धान्तग्रन्था-भिमत आरम्भस्थान से जो १२ और २७ भाग माने गये है वे भी स्थिर राशि और नक्षत्र है।

प्रत्येक पद्धति से शुद्ध ग्रहस्थिति लायी जा सकती है

उपर्युक्त ६ सूक्ष्म पञ्चाङ्गो मे प्राचीन पञ्चाङ्गो से एक भिन्नत्व यह है कि इनकी ग्रहगतिस्थिति दृक्प्रत्ययद होती है। पहिले इसी का विचार करेंगे। पञ्चाङ्ग चाहे जिस पद्धति का हो, वह ग्राह्य तभी होगा जबकि उसमे लिखे हुए ग्रहणकाल, दो ग्रहो के युतिकाल, ग्रहनक्षत्रयुतिकाल एव ग्रहस्थान अर्थात् अमुक ग्रह अमुक समय नलिका द्वारा अमुक स्थान मे दिखाई देगा इत्यादि पदार्थ कथित प्रकार से आकाश मे दिखाई दे। इनका यथार्थ अनुभव होने के लिए पञ्चाङ्गगणित मे दो बाते बिलकुल शुद्ध होनी चाहिए। यदि हमे मालूम है कि अमुक मनुष्य अमुक समय पूना में था और वह अमुक गति से बम्बई की ओर जा रहा है, तो हम बता सकेंगे कि वह अमुक समय बम्बई पहुँचा रहेगा और हमारे कथन का ठीक अनुभव होगा। इसी प्रकार यदि किसी ग्रह का किसी

अथवा सायन ग्रहों के आधार पर विरचित पञ्चाङ्ग को भी लाघवार्थ सायन पञ्चाङ्ग कहना कभी भी आक्षेपार्ह नहीं हो सकता। यह एक पारिभाषिक शब्द है। सायन पञ्चाङ्ग के सम्बन्ध में इन्दौर में एक बार शास्त्रार्थ हुआ था। उसमें एक तर्क यह भी निकला था कि सायन बहुव्रीहि समास अर्थात् गौण है अतः सायन पञ्चाङ्ग भी गौण है। सायन पञ्चाङ्ग शब्द को अशुद्ध कहना भी वैसा ही है।

समय का निश्चित स्थान और उसकी वास्तविक गति मालूम हो तो हम ठीक-ठीक बता सकेंगे कि वह अमुक समय अमुक स्थान में रहेगा, उसके प्रथम स्थान की गणना चाहे जहाँ से की गयी हो। पिछले वृत्त में मान लीजिये व बिन्दु से र बिन्दु १८ अंश पर, स बिन्दु २२ अंश पर और द बिन्दु ९० अंश पर है। सूर्य किसी दिन प्रातःकाल व बिन्दु में था। वह प्रतिदिन १ अंश की गति से द बिन्दु की ओर जा रहा है, तो वह व से चलकर ९० दिन में और र से ७२ दिन में तथा स से ६८ दिन में द बिन्दु पर पहुँचेगा। इसमें किसी प्रकार की अशुद्धि नहीं हो सकती। व को आरम्भस्थान और जिस समय सूर्य व बिन्दु में आये उसे वर्षारम्भ-काल मानें तो कहना पड़ेगा कि वह वर्षारम्भ से ९० दिनों में द स्थान पर पहुँचेगा। र को आरम्भस्थान मानें तो वर्षारम्भ से ७२ दिनों में और स को आरम्भस्थान मानने से ६८ दिनों में वह द पर पहुँचेगा। यद्यपि यहाँ आरम्भस्थान और उनमें आने के काल भिन्न-भिन्न दिखाई देते हैं, तथापि द बिन्दु की भाँति सूर्य किसी भी अभीष्ट स्थान में तीनों पद्धतियों से एक ही समय पहुँचेगा। यहाँ व बिन्दु सायन मान का आरम्भस्थान है। र केरोपन्तीय शुद्ध निरयन और स बिन्दु परम्परागत निरयन मान का आरम्भस्थान है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि पञ्चाङ्ग चाहे जिस पद्धति का हो, जिस ग्रन्थ से वह बनाया जाता है, उसकी ग्रहगति और आरम्भकालीन ग्रहस्थिति शुद्ध रहने पर उस पञ्चाङ्ग द्वारा सर्वदा दृक्प्रत्ययद स्थिति आयेगी। आरम्भस्थान में परिवर्तन न करते हुए, हमारे ग्रन्थों की ग्रहगतिस्थितियाँ शुद्ध नहीं हैं। उन्हें शुद्ध करने के लिए हमारे ज्योतिषी तैयार होंगे और हैं। उन्हें कम से कम इतनी ग्रन्थशुद्धि अवश्य करनी होगी, इसे प्रत्येक मनुष्य सम्भवतः स्वीकार करेगा। ग्रहण, ग्रहयुति, ग्रहास्तोदय आकाशस्थ दो पदार्थों के अन्तर पर अवलम्बित हैं, अतः आरम्भस्थान कोई हो, यदि ग्रहगति-स्थिति शुद्ध है, तो ये पदार्थ अवश्य दृक्प्रत्ययद होंगे। बहुत से लोग समझते हैं और इस विषय का यथार्थ ज्ञान होने के पूर्व मैं भी समझता था कि केरोपन्ती पञ्चाङ्ग का ग्रहण आकाश में यथोक्त समय पर दिखाई देता है, अतः वह शुद्ध है। उस पञ्चाङ्ग का ग्राह्यत्व सिद्ध करने के लिए यही मुख्य प्रमाण आगे रखा जाता है (उस पञ्चाङ्ग की प्रस्तावना देखिए)। अज्ञों को बहकाने का यह अच्छा साधन है। सायन पञ्चाङ्गकार इस बात को विशेष महत्व नहीं देते। उनका कथन है, जैसा कि शक १८०७ के सायन-पञ्चाङ्ग की भूमिका में लिखा है कि निरयनपद्धति अशास्त्रीय और सायनपद्धति शास्त्र-विहित है, अतः सायन ही पञ्चाङ्ग मानना चाहिए। सूक्ष्म ग्रहस्थिति लाने का साधन न हो तो कम से कम ग्रहलाघव से ही सायन पञ्चाङ्ग बनाना चाहिए। लोगों का एक कथन यह है कि केरोपन्ती पञ्चाङ्ग से नक्षत्रों की ठीक संगति लगती है पर यह सर्वथा सत्य नहीं

है। सम्प्रति प्रचलित पञ्चाङ्गो के आरम्भ स्थान को भी स्थिर मानकर नक्षत्रो की सङ्गति लगाने की व्यवस्था की जा सकती है। इसका विशेष विवेचन आगे करेगे। यहाँ इतना ही कहना है कि आरम्भस्थान चाहे जो हो, ग्रहगति यदि शुद्ध होगी, तो ग्रहस्थिति भी दृक्प्रत्ययद् होगी। प्राचीन पञ्चाङ्गो से नवीन पञ्चाङ्गो मे जो ग्रह-गतिस्थिति-शुद्धता नामक भिन्नत्व है वह सभी के मत मे ग्राह्य है।

ग्रहलाघवीय इत्यादि पञ्चाङ्गो की वास्तविक अशुद्धि

हमारे देश मे प्रचलित ग्रहलाघवीय इत्यादि पञ्चाङ्गो के तिथ्यादि और ग्रहो मे वास्तविक अशुद्धि कितनी रहती है, यह जानना आवश्यक है। यहाँ उसी का विवेचन करेगे। उपर्युक्त केरोपन्ती इत्यादि पाँच सूक्ष्म निरयन पञ्चाङ्ग और सायन पञ्चाङ्ग सम्प्रति इगलिश नाटिकल आल्मनाक या फ्रेंच कानेडिटेम (कालज्ञान) से बनाये जाते है। परन्तु उनमे से प्रत्येक का आरम्भस्थान एक दूसरे से और ग्रहलाघव के आरम्भस्थान से भिन्न है, अत ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्ग की वास्तविक त्रुटि का ज्ञान केवल उनसे तुलना करने से नही होगा. यह बात उपर्युक्त वृत्त-सम्बन्धी वर्णन से स्पष्ट हो जाती है । शक १८०८ के सायनपञ्चाङ्ग मे ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्ग भी जोड दिया है और उसी मे सूक्ष्म निरयन पञ्चाङ्ग नामक एक तीसरा पञ्चाङ्ग भी दिया है। उनमे से ग्रहलाघवीय और सूक्ष्म निरयन पञ्चाङ्गो का फाल्गुन शुक्ल पक्ष इस पुस्तक के अन्त मे परिशिष्ट मे उद्धृत किया है। सूक्ष्म निरयन पञ्चाङ्ग मे अयनाश ग्रहलाघव इतना ही (शक १८०८ मे २२।४४) लिया है । ग्रहलाघव मे वर्षमान सूर्यसिद्धान्त का है । उस वर्षमान के अनुकूल—जैसा कि पहले बता चुके है—शक १८०८ मे अयनाश २२।२ माना होता तो ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्ग की वास्तविक त्रुटि का ठीक-ठीक पता लगता, तथापि परिशिष्ट मे दिये हुए पञ्चाङ्ग से भी प्राय वास्तविक अशुद्धि का ठीक ज्ञान किया जा सकता है।

तिथि की तुलना करने से ज्ञात हुआ कि ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्ग मे फाल्गुन शुक्ल ९ शुक्रवार को नवमी तिथि सूक्ष्म निरयन पञ्चाङ्ग की नवमी से १३ घटी ४५ पल कम है। कृष्ण पक्ष यद्यपि परिशिष्ट मे नही दिया है तो भी उसमे षष्ठी १३ घटी ५९ पल अधिक है। ग्रहलाघवीय पचाङ्ग मे शुक्ल नवमी को मृगशिरा नक्षत्र १५ घटी २४ पल कम है और प्रीति योग १७ घटी २३ पल कम है । तिथि, नक्षत्र और योग के घटी-पलो मे प्राय इससे अधिक अशुद्धि नही होती, क्योकि शुक्ल या कृष्ण अष्टमी के लगभग ही प्राय अधिक अन्तर पडता है। अमावास्या और पूर्णिमा के लगभग बहुत कम अशुद्धि रहती है। इसका कारण यह है कि हमारे ग्रन्थो के पर्वान्तिकालीन

चन्द्रमा का फल-सस्कार अधिक अशुद्ध नही है। बीच मे हमारा चन्द्रमा कभी २ अश और कभी ३ अश तक अशुद्ध रहता है। इसी कारण बीच मे तिथि, नक्षत्र और योग के घटी-पलो मे इतना अन्तर पडता है। हमारे ग्रन्थो मे रवि परमफल लगभग २ अश १० कला है। युरोपियन कोष्ठको मे सम्प्रति १।५५ है । इस कारण रवि कभी शुद्ध आता है ओर कभी १५ कला पर्यन्त अशुद्ध रहता है। हमारे ग्रन्थानुसार तिथि का लघुतम मान लगभग ५४ घटी और महत्तम मान लगभग ६६ घटी है, परन्तु नाटिकल आल्मनाक के अनुसार ये मान क्रमश ५० और ६६ घटी है (चन्द्रमा के सान्तर होने के कारण ही इतना अन्तर पडता है)। इस कारण नाटिकल आल्मनाक द्वारा बनाये हुए पञ्चाङ्गो मे तिथि-नक्षत्र के क्षय और वृद्धियाँ कुछ अधिक होती है। शक १८०९ के सायन और केरोपन्ती दोनो पञ्चाङ्गो मे तिथिक्षय सब १६ और तिथि-वृद्धियाँ १० थी। ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्ग मे क्षय १३ और वृद्धियाँ ७ थी। शक १८०८ के सूक्ष्म निरयन पञ्चाङ्ग मे नक्षत्रो के क्षय १० तथा वृद्धियाँ १३ थी और ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्ग मे क्षय ९ तथा वृद्धियाँ १२ थी। ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्ग के परिशिष्ट मे दिये हुए फाल्गुन शुक्ल मे मङ्गल में लगभग १ अश १ कला, गुरु मे ३।२६, शुक्र मे १।६, शनि में २।४० और राहु मे ४१ कला अशुद्धि है। कृष्ण पक्ष के बुध मे ३।३१ अशुद्धि है। कभी-कभी वह ९ अश तक पायी गयी है। इस अन्तर का मुख्य कारण यह है कि दोनो के मध्यम ग्रहो मे अन्तर पडता है। मन्दफल और शीघ्रफल के भिन्नत्व के कारण भी कुछ अन्तर पडता है। मन्दफल सम्बन्धी अन्तर का विवेचन पहले किया जा चुका है।

जिन विषयो मे सायनपञ्चाङ्ग और ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्ग का अन्तर आकाश में ग्रहण दिखाई देता है, उनमे से युति, अस्त, उदय, इत्यादि कुछ बातें परिशिष्ट में दिये हुए पक्ष के शास्त्रार्थ सम्बन्धी कोष्ठक मे लिखी है। प्रतिवर्ष के सायनपञ्चाङ्ग मे ऐसी घटनाओ की एक सूची दी रहती है। बहुतो ने इस बात का अनुभव किया है कि इस विषय मे सायनपञ्चाङ्ग का गणित आकाश से ठीक मिलता है और ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्ग का अशुद्ध ठहरता है। शक १८०८ का सूचीपत्र परिशिष्ट मे है। उसका अनुभव हुआ है। शक १८०६ के ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्ग मे चैत्र मे चन्द्रग्रहण नही था पर सायन और केरोपन्ती इत्यादि सूक्ष्म निरयन पञ्चाङ्गों मे वह ग्रस्तोदित था। शक १८१४ के ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्गानुसार वैशाख मे चन्द्रग्रहण का सूर्योदय के पूर्व ही मोक्ष हो जाता था, पर सायन इत्यादि सूक्ष्म पञ्चाङ्गो मे वह ग्रस्तास्त था। इन दोनों प्रसङ्गो मे सायन इत्यादि सूक्ष्म पञ्चाङ्ग ही सत्य सिद्ध हुए।

दृक्प्रत्यय सम्बन्धी जो अशुद्धियाँ ग्रहलाघव मे है वे ही अन्य प्रान्तो मे प्रचलित मकरन्द इत्यादि ग्रन्थो द्वारा निर्मित पञ्चाङ्गो मे भी है।

साराश यह कि इस देश मे सर्वत्र प्रचलित साप्रतिक पञ्चाङ्ग आकाश से नही मिलते, अत. उनकी ग्रहगतिस्थितियॉ शुद्ध की जानी चाहिए, अर्थात् पञ्चाङ्ग बनाने के लिए नवीन ग्रन्थो का निर्माण होना चाहिए । पूर्वलिखित ज्योतिष ग्रन्थो का इतिहास स्पष्ट बता रहा है कि हमारे ज्योतिषी गणितानुसार प्रत्यक्ष अनुभव होने के लिए सदा प्राचीन ग्रन्थो मे बीजसस्कार देकर नवीन ग्रन्थ बनाते रहे है। हमे भी इस समय ऐसा ही करना चाहिए। यह बात प्राचीन ज्योतिषियो को भी मान्य है।

सायन और निरयन मानों का ग्राह्याग्राह्यत्व

प्राचीन और नवीन पञ्चाङ्गो मे दूसरा भिन्नत्व वर्षमान और अयनाश का है। अब यहॉ इसी का विचार करना है। इस विषय मे दो पक्ष है। सायन पञ्चाङ्ग एक पक्ष मे तथा प्राचीन निरयन पञ्चाङ्ग और केरोपन्ती इत्यादि नवीन सूक्ष्म निरयन पञ्चाङ्ग दूसरे पक्ष मे समाविष्ट होते है। अब यहॉ विचार यह करना है कि इन सायन और निरयन दो मानो मे से ग्राह्य कौन-सा है । यह विवेचन तार्किक, ऐतिहासिक, धर्मशास्त्रीय और व्यावहारिक, इन चार दृष्टियो से किया जा सकता है।

विषयप्रवेश

विषय का साधारण ज्ञान होने के लिए यहॉ आरम्भ मे दो एक बाते बतानी आवश्यक है। जिस दिन दिवस और रात्रि के मान समान रहते है अर्थात् सूर्य सम्पात मे अर्थात् पूर्वोक्त वृत्त के व या त बिन्दु मे आता है उस दिन को विषुवदिन कहते है और जब वह सम्पात से तीन राशि पर अर्थात् उ और द स्थानो मे जाता है उस समय क्रमश· उत्तरायण और दक्षिणायन लगते है। इन चारो बिन्दुओ मे समान अर्थात् सम्पात-तुल्य गति है। साराश यह कि विषुव, अयन और दिनमान सायन रवि पर अवलम्बित हैं। सूर्य वसन्तसम्पात मे आने के बाद जब तक तुलासम्पात मे जाता है, उत्तर गोलार्ध मे रहता है। उस समय हमारे देश में दिनमान ३० घटी से अधिक रहता है और गरमी अर्थात् वसन्त का कुछ भाग, ग्रीष्म, वर्षा और शरद् का कुछ भाग, ये ऋतुएँ रहती है। विशिष्ट स्थानो मे कुछ अन्य कारणो से ऋतुओ का आद्यन्त कुछ आगे पीछे भी हो जाता है, यह दूसरी बात है, परन्तु सामान्य नियम उपर्युक्त ही है, अर्थात् ऋतुएँ भी सूर्य की सायन स्थिति पर ही अवलम्बित है । सूर्य जब वसन्तसम्पात मे रहेगा उस समय हमारे देश में वसन्त ऋतु रहेगी और दक्षिणायन के आरम्भ में वर्षा का आरम्भ हुआ रहेगा, उस समय सूर्य चाहे जिस तारात्मक नक्षत्र मे हो।

शक ४४४ के लगभग निरयन अश्विनी और मेष का आरम्भस्थान वसन्तसम्पात

सायनपद्धति

सायनपञ्चाङ्गकार (लेले मोडक और मै) सायनपञ्चाङ्ग जिस पद्धति से बनाते है वह यह है—सम्पात से आरम्भ कर क्रान्तिवृत्त के तुल्य २७ भाग करके उन्हे अश्विन्यादि नक्षत्र और तुल्य १२ भागो को मेषादि राशि कहा है, अर्थात् अश्विनी नक्षत्र और मेष राशि को सम्पात से आरम्भ किया है, वहाँ तारात्मक नक्षत्र चाहे जो हो। इसी प्रकार सायन राशियो मे सूर्य के प्रवेश को सक्रान्ति कहा है और उसी के अनुसार चान्द्रमासो के नाम रखे है। जिस चान्द्रमास मे सायन मेषसक्रान्ति होती है अर्थात् वसन्तसम्पात मे सूर्य जाता है, उसे चैत्र कहा है। इसी प्रकार वैशाखादिकों की भी व्यवस्था की है। इस पद्धति से चैत्र मे सर्वदा वसन्त रहेगा, आर्द्रा नक्षत्र मे वर्षा आरम्भ होगी और इसी प्रकार सब ऋतुएँ नियमित मासो मे होगी।

तार्किक दृष्टया विवेचन

सायन और निरयन मानो के ग्राह्याग्राह्यत्व का विचार पहिले तार्किक दृष्टि से करेगे। जैसे दिन की गणना का प्राकृतिक साधन सूर्योदय और मासगणना का प्राकृतिक साधन चन्द्रमा का पूर्ण या अदृश्य होना है, उसी प्रकार वर्षगणना का स्वाभाविक साधन ऋतुओ की एक परिक्रमा है। ऋतुएँ उत्पन्न न हुई होती तो वर्ष एक कालमान न बना होता, पर ऋतुओ की उत्पत्ति का कारण सूर्य है, अत. वर्ष सौर मानना चाहिए और चूकि ऋतुएँ सायन रवि के अनुसार होती है अत वर्ष भी सायन सौरमान का मानना चाहिए। दूसरे यह कि १२ चान्द्रमासो मे ऋतुओ का एक पूर्ण पर्यय नही होता, इसलिए बीच मे अधिमास डालना पडता है। यदि अधिमास का प्रक्षेपण न किया जाय तो जैसे मुसलमानो का मुहर्रम ३३ वर्षो मे सब ऋतुओ मे घूम आता है, उसी प्रकार ३३ वर्षो मे चैत्र मे क्रमश सब ऋतुएँ आ जाया करेगी। अत सिद्ध है कि अधिमास मानने का केवल यही एक उद्देश्य है कि किसी भी मास मे सर्वदा एक ही ऋतु रहे। चूकि ऋतुएँ सायन मान पर अवलम्बित है, अत अधिकमास का अवलम्बन करना तत्त्वत सायन मान स्वीकार करने के समान ही है। जैसे अधिमास न मानने से ३३ वर्षो मे प्रत्येक मास मे सभी ऋतुएँ क्रमश घूम जाती है, उसी प्रकार नाक्षत्र (निरयण) सौरवर्ष मानने से लगभग २६००० वर्षो मे एक ही मास मे क्रमश. सब ऋतुएँ आ जायेगी, अर्थात् चैत्र मे आज यदि वसन्त है तो सवा चार सहस्र वर्षो मे ग्रीष्म, साढे आठ सहस्र वर्षो मे वर्षा और १७ सहस्र वर्षो के बाद हेमन्त ऋतु होने लगेगी। ३३ वर्षो मे होनेवाले ऋतु-मास-विपर्यय को दूर करने के लिए यदि हम अधिक मास मानते है, तो बहुत दिनो मे

ही क्यो न आये ' परन्तु जिसका आना निश्चित है उस ऋतुमास-विपर्यय को हटाने के लिए सायन सौरवर्ष स्वीकार करना भी अत्यन्त आवश्यक है।

ऐतिहासिक विवेचन

सायन मान का ग्राहत्व सिद्ध करने के लिए उपर्युक्त दो ही प्रमाण पर्याप्त है तथापि यहाँ परम्परा का भी विचार करेंगे। सायन वर्षमान नैसर्गिक है अत सृष्टि उत्पन्न होने के बाद जब से वर्ष शब्द का व्यवहार होने लगा है तभी से उसका प्रचार होना चाहिए और वस्तुत वह तभी से प्रचलित है। प्राय वेदकाल मे उसी का प्रचार था। प्रथम भाग के उपसहार में इसका विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किया है। मधु, माधव इत्यादि सज्ञाओ का प्रचार होने के पहिले अधिकमास का प्रक्षेपण कर ऋतुओ के पर्यय द्वारा वर्ष मानते रहे होगे अर्थात् उस समय कुछ स्थूल सायन ही वर्ष प्रचलित रहा होगा। उसके बाद मध्वादि नामो का प्रचार हुआ। उस समय सायनवर्ष के मान में बहुत सूक्ष्मत्व आ गया था। उसके सैकडो वर्ष बाद चैत्रादि नाम प्रचलित हुए, तब तक सायन मान का ही प्रचार था शकपूर्व २००० वर्ष के लगभग चैत्रादि सज्ञाएँ प्रचलित हुई और निरयन मान की नीव पडी वेदाङ्गज्योतिष मे धनिष्ठारम्भ से वर्षारम्भ माना है। यह निरयन मान है। परन्तु वेदाङ्गज्योतिष मे उत्तरायणारम्भ से भी वर्षारम्भ माना है। सूर्य के पास के नक्षत्र दिखाई नही देते, इससे धनिष्ठा के आरम्भ मे सूर्य के आने के काल को जानने की अपेक्षा उत्तरायणारम्भ काल जानना एक अज्ञ के लिए भी सुगम होता है, अत वस्तुत अयनारम्भ से ही वर्ष का आरम्भ मानते रहे होगे। पहले बता चुके है कि वेदाङ्गज्योतिष की पद्धति बडी अशुद्ध है, अत. उस समय ९५ वर्षो मे ३८ के स्थान मे ३५ अधिमास मानकर उत्तरायणारम्भ मे वर्षारम्भ मानने की पद्धति का प्रचलित रहना ही अधिक सम्भवनीय ज्ञात होता है। साराश यह कि उस समय सायन वर्ष ही प्रचलित था। वेदाङ्गकालीन अधिकाश ग्रन्थो मे वसन्त के आरम्भ मे वर्षारम्भ का वर्णन है अत. उस समय प्रत्यक्षत. अथवा कम से कम हेतुत सायन वर्ष ही ग्राह्य माना जाता था।

अब ज्योतिषसिद्धान्तकालीन पद्धति का विचार करेंगे। सूर्यसिद्धान्त के मानाध्याय में लिखा है—

भचक्रनाभौ विषुवद्वितय समसूत्रगम् ।
अयनद्वितयञ्चैव चतस्र प्रथितास्तु ता· ।।७।।
तदन्तरेषु संक्रान्तिद्वितय द्वितय पुनः ।
नैरन्तर्यात्तु संक्रान्तेर्ज्ञेय विष्णुपदीद्वयम् ।।८।।

भानोर्मकरसक्रान्ते षण्मासा उत्तरायणम् ।
कर्कादेस्तु तथैव स्यात् षण्मासा दक्षिणायनम् ॥९॥ मानाध्याय

इस श्लोक मे कथित कर्क-मकर इत्यादि सक्रान्तियाँ सायन ही होनी चाहिए, अन्यथा 'सूर्य की मकरसंक्रान्ति से उत्तरायण होता है' वाक्य की सगति नही लगेगी। यहाँ शका हो सकती है कि ये वाक्य उस समय के हैं जब कि अयनचलन का ज्ञान नही था, परन्तु उपर्युक्त श्लोक मे यह अर्थ गर्भित है कि दो अयनो का वर्ष होता है और इसी के आगे का श्लोक है—

द्विराशिनाथा ऋतवस्ततोऽपि शिशिरादय ।
मेषादयो द्वादशैते मासास्तैरेव वत्सर ॥१०॥

इसमे बताया है कि उस (मकर) से आरम्भ कर दो-दो राशियो की शिशिरादि ऋतुएँ-होती है। ये ही मेषादि १२ मास है और इन्ही से वर्ष बनता है, अर्थात् यहाँ यह स्पष्ट हो जाता है कि १२ मासो का एक ऋतुपर्यय होता है और वही वर्ष है। अत. उपर्युक्त शका को स्वीकार कर लेने पर भी यह बात सिद्ध हो जाती है कि सूर्यसिद्धान्त को तत्त्वत. सायनमान ही अभीष्ट है। हम ब्रह्मगुप्त के वर्णन मे सिद्ध कर चुके है कि वे विषुवदिन से सौरवर्ष का आरम्भ मानते थे अर्थात् उन्हे भी सायन ही वर्ष मान्य था। दूसरी बात यह है कि हमारे ज्योतिषग्रन्थो का वर्षमान वास्तविक नाक्षत्र-सौर वर्ष के मान से लगभग ८ पल अधिक है, अत निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता कि वह नाक्षत्रसौर ही है। सूर्य जिस नक्षत्र मे रहता है वह नक्षत्र दिखाई नही देता, अत नाक्षत्र सौरवर्ष का मान निश्चित करने की अपेक्षा सायन सौरवर्ष के मान निश्चित करना सरल है। ब्रह्मगुप्त ने विषुवदिन के आधार पर वर्षमान-निश्चित किया है अत. उनसे पहिले के ज्योतिषियो ने भी उसी प्रकार उसी दृष्टि से वर्षमान का निश्चय किया होगा, इसकी अधिक सम्भावना है। इससे ज्ञात होता है कि उन्हे वस्तुत. सायन वर्षमान ही अभीष्ट था। यद्यपि वेदकाल के अन्त से सम्पातगति का ज्ञान होने के काल पर्यन्त चैत्रादि नामो का प्रचार होने के कारण तथा प्राचीनो द्वारा स्वीकृत वर्षमान सायन वर्ष की अपेक्षा निरयन वर्ष के अधिक निकट होने के कारण परिणाम निरयनवर्ष अथवा लगभग उसके तुल्य वर्षमान मानने सरीखा हुआ, तथापि उनका उद्देश्य सायन वर्ष मानने का ही था, इसमे कोई सन्देह नही है और ऐसा ही होना स्वाभाविक भी है। चैत्र मे वर्षाऋतु रहे, इसे भला कौन स्वीकार करेगा।

शककाल की सातवी शताब्दी के लगभग हमारे देश मे अयनचलन का सूक्ष्म ज्ञान हुआ। उसके बाद हमारे यहाँ भास्कराचार्य सदृश अच्छे अच्छे ज्योतिषी हुए जो निरयन

मान के परिणाम को समझ सकते थे, पर उन्होने भी उसका परित्याग नही किया। मालूम होता है, परम्परागत पद्धति का विरोध एव व्यवहार मे अव्यवस्था होने के भय मात्र से उन्हे वैसा करने का साहस नही हुआ। उनमे से अधिकाश ज्योतिषी सम्पात का पूर्ण भ्रमण नही बल्कि आन्दोलन मानते थे और उस समय ऋतुओ मे भी अन्तर नही पडा था। कदाचित् इसी कारण उन्होने सायन मान स्वीकार न किया हो, फिर भी अयन और विषुव का वास्तविक काल उन्होने लिख ही दिया है।

यूरोपियन ज्योतिष के विज्ञ सम्प्रति यह जानते है कि सम्पात की पूर्ण प्रदक्षिणा होती है, अत देखना है, हमारे देश के आधुनिक ज्योतिषियो का इस विषय मे क्या मत है। इस समय के प्रसिद्ध ज्योतिषी बापूदेव शास्त्री का कथन है कि वस्तुत सायन गणना ही ठीक है, परतु इस देश मे सर्वत्र निरयन गणना का प्रचार होने के कारण मै भी निरयनपञ्चाङ्ग ही बनाता हूँ। उनका एक यह भी उद्गार प्रकट हुआ है कि सात आठ सौ वर्ष के बाद के ज्योतिषी इसका अधिक विचार करेगे। इस समय के दूसरे प्रख्यात ज्योतिषी केरोपन्त से सन् १८८३ ई० मे थाना के अरुणोदय नामक समाचारपत्र द्वारा इस विषय पर सायनवादियो का शास्त्रार्थ हुआ था। उस प्रसङ्ग मे ४ नवम्बर सन् १८८३ के अक मे केरोपन्त ने लिखा था—"मेरा स्वकीय मत तो यह है कि गतिविशिष्ट पदार्थो की गणना किसी स्थिर स्थान से करना प्रशस्त है। चल स्थान से चल पदार्थ की गति का मापन करना अप्रशस्त है। सूर्य, चन्द्र, ग्रह, सम्पात इत्यादि पदार्थ चल है। उनकी गति स्थिर पदार्थ तारागण से ही नापनी चाहिए। सौकर्य के लिए अथवा किसी विशिष्ट स्थान मे कोई अडचन दिखाई देने पर इस पद्धति को छोड गतिमान् स्थान से भी गतिमान् पदार्थ की गति नापी जा सकती है। जैसे स्थिर नक्षत्रो के रहते हुए भी दिन का आरम्भ करने के लिए मध्यम मान से चलनेवाले एक सूर्य की कल्पना करनी पडती है, परन्तु सर्वत्र ऐसा करना ठीक नही है। ऋतुएँ सायन सम्पात पर अवलम्बित है, अत. मुझे भी सम्पात के सम्बन्ध से ही वर्षारम्भ मानना अच्छा मालूम होता है, परन्तु 'यद्यपि शुद्ध लोकविरुद्ध नाचरणीय नो करणीयम्' वाक्य के मान्यत्व में अभी न्यूनता नही पायी जा रही है। इन मानो मे से कौन सा शुद्ध है, कौन सुगम है, कौन दुर्गम है, कौन शास्त्रसम्मत है, कौन शास्त्रविरुद्ध है—इन बातो का किसने कब विचार किया है? जिस समय जैसा प्रसङ्ग आता है हम तदनुसार तत्तत् मानो को स्वीकार करते है।" यहाँ केरोपन्त का यह कथन—ऋतुएँ सम्पात पर अर्थात् सूर्य की सायन स्थिति पर अवलम्बित है, परन्तु सायन वर्ष मानने मे 'यद्यपि शुद्ध लोकविरुद्ध' एक ही अडचन है—बडे महत्व का है।

सन् १८९३ में पूना के केसरी नामक पत्र के दो अकों मे सायन-निरयनवाद

सम्बन्धी एक लेख छपा था। उसका कुछ अश यहाँ उद्धृत करता हूँ। केसरीकार लोकमान्य तिलक लिखते है—"ऋतुएँ सम्पातबिन्दु पर अवलम्बित है .. सूर्य के अश्विनी नक्षत्र मे रहने पर वसन्त का आरम्भ मानने से उस समय . चैत्रमास रहना चाहिए। दो सहस्र वर्षो मे वह (वसन्तारम्भ) फाल्गुन शुक्ल प्रतिपदा को और चार सहस्र वर्षो मे माघ शुक्ल प्रतिपदा को होने लगेगा।

वर्तमान निरयन पद्धति को मानते रहने से कुछ दिनो मे चैत्र मे वर्षा ऋतु आ जायगी, यह बात गणित से सिद्ध हो चुकी है। इसमे सन्देह का स्थान नही है तथापि जिन्हे गणित के प्रपञ्च मे पडने का अवकाश नही है अथवा जिन्हे इसका विशेष ज्ञान नही है, उन लोगो को इस बात का विश्वास दिलाने के लिए मैने यहाँ केरोपन्त और तिलक प्रभृति गणित-विशेषज्ञो के मत प्रदर्शित किये। केरोपन्त और तिलक का मत यह है कि पञ्चाङ्ग की पद्धति निरयन ही रहनी चाहिए, परन्तु उसमे कुछ सशोधन आवश्यक है। अत ऋतुसम्बधी सायनपञ्चाङ्गकारो के कथन के विषय मे उनकी मान्यता विशेष महत्त्व का पदार्थ है। केरोपन्त और तिलक ने निरयन पद्धति को ही स्थिर रखने का एक मार्ग बताया है, पर वह ग्राह्य नही है,। उसका विवेचन आगे करेगे।

वर्षा का प्रथम नक्षत्र आर्द्रा

कुछ लोग समझते हैं कि वर्ष का आरम्भ सदा मृगशिरा नक्षत्र से ही होता रहेगा, अश्विनी से होना असम्भव है, परन्तु आज से १४०० वर्ष पूर्व वर्षा का आरम्भ-नक्षत्र मृग नही था। हमारे ग्रन्थो मे आर्द्रा को वर्षा का प्रथम नक्षत्र कहा है। पञ्चाङ्गो मे जो सवत्सरफल लिखा रहता है, उसमे वर्षासम्बन्धी फल आर्द्रा नक्षत्र मे सूर्य के प्रवेश-काल के आधार पर लिखते है। इतना ही नही, जिस दिन सूर्य आर्द्रा मे प्रवेश करता है, उसे मेघो का स्वामी मानते है। इससे ज्ञात होता है कि पहिले आर्द्रा ही वर्षारम्भ नक्षत्र माना जाता था, मृगशिरा उसके बाद माना जाने लगा है। इसी प्रकार कुछ दिनो बाद रोहिणी मे, उसके बाद कृत्तिका मे और तदनन्तर कुछ दिनो मे अश्विनी मे अर्थात् चैत्र मे वर्षा आरम्भ होने लगेगी, परन्तु नक्षत्र सायन मानने से ऐसी अव्यवस्था नही होगी।

मृगशिरारम्भ की तारीख

जून की पाँचवी तारीख को मृगशिरा लगता है। कुछ लोगो की धारणा है कि यह नियम कभी भी अशुद्ध नही होगा और तदनुसार वर्ष मे भी गडबडी नही होगी,

परन्तु इगलिश वर्ष सायन होता है, अत· निरयन सूर्यनक्षत्र सर्वदा एक ही तारीख से नही आरम्भ होगा। लगभग शक १७०७ के पहिले मृगशिरा जन की चौथी या पॉचवी तारीख को लगता था, उसके बाद पॉचवी या छठी को लगने लगा, शक १८१९ के बाद वह छठी या सातवी तारीख को लगेगा, पॉचवी को कभी नही लगेगा। परन्तु सायन-पद्धनि मे ऐसी गडबड नही है। इससे सिद्ध होता है कि परम्परा सायनपद्धति के ही· अनुकूल है।

धर्मशास्त्रदृष्टचा विचार

उपर्युक्त विवेचन मे और इसके पहिले इस विषय पर धर्मशास्त्र की दृष्टि से बहुत कुछ लिख चुके है। यहॉ कुछ विस्तारपूर्वक इसका विवेचन करेगे।

मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृत . ।

तै० स० ४।४।११

इत्यादि वेदवाक्य, जिनमे छहो ऋतुओ के मास बताये है, पिछले पृष्ठो मे लिख चुके है। तदनुसार मधु माधव मासो मे सर्वदा वसन्त ऋतु रहनी चाहिए।

अश्वयुज्यामाश्वयुजीकर्म ।।१।। आहिताग्नेराग्रयणस्थालीपाक ।।४।।

आश्वलायनगृह्सूत्र, अध्याय २ खण्ड २

यहॉ सूत्रकार ने आश्विन की पूर्णिमा को आग्रयणस्थालीपाक करने को कहा है। उसके लिए नवीन अन्न की आवश्यकता पडती है, यह बात प्रसिद्ध है ।

मार्गशीर्ष्या प्रत्यवरोहण चतुर्दश्याम् ।।१।। पौर्णमास्या वा ।।२।।
हेमन्त मनसा ध्यायेत् ।।५।।

आश्व० गृ० सूत्र २।३

प्रत्यवरोहण कर्म मार्गशीर्ष मे होता है । यह हेमन्तदेवताक है, अत मार्गशीर्ष मे हेमन्त ऋतु रहनी चाहिए।

अथातोध्यायोपाकरणम् ।।१।। ओषधीना प्रादुर्भावे श्रवणेन श्रावणस्य ।।२।।

आश्वलायनगृह्यसूत्र ३।५

यहॉ बताया है कि श्रावण मे, जब कि ओषधियो का प्रादुर्भाव होता है, उपाकर्म करना चाहिए अर्थात् श्रावण मे वर्षाकाल रहना आवश्यक है। भिन्न-भिन्न सूत्रो मे इसी प्रकार के और भी अनेक वचन है, जिनसे यह अर्थ प्रकट होता है कि अमुक मास

में अमुक ऋतु रहनी चाहिए। अब अमुक मास मे अमुक ऋतु मे अमुक कर्म करना चाहिए, इस अर्थ मे द्योतक पुराणादिको के कुछ वचन यहाँ उद्धृत करते है।

अशोककलिकाश्चाष्टौ ये पिबन्ति पुनर्वसौ।
चैत्रे मासि सितेऽष्टम्या न ते शोकमवाप्नुयु ॥

प्राशनमन्त्र—त्वमशोकवराभीष्ट मधुमाससमुद्भव ॥ लिङ्गपुराण

यहाँ वसन्त मे उत्पन्न अशोककलिका का प्राशन चैत्र मे करने को कहा है।

अतीते फाल्गुने मासि प्राप्ते चैत्र महोत्सवे।
पुण्येहनि विप्रकथिते प्रपादान समाचरेत् ॥
प्रपा कार्या च वैशाखे देवे देया गलन्तिका।
उपानद्व्यजनच्छत्रसूक्ष्मवासासि चन्दनम् ॥१॥
जलपात्राणि देयानि तथा पुष्पगृहाणि च।
पानकानि विचित्राणि द्राक्षारम्भाफलानि च ॥२॥ मदनरत्न

इससे सिद्ध होता है कि चैत्र, वैशाख मे सदा उष्णकाल रहना चाहिए।

शरत्काले महापूजा क्रियते या च वार्षिकी ॥
आश्विने मासि मेघान्ते देवीपुराण

इससे ज्ञात होता है कि आश्विन में सदा शरद् ऋतु रहनी चाहिए।

मेषादौ च तुलादौ च मैत्रेय विषुवस्थित।
तदा तुल्यमहोरात्र करोति तिमिरापह।
अयनस्योत्तरस्यादौ मकर याति भास्कर।

विष्णुपुराण

इससे सिद्ध होता है कि विषुवदिन मे मेष और तुला सक्रातियाँ तथा उत्तरायणारम्भ के दिन मकरसक्रान्ति होनी चाहिए, पर सक्रान्ति सायन मान बिना ऐसा नही हो सकता।

उपर्युक्त श्रुति, सूत्र और पुराण वाक्यो से स्पष्ट ज्ञात होता है कि मध्वादि अर्थात् चैत्रादि मासो मे सर्वदा वसन्तादि ऋतुएँ रहनी चाहिए, पर सायन मान माने बिना ऐसा होना सर्वथा असम्भव है।

यद्यपि इन वचनों के बाद ज्योतिषग्रन्थो के अथवा ज्योतिषविषयक अन्य प्रमाण

देने की आवश्यकता नही रह जाती तथापि धर्मशास्त्रग्रन्थो मे इन वचनो को भी प्रमाण माना है, अत यहाँ कुछ बचन उद्धृत करता हूँ।[1]

यस्मिन्दिने निरश स्यात् सस्कृतोऽर्कोऽयनाशकै ।
तद्दिन च महापुण्य रहस्य मुनिभि स्मृतम् ।।

ज्योतिर्निबन्धे वसिष्ठ

यहाँ विषुवदिन का पुण्यत्व बताया है।

अयनाशसस्कृतो भानुर्गोले चरति सर्वदा ।
अमुख्या राशिसक्रान्तिस्तुल्य कालविधिस्तयो ।।
स्नानदानजपश्राद्धव्रतहोमादिकर्मभि ।
सुकृत चलसक्रान्तावक्षय पुरुषोऽश्नुते ।।

पुलस्त्य

चलसस्कृततिग्माशो सक्रमो य स सक्रम ।
अजागलस्तन इव राशिसक्रान्तिरुच्यते ।।
पुण्यदा राशिसक्रान्ति केचिदाहुर्मनीषिण ।
नैतन्मम मत यस्मान्न स्पृशेत् क्रान्तिकक्षया ।।

वसिष्ठ

सस्कृतायनभागार्कसक्रान्तिस्त्वयन किल ।
स्नानदानादिषु श्रेष्ठा मध्यम. स्थानसक्रम ।।

सोमसिद्धान्त

अयनाशसस्कृतार्कस्य मुख्या संक्रान्तिरुच्यते ।
अमुख्या राशिसक्रान्तिस्तुल्य कालावधिस्तयो ।।४७।।

रोमशसिद्धान्त, स्पष्टाधिकार

चलसंस्कृततिग्माशो संक्रमो य स सक्रम ।
नान्योऽन्यत्र च तत्क्षेत्र नैति तत् क्रान्तिकक्षया ।।६२।।

शाकल्यसंहिता, तृतीयाध्याय

यहाँ कुछ वचनों मे राशिसक्रान्ति अर्थात् निरयन सक्रान्ति को त्याज्य तथा चल सायन संक्रान्ति को ग्राह्य और कुछ वचनो मे सायन की अपेक्षा निरयन को गौण

---

१. इनमें से अधिकांश वचन मुहूर्तचिन्तामणि की पीयूषधारा टीका के हैं।

कहा है। कुछ ग्रन्थकारो ने इनमे से कुछ वचनो को प्रशसापरक कहा है, परन्तु विषुव और अयन का पुण्यत्व पुराणादि अनेक ग्रन्थो मे वर्णित होने के कारण वे उनका त्याग नही कर सके है। निरयन सक्रान्ति के पुण्यकाल इत्यादि का वर्णन करते समय उन्हे 'एव अयनेषु' लिखना पडा है और एक ज्योतिषशास्त्रानभिज्ञ धर्मशास्त्रग्रन्थकार ने तो मेषादि सक्रान्तियो की तरह 'मेषायन' इत्यादि १२ अयनो की कल्पना कर डाली है। कई निरयन पञ्चाङ्गो मे भी सायन सक्रान्ति का निर्देश इसी प्रकार अथवा दूसरे शब्दो द्वारा किया है, यह पहले लिख चुके है। हमारे बम्बई और पूना के पञ्चाङ्गकार महाराष्ट्रनिवासियो को इतना भी लाभ नही होने देते, तथापि धर्मशास्त्र के एतद्देशीय उत्तम विद्वान् यह बात जानते है कि सायन सक्रान्ति पर भी स्नानदानादि कर्म विहित है।[1] 'षण्णवतिश्राद्ध' अर्थात् वर्ष मे जो ९६ श्राद्ध बताये है, उनमे सक्रान्तिश्राद्ध १२ ही है, २४ नही। इसी प्रकार अन्य कर्मो मे भी सक्रान्तियाँ १२ ही माननी चाहिए।

साराश यह कि सायन पञ्चाङ्ग श्रुतिस्मृतिपुराण-विहित काल का प्रदर्शक है, अत उसी को मानना चाहिए।

शंकासमाधान

अब व्यावहारिक दृष्टि से विवेचन करने के पहिले सायन पद्धति पर किये जाने-वाले आक्षेपो का विचार करेगे।

सम्पात चल है। दृश्य तारो से वह क्रमश पीछे हटता जा रहा है। वहाँ चाहे जो तारा आ सकता है। कुछ वर्ष पहिले वह रेवती मे था, आज उत्तराभाद्रपदा के पास है, कुछ दिनो बाद पूर्वाभाद्रपदा मे चला जायगा। सायनगणना मानने से पूर्वाभाद्रपदा मे सम्पात रहते हुए भी उस स्थान को अश्विनी कहना पडेगा। पूर्वाफाल्गुनी को सायन चित्रा कहना पडेगा। सायन पञ्चाङ्ग मे सम्प्रति ऐसा ही हो भी रहा है। उसमे तारा-चन्द्र-युतियाँ दी रहती है। उन्हे देखने से ज्ञात होगा कि पञ्चाङ्ग मे चन्द्रमा की युति उत्तराफाल्गुनी से लिखी है और दिननक्षत्र अर्थात् चन्द्रनक्षत्र चित्रा है। इस प्रकार ग्रह एक तारात्मक नक्षत्र के पास रहते हुए हमे उसे दूसरे नक्षत्र मे बताना पडेगा, अर्थात् सायनगणना से तारात्मक (दृश्य) नक्षत्र प्रतिकूल हो जायँगे। नक्षत्रो के नाम तारो के आधार पर रखे गये है। मृगशीर्ष, हस्त इत्यादि नामो से ज्ञात होता है कि किसी

---

१. सन् १८८४ मे पूना के वसन्तोत्सव मे सायनवाद के समय प्रख्यात धर्मशास्त्रज्ञ वेदशास्त्रसम्पन्न श्री गंगाधर शास्त्री दातार ने यह स्वीकार किया था कि पञ्चाङ्गों में सायन संक्रांतियां लिखनी चाहिए।

स्थानविशेष के—वहाँ तारा चाहे जो रहे—अश्विनी इत्यादि नाम नही रखे है। वेदो मे ही तारो की सख्या के अनुसार कुछ नक्षत्रो के नाम एकवचनान्त, कुछ के द्विवचनान्त और कुछ के बहुवचनान्त है, यह प्रथम भाग मे लिख चुके है। अत यह सिद्ध है कि नक्षत्रो के अश्विन्यादि नाम तारोके ही आधार पर रखे गये है। परन्तु वर्ष सायन मानने से नक्षत्रो का उनके तारो से कोई सम्बन्ध नही रह जाता। चैत्रादि मासो के नाम भी तारात्मक नक्षत्रो के ही आधार पर पडे है, परन्तु सायन मान को ग्रहण करने से उनका उन तारो से कोई सम्बन्ध नही रह जाता। उदाहरणार्थ मान लीजिए, सम्पात तारात्मक पूर्वाभाद्रपदा मे है और सूर्य भी उसीके पास है, चन्द्रमा उस समय पूर्ण हो रहा है। वह वहाँ से १३½ नक्षत्र पर अर्थात् लगभग तारात्मक पूर्वाफाल्गुनी मे है अत इस मास का अन्वर्थक नाम फाल्गुन हुआ। परन्तु सायनपद्धति से सूर्य अश्विनी मे है, क्योकि सम्पात के पास है, मेष की सक्रान्ति लगी है, और चन्द्रमा सायन चित्रा मे है, अत इस मास का नाम सायन चैत्र हुआ। इस प्रकार सायन-पद्धति स्वीकार करने से मास भी अशुद्ध हो जाते है।

दोनों पक्षों की सदोषावस्था में उपाय

सायन मान स्वीकार करने से ऋतुओ मे विसवाद नही होगा, अर्थात् चैत्र-वैशाख मे सदा वसन्त ऋतु रहेगी, परन्तु तारात्मक नक्षत्र अशुद्ध ठहर जायँगे सम्पातस्थित प्रत्येक तारे को अश्विनी कहना पडेगा।[1] प्रारम्भ से यौगिक रहते हुए भी चैत्रादि सज्ञाओ को केवल पारिभाषिक एव रूढ कहना पडेगा और नक्षत्रप्रयुक्त फाल्गुनादि मासो को उत्तरोत्तर चैत्र इत्यादि कहना पडेगा। मासो के चैत्रादि नामो का त्याग कर ऋतु-दर्शक केवल मध्वादि नाम ही रखे तो शब्ददोष दूर हो सकता है, परन्तु चैत्रादि नाम इतने बद्धमूल हो गये है कि अब उन्हे छोड देना असम्भव है, और दूसरी बात यह है कि मासो के ऋतुदर्शक मध्वादि नामो की भाँति नक्षत्रो के ऋतुदर्शक दूसरे नाम नही है। मेषादि नाम आरम्भ से विभागात्मक ही है। न हो तो भी हमारे ग्रन्थो मे २००० वर्षों से वे विभागात्मक अर्थ मे प्रयुक्त होते आ रहे है, अत. सायन राशियो मे उनका प्रयोग अनुचित नही होगा। निरयन मान ग्रहण करने से ऋतुओ मे अव्यवस्था होगी, चैत्र मे ग्रीष्म, वर्षा इत्यादि ऋतुएँ आने लगेगी, फिर भी उसे मधु ही कहना पड़ेगा। इतना ही नही, उपनयन, विवाहादि कर्म—जिनका व्यवहार से निकट सम्बन्ध है—

---

१. सायन-निरयन नक्षत्रों का परमान्तर १३½ नक्षत्र होगा। १२ सहस्र वर्षों के बाद चित्रा में सम्पात रहने पर उस नक्षत्र को अश्विनी कहना पड़ेगा।

माघ, फाल्गुन, चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ, मासो मे किये जाते है, पर उस समय वर्षाकाल रहने से उन्हे करने मे कठिनाई होगी और आषाढादि मास उनके लिए अनुकूल हो जायँगे। परन्तु धर्मशास्त्र मे वे वर्जित है, अत व्यवहार मे बडी अडचन होगी। अब प्रश्न यह होता है कि दोनो पक्षो की सदोषावस्था मे यहाँ मार्ग कौन-सा निकाला जाय।ऋतुएँ यथोक्त मासो मे होती रहे और तारात्मक नक्षत्रो का स्थिरत्व भी ज्यो का त्यो बना रहे, ऐसी कोई युक्ति दिखाई नही देती। सम्पात का पूर्ण भ्रमण यदि सत्य है, तो ये दोनो बाते नही हो सकती, अत इनमे से किसी एक का त्याग करने के अतिरिक्त दूसरा उपाय नही है। अब यहाँ इसी का विवेचन करेगे कि इनमे से किसे छोडना न्याय्य है।

निरयन नक्षत्रों में भी तारे छूट जाते है

सब नक्षत्रो के तारे समान अन्तर पर नही है, अत निरयन पञ्चाङ्ग मे भी क्रान्तिवृत्त के २७ समान भाग कर प्रत्येक को नक्षत्र मानना पडता है। प्रत्येक नक्षत्रप्रदेश का मान १३ अश २० कला है। इनमे कही-कही एक ही नक्षत्रप्रदेश मे दो नक्षत्रो के योगतारे आ जाते है और किसी मे एक भी नही आता। इस बात को अको द्वारा स्पष्ट दिखाने के लिए आगे कोष्ठक बनाया है । इसमे पहिले विभागात्मक नक्षत्रप्रदेशो की अन्तिम सीमाएँ उन नक्षत्रो के नामो के सामने लिखी है। यह एक प्रकार से १३।२० का पहाडा है। इसका अर्थ यह है कि रेवती योगतारे से इतने अन्तर पर उस नक्षत्रप्रदेश की समाप्ति होती है। इसके आगे नक्षत्रो के योगतारो के सूक्ष्म निरयन भोग अर्थात् रेवती योगतारे से उनके वास्तविक अन्तर लिखे है।[1] उसके आगे ग्रहलाघवीय नक्षत्रध्रुवक है । पहले बता चुके है कि हमारे सिद्धान्तो का आरम्भस्थान चल है। सूर्यसिद्धान्तानुसार शक १७७२ मे वह सम्पात से २१ अश २७ कला ९.८ विकला पूर्व ओर था। उस स्थान से नक्षत्रो के योगतारो के अन्तर भी कोष्ठक में लिखे है। नक्षत्रो के जो योगतारे अपने प्रदेश से आगे या पीछे है उनका भी निर्देश कर दिया है।

---

१. केरोपन्तकृत ग्रहसाधन कोष्ठक नामक ग्रन्थ के ३२४-२५ पृष्ठ मे योगतारों के शक १७७२ के सायनभोग लिखे है। मैने यहाँ उनमे से रेवती का भोग घटाकर वास्तविक निरयन भोग लिखे है। केरोपन्त ने रेवती भोग १७ अंश ४६ कला लिखा है पर सूक्ष्म गणित से शक १७७२ में वह १७।४६।४४ आता है अतः मैने १७।४७ माना है और उन्होंने अश्विनी, ज्येष्ठा, पूर्वाषाढ़ा, श्रवण, धनिष्ठा के भोग कुछ अशुद्ध लिखे है पर मैने उन्हे शुद्ध करके कोष्ठक में लिखा है।योगतारे मैंने वे ही लिये है जो केरोपन्त के है।

	नक्षत्र	विभागात्मक नक्षत्रप्रदेशों की अन्तिम सीमाएँ		नक्षत्रों के योगतारों के स्थान							
				सूक्ष्म निरयन (केरोपन्ती)			ग्रहलाघवीय		सूर्यसिद्धान्तीय (शक १७७२)		
		अंश	कला	अंश	कला	विभागके	अंश	विभागके	अंश	कला	विभागके
१	अश्विनी	१३	२०	१४	६	आगे	८		१०	२६	
२	भरणी	२६	४०	२७	४	आगे	२१		२३	२४	
३	कृत्तिका	४०	०	४०	७	आगे	३२		३६	२७	
४	रोहिणी	५३	२०	४९	५५		४९		४६	१५	
५	मृगशिरा	६६	४०	६२	१८		६२		५८	३८	
६	आर्द्रा	८०	०	६७	६		६६	पीछे	६३	२६	पीछे
७	पुनर्वसु	९३	२०	९३	२२	आगे	९४	आगे	८९	४२	
८	पुष्य.	१०६	४०	१०८	५०	आगे	१०६		१०५	१०	
९	आश्लेषा	१२०	०	१११	०		१०७		१०७	२०	
१०	मघा	१३३	२०	१२९	५८		१२९		१२६	१८	
११	पूफा०	१४६	४०	१४३	३२		१४८	आगे	१३९	५२	
१२	उफा०	१६०	०	१५१	४५		१५५		१४८	५	
१३	हस्त	१७३	२०	१७३	३५	आगे	१७०		१६९	५५	
१४	चित्रा	१८६	४०	१८३	५८		१८३		१८०	१८	
१५	स्वाती	२००	०	१८४	२२	पीछे	१९८		१८०	४२	पीछे
१६	विशाखा	२१३	२०	२११	८		२१२		२०७	२८	
१७	अनुराधा	२२६	४०	२२३	१९		२२४		२१९	३९	
१८	ज्येष्ठा	२४०	०	२२९	५३		२३०		२२६	१३	पीछे
१९	मूल	२५३	२०	२४३	२६		२४२		२३९	४६	पीछे
२०	पूषा०	२६६	४०	२५४	४२		२५५		२५०	२	पीछे
२१	उषा०	२८०	०	२६०	१८	पीछे	२६१	पीछे	२५७	३८	पीछे
२२	श्रवण	२९३	२०	२८१	५२		२७५	पीछे	२७८	१२	पीछे
२३	धनिष्ठा	३०६	४०	२९७	३०		२८६	पीछे	२९३	५९	
२४	शत०	३२०	०	३२१	४२	आगे	३२०		३१८	२	
२५	पूभा०	३३३	२०	३३३	३६	आगे	३२५		३२०	५६	
२६	उभा०	३४६	४०	३५४	१३	आगे	३३७		३५०	३३	आगे
२७	रेवती	०	०	०	०		३६०		३५६	२	

इस कोष्ठक को देखने से ज्ञात होगा कि केरोपन्ती सूक्ष्म मान अर्थात् वास्तविक निरयनमान मे भी ९ नक्षत्र अपने विभागात्मक प्रदेश से आगे और २ पीछे है अर्थात् २७ मे से ११ नक्षत्र अशुद्ध है। दिननक्षत्र अश्विनी रहने पर चन्द्रमा का समागम किसी भी नक्षत्र से नही होता और चित्रा रहने पर हस्त, चित्रा, स्वाती तीन नक्षत्रो के योगतारो से होता है। इतना अवश्य है कि वास्तव वर्षमान और वास्तव अयनगति ग्रहण करने से यह अशुद्धि सदा एक सी रहेगी, इससे अधिक नही होगी। परन्तु यदि सूक्ष्म और शुद्ध निरयन पद्धति मे भी २७ मे से ११ नक्षत्र सदा अशुद्ध रहते है तो इस निरयन से क्या लाभ? ग्रहलाघव मे दिये हुए नक्षत्रभोग सम्प्रति शुद्ध नही है पर उन्हे शुद्ध मान ले तो भी ६ नक्षत्रो मे त्रुटि आती है। इस कोष्ठक से ज्ञात होगा कि वर्तमान सूर्यसिद्धान्तागत आरम्भस्थान से—हमारे ग्रन्थो का आरम्भस्थान रेवती-योगतारे से प्रतिवर्ष ८ २ विकला आगे जा रहा है—जो २७ विभाग किये गये है, उनमे से ७ नक्षत्रो के योगतारे अपने विभाग से पीछे है, अर्थात् दिननक्षत्र मृगशिरा रहते हुए चन्द्रमा का समागम मृगशिरा और आर्द्रा दो तारो से होता है। यही स्थिति सातो की है। पाँच सहस्र वर्षो के बाद उत्तराभाद्रपदा को छोड अन्य सब तारे अपने विभाग से पीछे हट जायँगे, अर्थात् दिननक्षत्र अश्विनी रहने पर चन्द्रमा का समागम भरणी से होगा। यह स्थिति २६ नक्षत्रो की रहेगी। ७४०० वर्षो मे उत्तराभाद्रपदा तारे की भी यही परिस्थिति हो जायगी। साराश यह कि वर्तमान निरयन पद्धति मे भी नक्षत्रो की अवस्था सायन नक्षत्रो सदृश ही है।

यदि युति का यह लक्षण करते है कि आकाशस्थ दो पदार्थो के भोग समान होने पर उनकी युति होती है, तो इसे भोगयुति कहेगे और यदि दोनो के विषुवाशतुल्यत्व को युति मानते है तो इसे विषुवयुति कहेगे। सायन पञ्चाङ्ग मे विषुवयुतियाँ दी रहती है। परिशिष्टस्थ सूक्ष्म निरयन पञ्चाङ्ग मे भी विषुवयुतियाँ ही दी है। ग्रहलाघवीय अयनाश लेकर वह पञ्चाङ्ग नाटिकल आल्मनाक से बनाया गया है। उसमे आर्द्रा, आश्लेषा, ज्येष्ठा, मूल, पूर्वाषाढा, उत्तराषाढा, श्रवण और धनिष्ठा, इन आठ दिननक्षत्रो के लगने के पूर्व ही उनके योगतारो से चन्द्रमा की युति हो जाती है। उस पञ्चाङ्ग की ताराचन्द्र-युतियो को केरोपन्ती पञ्चाङ्ग से मिलाकर देखते है तो केरोपन्ती पञ्चाङ्ग मे उत्तराषाढा, श्रवण, धनिष्ठा नक्षत्र लगने के पूर्व और पुनर्वसु, पुष्य, पूर्वाफाल्गुनी और शतभिषा नक्षत्र लगने के पश्चात् चन्द्रमा से (अन्यो से भी) उनकी विषुवयुतियाँ होती है। साराश यह कि कैसा भी सूक्ष्म निरयन मान लीजिए, नक्षत्रो मे यह दोष आये बिना नही रहेगा।

चैत्रादि संज्ञाएँ यौगिक नहीं है

अब मासो का विचार करेगे। यद्यपि यह सत्य है कि सायन मास मानने से जिस मास मे चन्द्रमा तारात्मक चित्रा नक्षत्र मे पूर्ण होता है वह चैत्र है' यह परिभाषा व्यर्थ हो जायगी[1], परन्तु हमे यह देखना है कि इस समय अवस्था क्या है? जिस नक्षत्र में चन्द्रमा पूर्ण होता है, उसके नाम के अनुसार मास का नाम रखने के नियम का प्रत्यक्ष व्यवहार छूटे कम से कम वेदाङ्गज्योतिषकाल तुल्य अर्थात् ३३०० वर्ष होते है। इसके और कितने पहले से यह प्रथा छूटी है, इसका पता नही है। चैत्रादि नाम पडे तो इसी नियम के अनुसार, परन्तु यह देखकर कि चैत्र मे चन्द्रमा सदा चित्रा के ही पास पूर्ण नही होता, कुछ महीनो को दो दो और कुछ को तीन तीन नक्षत्र बाँटे गये, परन्तु योग-तारे समान अन्तर पर न होने के कारण बाद मे विभागात्मक नक्षत्र मानने पडे। वेदाङ्गज्योतिष मे विभागात्मक सूक्ष्म नक्षत्र है। वर्तमान ज्योतिषग्रन्थो के निर्माण-काल से विभागात्मक सूक्ष्म नक्षत्रो का पूर्ण प्रचार हुआ और यह परिभाषा बनायी गयी कि 'जिन मासो मे मेषादि सक्रान्तियाँ होती है, उनके नाम क्रमश चैत्रादि है।' आजकल भी इसी का प्रचार है। पिछले पृष्ठो मे इसका विस्तृत विवेचन किया है।

शक १८०४–७ और १८१० के केरोपन्ती पञ्चाङ्गो मे प्रत्येक मास की पूर्णिमा को कौन-कौन से नक्षत्र थे, यह नीचे के कोष्ठक मे दिखाया है। शक १८०५, १८०७ और १८१० में उस पञ्चाङ्ग के अनुसार क्रमश. चैत्र, श्रावण और आषाढ अधिकमास आते है।

---

१. सायन चैत्र की पूर्णिमा को सायन चित्रा अथवा उसके आगे या पीछे के नक्षत्र, इन्हीं तीन में से एक रहता है।

	पूर्णिमान्तकालीन नक्षत्र				
मास	शक १८०४	१८०५	१८०६	१८०७	१८१०
चैत्र	चित्रा	स्वाती	चित्रा	हस्त	हस्त
वैशाख	विशाखा	अनुराधा	विशाखा	विशाखा	स्वाती
ज्येष्ठ	ज्येष्ठा	मूल	मूल	ज्येष्ठा	अनुराधा
आषाढ	पूषा	उषा	उषा.	पूषा	श्रवण
श्रावण	श्रवण	शत	धनिष्ठा	शत	शत
भाद्रपद	शत	उभा	पूभा,	उभा	उभा.
आश्विन	उभा	अश्विनी	रेवती	अश्विनी	अश्विनी
कार्तिक	भरणी	कृत्तिका	भरणी	रोहिणी	कृत्तिका
मार्गशीर्ष	रोहिणी	मृग	रोहिणी	आर्द्रा	आर्द्रा
पौष	आर्द्रा	पुष्य	पुनर्वसु	पुष्य	पुष्य
माघ	पुष्य	मघा	आश्लेषा	मघा	मघा
फाल्गुन	पूफा-	उफा	पूफा	हस्त	उफा

इस कोष्ठक से ज्ञात होगा कि प्रति मास की पूर्णिमा को उस मास के नाम से सम्बन्धित एव उसके आगे और पीछे वाले, नक्षत्रो मे से कोई भी एक आ सकता है, पर विचित्र बात यह है कि शक १८०४ के आश्विन और माघ के पूर्णिमान्त में उत्तराभाद्रपदा और पुष्य नक्षत्र है। नक्षत्रो के अनुसार नाम रखते है तो इन्हे क्रमशः भाद्रपद और पौष कहना पडेगा। इसी प्रकार शक १८१० के आषाढ की पूर्णिमा को श्रवण नक्षत्र है, अत उसे श्रावण कहना चाहिए। यही स्थिति ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्ग को भी है। साराश यह कि पूर्णिमान्तकालीन नक्षत्रो के अनुसार मासनाम रखने मे सूक्ष्म अथवा कोई भी निरयन मान ले, बहुत से मास अशुद्ध हो जायेगे। इसी लिये प्राचीनो ने बाध्य होकर यह पद्धति छोड दी।

चैत्रादि नाम ज्योतिषियो के मतानुसार तो यौगिक नही ही है, रूढ है, पर स्वयं पाणिनि और स्मृतिकार भी उन्हे यौगिक नही मानते। इस विषय मे कालतत्त्व-विवेचनकार ने लिखा है—

चैत्रादय स्वतन्त्रता एव रूढा राजवत्। चैत्रादिशब्दा... न नक्षत्रयोगानिमिताः। व्याकरणस्मृतिस्तु विपर्ययप्रतिपादिका स्वराद्यर्था। तदुक्त वार्तिके—'यत्रार्थस्य विसवाद प्रत्यक्षेणोपलभ्यते। स्वरसस्कारमात्रार्था तत्र व्याकरणस्मृतिरिति।' पाणिनिरपि सास्मिन् पौर्णमासीति सज्ञायामिति चैत्रादिशब्दाना सज्ञात्व वदन् योग-

स्यापारमार्थिकत्व दर्शयति। स्पष्टञ्च योगव्यभिचारे योग प्रत्यास्यात। ..
विष्णुरपि नक्षत्रयोगनिमित्तत्वासम्भव पौर्णमासीना द्योतयति.. तथा च तत्स्मरण. .
पौषी चेत पौषयुक्ता. ।

अत सायनमान ग्रहण करने से चैत्रादि नाम अन्वर्थ नही होगे, इस शका का विचार ही नही करना चाहिए। यह तो सायन और निरयन दोनो पद्धतियो मे समान रूप से लागू है।

हमारे ज्योतिषसिद्धान्तो का निरयन मान यदि प्रचलित रहा तो निरयनपद्धति मे भी सायन की ही भाँति नक्षत्र चल रहेगे। अन्तर इतना ही रहेगा कि निरयन नक्षत्र सायन के विपरीत क्रम से और मन्द गति से चलेगे। सायनपद्धति के अनुसार सायन अश्विनी नक्षत्र प्रति सहस्र वर्ष मे एक-एक नक्षत्र पीछे हटता है, अर्थात् वह क्रमश तारात्मक रेवती, उत्तराभाद्रपदा इत्यादि मे जाता है, सूर्यसिद्धान्तादिको के अनुसार अश्विनी लगभग प्रति ६ सहस्र वर्षो मे एक नक्षत्र आगे जायगा अर्थात् भरणी कृत्तिका इत्यादि की ओर बढता रहेगा। यही स्थिति मासो की भी होगी। सूक्ष्म निरयन मान ग्रहण करने पर भी नक्षत्रो और मासो मे अशुद्धि होगी। यद्यपि वह सदा एक-सी रहेगी, पर रहेगी अवश्य। इसके अतिरिक्त निरयनपद्धति मे एक और महान दोष ऋतुविपर्यय है जो कि सायनपद्धति मे नही है। अब यहाँ विचार करने से ऋतुओ और तारात्मक नक्षत्रो, इन दोनो मे से तारात्मक नक्षत्रो को ही छोडना उचित प्रतीत होता है। उन्हे छोडने का अर्थ इतना ही है कि उनके अनुसार मासो के नाम नही रखे जायेगे और ग्रहस्थिति सायन नक्षत्रो के अनुसार बतायी जायगी। ग्रहयुतियो का अवलोकन किया जाता है, उनके समय भी निकाल लिये जाते है, उसी प्रकार ग्रहनक्षत्रयुतियो के भी समय निकाले जा सकेगे और वे पञ्चाङ्ग मे लिख दिये जायेगे।

सायनपद्धति से कोई भी बात प्रत्यक्षविरुद्ध नही आती।[1] सम्प्रति यूरोपियन ज्योतिषशास्त्र का सम्पूर्ण गणित सायनपद्धति से ही किया जाता है। केरोपन्त का कथन है कि सूर्य, चन्द्र, सम्पात इत्यादि चल पदार्थो को स्थिर तारागण से ही नापना चाहिए। उनका यह कथन वेध के विषय मे उचित है, वेध मे स्थिर तारा लेना ही आवश्यक है, पर पञ्चाङ्ग सायनमान से बनाने मे गणितादि किसी प्रकार की भी अडचन नही है। यूरोपियन ज्योतिषी वेध मे तारो का उपयोग करते है, परन्तु उनके

---

१. गोविन्द दैवज्ञ ने मुहुर्तचिन्तामणि की पीयूषधारा टीका मे एक उदाहरण देकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि ग्रहण वस्तुतः रहते हुए भी सायनपद्धति से नही आता पर सायनपद्धति की यदि ठीक योजना की होती तो उन्हें यह संशय ही न होता।

नाटिकल आल्मनाक इत्यादि सब पञ्चाङ्गो का गणित सायन ही रहता है। स्वयं केरोपन्त ने भी अपने ग्रहसाधन कोष्ठक मे सम्पूर्ण ग्रहगतिस्थितियाँ सायन ही लिखी है और उस ग्रन्थ से सायन ही ग्रह आते है। दूसरी बात यह है कि नलिकाबन्ध की रीति और वेधप्रकरणोक्त यन्त्रो का वर्णन देखने से ज्ञात होता है कि हमारे ज्योतिषग्रन्थो की वेध पद्धति मे भी तारो की अपेक्षा सायनमान का ही अधिक उपयोग किया गया है।

कुछ और शंका-समाधान

> रोहिण्यामग्निमादधीत। न पूर्वयो फल्गुन्योरग्निमादधीत।
> पुनर्वस्वोरग्निमादधीत। कृत्तिकाभ्य स्वाहा।
> रोहिण्यै स्वाहा। ..स्वाहा पुनर्वसुभ्याम्।
> रेवत्यामरवन्त। अश्वयुजोरयुञ्जत। अपभरणीष्वपावहन्।

इन[1] वाक्यो मे आये हुए एकवचनान्त, द्विवचनान्त, बहुवचनान्त प्रयोगो से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि नक्षत्र तारात्मक ही है। ये वाक्य सायन नक्षत्रो मे लागू नही हो सकते अर्थात् तारात्मक नक्षत्र ही श्रुतिसम्मत है, परन्तु मधुमाधव अर्थात् चैत्र-वैशाख मासो मे सर्वदा वसन्त ऋतु रहती है, यह श्रुतिसम्मत बात निरयन मान से कभी भी सिद्ध नही हो सकती।

धर्मशास्त्र ग्रन्थो मे भिन्न-भिन्न कर्मो के लिए जो नक्षत्र विहित है, उनके विषय मे यह नही कहा जा सकता कि वे तारात्मक ही है, क्योकि सम्प्रति व्यवहार मे उनका परीक्षण कही भी नही किया जाता। पञ्चाङ्ग खोला, यदि वह नक्षत्र इष्ट समय मे मिला तो हम कार्य आरम्भ कर देते है, उस समय आकाश मे चाहे जो नक्षत्र हो। आज ही ऐसा हो रहा है, यह बात नही है। यह रूढि पुरानी है और इसका निवारण होना भी असम्भव है, क्योकि सब नक्षत्र समान अन्तर न होने के कारण कभी एक ही दिन मे चन्द्रमा की दो नक्षत्रो से युति होती है और कभी एक से भी नही। सूक्ष्म नक्षत्रानयन भी बताया है पर उसे सम्प्रति कोई नही करता।[2] उसे सूक्ष्म नक्षत्रानयन करने पर और सूक्ष्मतम निरयन मान लेने पर भी यह बात सब अशो मे साध्य नही है। इसके अति-

---

१. इनमे से अधिकतर वाक्य प्रथम भाग मे आ चुके है, यहाँ तैत्तिरीय श्रुति से कुछ और लिये है।

२. थोड़े ही दिनो की बात है, पूना के ज्योतिषी वासुदेव शास्त्री दाण्डेकर कहते थे कि पैठण के एक ज्योतिषी ने सूक्ष्म नक्षत्र लाकर तदनुसार एक जगह विवाह कराया परन्तु यहाँ के और पूना के लोगों ने उलटे उनका बहिष्कार किया।

रचित गणित मे भी अशुद्धि रहती है, जिससे इनमे और भी अन्तर पड जाता है, पर इन त्रुटियो को दूर करने पर भी धर्मशास्त्र के ये विधान कि अमुकामुक नक्षत्रो मे अमुक-अमुक कर्म करने चाहिए, निरयनवादियो के लिए असाध्य ही है।

दोनो पक्षो के प्रमाणो की सख्या की तुलना करने से सायनपक्ष ही प्रबल पडता है वर्षमान निसर्गत ही ऋतुपर्ययात्मक है और अधिकमास की कल्पना केवल इसी लिए की गयी है कि ऋतुएँ नियमित चान्द्रमासो मे होती रहे, इन दो बातो का तो निरयन-वादियो के पास कोई उत्तर ही नही है। ये सायन मान से ही साध्य है और ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर भी यही ज्ञात होता है कि आरम्भ से शकपूर्व २००० वर्ष तक सायन मान ही प्रचलित था। इससे यह बात निर्विकल्प सिद्ध होती है कि सायन मान ही ग्राह्य है।

यहाँ तक सायन-निरयन का विवेचन सम्पात की पूर्ण प्रदक्षिणा मानकर किया गया। हमारे कुछ ज्योतिषग्रन्थो मे लिखा है कि सम्पात का पूर्ण भ्रमण नही होता, आन्दोलन होता है। यदि कोई कहे कि वह सत्य है और तदनुसार निरयन मान से भी ऋतुविपर्यय नही होता, तो उसका उत्तर यह है—

पञ्चाङ्गशोधन का विवेचन मुख्यत इसी विवेचन से किया जा रहा है कि पञ्चाङ्ग धर्मशास्त्रानुकूल बने। धर्मशास्त्र हमे बताता है कि अमुक समय अर्थात् अमुक ऋतु, मास, तिथि, नक्षत्र इत्यादि मे अमुक कर्म करना चाहिए अथवा नही करना चहिए।[1] उसका विषय इतना ही है। उस काल का निश्चय ज्योतिष द्वारा होता है। इसी प्रकार सम्पात की पूर्ण प्रदक्षिणा होती है या नही, इसका निर्णय करना धर्मशास्त्र का काम नही है, इसे ज्योतिष बतायेगा। ऋतुमाससाहचर्यानुकूल कालगणना-पद्धति की स्थापना ज्योतिष ही करेगा,। वह ज्योतिष प्रत्यक्षप्रमाण शास्त्र है। कालवशात् ग्रहगतिस्थिति मे पडे हुए अन्तर का निरास कर उसे प्रत्यक्ष अनुभव के अनुरूप बनाना उसका मुख्य धर्म है। वर्तमान सूर्यसिद्धान्त मे ही ग्रहगतिस्थितियाँ प्राचीन सूर्यसिद्धान्त से भिन्न है। उसमे लिखा भी है—

शास्त्रमाद्य तदेवेद यत्पूर्व प्राह भास्कर ।
युगाना परिवर्तेन कालभेदोऽत्र केवलम् ।।९।।

मध्यमाधिकार

---

१. ज्योतिष शास्त्र के मुहुर्तस्कन्ध में अनेक कर्मों के समय लिखे रहते है अतः इस दृष्टि से वह भी धर्मशास्त्र का एक अङ्ग है।

इसकी टीका में रङ्गनाथ ने लिखा है—

> कालवशेन ग्रहचारे किञ्चिद्वैलक्षण्य भवतीति तत्तदन्तर ग्रहचारे प्रसाध्य तत्तत्कालस्थितलोक-व्यवहारार्थं शास्त्रान्तरमिव कृपालुः (भास्कर) उक्तवान्।

भास्कराचार्य ने गोलबन्धाधिकार में लिखा है—"अत्र गणितस्कन्धे उपपत्तिमाने वागम. प्रमाणम्।' केशव दैवज्ञ का भी यही अभिप्राय है। वसिष्ठसहिता के निम्न-लिखित श्लोक में भी यह बात कही है कि तिथ्यादिको का निर्णय उसी पक्ष से करना चाहिए जिसके गणित की आकाश से एकवाक्यता होती हो।

> यस्मिन् देशे यत्र काले येन दृग्गणितैक्यकम्।
> दृश्यते तेन पक्षेण कुर्यात्तिथ्यादिनिर्णयम्॥

सम्प्रति पाश्चात्य गणको ने विश्वरचना के नियमो के आधार पर निश्चयपूर्वक यह सिद्ध कर दिखाया है कि सम्पात की पूर्ण प्रदक्षिणा होती है[1] अत. हमें उसे मानने

---

१. सम्पात भ्रमण का स्वरूप यहाँ थोड़े में लिखते हैं। लड़के लट्टू नचाते हैं, उस पर ध्यान दीजिए। पहले वह सीधा खड़ा रहकर बड़े वेग से घूमता है। उस समय उसका अक्ष पृथ्वी पर लम्ब रहता है। वेग कम होने पर उसका ऊपरी भाग भारी होने के कारण नीचे की ओर लटकने लगता है, उस समय अक्ष पृथ्वी पर लम्ब नहीं रहता और ऊपरी भाग चक्कर काटने लगता है। इसी प्रकार पृथ्वी के अक्ष के अग्र भाग क्रान्तिवृत्त के कदम्ब के चारों ओर सदा चक्कर लगाते रहते हैं। पृथ्वी अपने अक्ष पर घूमती रहती है। इस स्थिति में उसका अक्ष उसकी कक्षा के धरातल पर लम्ब नहीं रहता। अक्ष-भ्रमण की उसकी गति सदा एक सी रहती है, वह प्रायः न्यूनाधिक नही होती अतः यदि वह पूर्ण गोल होती तो उसके अक्ष का झुकाव सर्वदा एक-सा रहता पर वह ध्रुवो के पास चिपटी और विषुववृत्त की ओर गोल है। इस कारण विषुववृत्त की ओर उस पर सूर्य-चन्द्रमा का आकर्षण अधिक पड़ता है, जिससे वह वृत्त कक्षा के धरातल से मिल जाना चाहता है परन्तु अक्ष-भ्रमण लगातार होते रहने के कारण दोनों धरातलो के मिल जाने की अर्थात् कक्षा पर अक्ष के लम्ब होने की सम्भावना नहीं होती। परन्तु पृथ्वी का अक्ष क्रान्तिवृत्त के अक्ष के चारों ओर चक्कर लगाता रहता है, इस कारण विषुववृत्त का ध्रुव क्रान्तिवृत्त के ध्रुव की प्रदक्षिणा करता रहता है और विषुववृत्त क्रान्ति-वृत्त पर सरकता रहता है। यही अयनचलन है। चन्द्रसूर्य का आकर्षण पृथ्वी के विषुववृत्त पर अधिक है, इस बात की सूक्ष्म प्रतीति होती है। चन्द्रकक्षा के पात

मे कोई आपत्ति नही होनी चाहिए। हमारे देश के भी मुजालादिको का यही मत है। शतपथ ब्राह्मण का कृत्तिकाओ की स्थिति का दर्शक वाक्य पहले लिख चुके है। गणित से ज्ञात होता है कि वह स्थिति शक पूर्व ३१०० के आसपास थी। तब से अब तक अर्थात् लगभग ४९०० वर्षो मे सम्पात की गति ६८ अश हुई है। आन्दोलन हमारे यहाँ ५४ अश ही माना है। उससे यह अधिक है, अत. हमारे ही ग्रन्थो के प्रमाण से यह सिद्ध हो जाता है कि सम्पात का आन्दोलन नही होता, पूर्ण भ्रमण होता है। इस स्थिति मे ज्योतिषशास्त्र के निर्णयानुसार धर्मशास्त्र को ऋतुमाससाहचर्यसाधक सायनपद्धति ही स्वीकार करनी चाहिए और पञ्चाङ्ग भी सायन ही बनना चाहिए।

वर्षारम्भ एक-एक मास पहले लाने की युक्ति

वर्तमान निरयन मान से उत्पन्न उपयुक्त ऋतुसम्बन्धी प्रतिकूलता को निरयन मान रखते हुए दूर करने की एक युक्ति कुछ लोग बताते है। उनका कथन है कि वर्षमान शुद्ध निरयन लीजिए, नक्षत्र, राशि और सक्रान्तियाँ भी निरयन ही लीजिए, निरयन मेषादि सक्रान्तियाँ जिन चान्द्रमासो मे हो उन्हे वर्तमान पद्धति के ही अनुसार चैत्रादि कहिए परन्तु जब अयनाश ३० हो जाते है और सम्पात निरयन मीनारम्भ मे चला जाता है, उस समय वर्षारम्भ निरयन मीनारम्भ से अर्थात् निरयन फाल्गुन से कीजिए। मधुमाधवादि ऋतु सबधी जो नाम सम्प्रति चैत्र से आरम्भ किये जाते है, उन्हे फाल्गुन से आरम्भ कीजिए और चैत्रादि मासो के धर्मकृत्य एक मास इधर हटाकर फाल्गुनादि मे कीजिए। इसी प्रकार और कुछ दिनो बाद वसन्तारम्भ माघ मे होने लगे तो उसे ही मधु कहिए और वसन्त ऋतु मे विहित कर्म चैत्र मे न करके माघ मे कीजिए। ऐसा करने से जो कर्म जिस ऋतु मे विहित है उसी मे होते रहेगे और तारात्मक रेवती, उत्तरा-भाद्रपदा इत्यादि नक्षत्रों के स्थानो को अश्विनी नही कहना पडेगा। यह मत केरोपन्त छत्रे और कृष्णशास्त्री गोडबोले का था। सम्प्रति लोकमान्य तिलक और वेंकटेश बापूजी केतकर का भी यही कथन है।[1]

---

१८ $\frac{1}{2}$ वर्ष में एक प्रदक्षिणा करते है। उतने समय में चन्द्रमा विषुववृत्त से कभी २८ अंश और कभी १८ अंश तक उत्तर जाता है। तदनुसार विषुववृत्त के पूर्ण गोल भाग पर अकर्षण न्यूनाधिक होने के कारण ध्रुव के भ्रमण में अन्तर पड़ता है। प्रति १८ $\frac{1}{2}$ वर्ष में वह अपनी पूर्वस्थिति में आ जाता है। पृथ्वी का मध्य भाग ध्रुवस्थान की तरह चिपटा नहीं है यह स्थिति कभी भी--कम से कम लाखों वर्ष--बदलने की सम्भावना नहीं है, अतः सम्पात का पूर्ण भ्रमण ही होगा।

[1] केरोपन्त का मत सन् १८८३ के ७ अक्टूबर और ४ नवम्बर के अरुणोदय पत्र

आपातत यह मार्ग उत्तम ज्ञात होता है, पर वस्तुत ग्राह्य नही है। इनमे से कुछ लोगो का मत है कि इसे स्वीकार करने मे परम्परा का भी आधार है। उनका कथन है कि उत्तरायण निरयन फाल्गुन, माघ, पौष और मार्गशीर्ष मासो मे अर्थात् उत्तरोत्तर एक-एक मास पहले होता आया है और वेद मे उत्तरायणारम्भ मे वर्षारम्भ करने को कहा है, अत फाल्गुन, माघ इत्यादि मासो मे वर्षारम्भ किया जा सकता है। इस विषय में केरोपन्त का मुख्य प्रमाण साख्यायन ब्राह्मण का 'या वैषा फाल्गुनी पौर्णमासी सवत्सरस्य प्रथमा रात्रि' यह वचन था। तिलक ने सवत्सरसत्र के अनुवाक के आधार पर उत्तरायणारम्भ मासो की मालिका मे चैत्र को भी जोड दिया है।

छत्रे और तिलक के दिये हुए प्रमाणो का उत्तरायण से कोई सम्बन्ध नही है, यह हम पहले सिद्ध कर चुके है। वेदो मे कही भी उदगयनारम्भ मे वर्षारम्भ का वर्णन नही है। यह कथन मेरा ही नही है, सायणाचार्य ने भी इस वाक्य का अर्थ उत्तरायण-परक नही किया है। माधवाचार्य ने भी कालमाधव मे अनेक वेदवाक्यो के आधार पर सवत्सरारम्भ का विवेचन करते हुए अन्त मे वसन्त के आरम्भ मे चैत्र मे वर्षारम्भ निश्चित किया है। उन्हे वेदो मे उद्गयनारम्भ मे वर्षारम्भ का बोधक एक भी वचन नही मिला। इतना ही नहीं, उन्होने यह भी निर्णय नही किया है कि वर्षारम्भ चैत्र, फाल्गुन, माघ इत्यादि मासो में अर्थात् क्रमश पूर्व हटता आ रहा है।

वेदाङ्गज्योतिष मे माघ मे उत्तरायण माना है, यह बात सत्य है। महाभारत में भी वह पद्धति दो एक स्थानो मे मिलती है। वेदाङ्ग को छोड़ अन्य सब ज्योतिषग्रन्थो मे उत्तरायण पौप मे माना है, पर इससे मास का नाम माघ, पौष इत्यादि क्रम से पहले लाने की परम्परा नही सिद्ध होती। अब यहाँ वेदाङ्गज्योतिष मे माघ मे बताया हुआ उत्तरायण पौष मे चला आने का कारग बतायेंगे।[1] वेदो मे मधु माधव वसन्त के मास

में प्रकाशित हुआ था। केतकर का मत उसी पत्र मे लगभग सन् १८८४ में आया था। तिलक का मत उनके 'ओरायन' ग्रन्थ मे और मुख्यतः सन् १८९३ के केसरी मे छपा था। गोडबोले से प्रत्यक्ष वार्त्तालाप द्वारा मुझे उनका मत ज्ञात हुआ है। बापूदेव शास्त्री का मत यह नही था। वह पिछले पृष्ठो मे लिखा ही है।

१. निरयन मान के अनुसार मासों का नाम रखने से उत्तरायण माघ, पौष, मार्गशीर्ष इत्यादि क्रम से पहले अवश्य आयेगा परन्तु उत्तरायण जिस मास में होता है उसे फाल्गुन, माघ, पौष इत्यादि मानने की अर्थात् निरयन पद्धति के अनुसार मासो के नाम रखकर प्रति दो सहस्र वर्ष में वर्षारम्भ एक मास पूर्व लाने की परम्परा है या नहीं, इसी का विचार करना है और मैं यह सिद्ध कर रहा हूँ कि ऐसी परम्परा नहीं है।

और मधु वर्ष का आरम्भ मास माना गया है। जिस समय चैत्रादि सज्ञाएँ प्रचलित हुई, वसन्त चैत्र मे होता था, अत धर्मशास्त्रकारो ने वेदकालीन पद्धति के अनुसार चैत्र-वैशाख को वसन्त के मास और चैत्र को संवत्सर का आरम्भमास मान लिया। वेदाङ्ग-ज्योतिषकाल मे माघ मे उत्तरायण होता था तो भी उसके कारण इस पद्धति मे कोई बाधा नही पडी, पर जब आगे चलकर मेषादि सज्ञाएँ प्रचलित हुई उस समय चैत्र मे मेष सक्रान्ति होती थी और चैत्र मे सवत्सर आरम्भ किया ही जाता था, अत ज्योतिषियो ने मासो का नाम रखने की 'मेषादिस्थे सवितरि' परिभाषा बनायी। वेदाङ्गज्योति-काल मे यह नही थी। ज्योतिषियो द्वारा निर्मित नवीन परिभाषा धर्मशास्त्रकारो ने भी मान ली। इस प्रकार मकरसक्रान्ति पौष मे आ गयी और फिर माघ मे होने वाले उत्तरायणारम्भ को भी पौष मे ही मानना पडा। धर्मशास्त्रकारो ने इसका विरोध नही किया। वेदाङ्गज्योतिषपद्धति निजरूप मे बहुत दिनो तक सर्वत्र प्रचलित नही थी, यह बात वेदाङ्गज्योतिषविचार मे सिद्ध कर चुके है। इससे माघ मे उत्तरायण मानने की पद्धति का त्याग कर पौष मे सर्वदा उत्तरायणारम्भ मानने की पद्धति स्थापित करने मे कोई असुविधा नही हुई, परन्तु अब वह परिभाषा बदली नही जा सकती। सम्प्रति कभी कभी उत्तरायणारम्भ मार्गशीर्ष मे होता है, पर धर्मशास्त्र को यह बात ज्ञात नही है, अत मान्य भी नही है। सूर्यसिद्धान्त के उपर्युक्त श्लोको से सिद्ध होता है कि उसे भी यह बात मान्य नही है। ज्योतिष को जो मान्य नही है, उसे धर्मशास्त्र भी नही मानता। सराश यह कि सम्प्रति कभी-कभी मार्गशीर्ष मे भी उत्तरायण होता है, पर धर्मशास्त्र ने उसे मान्य नही किया है और प्रति दो सहस्र वर्ष मे वर्षारम्भ एक मास पहिले लाने की परम्परा भी धर्मशास्त्र मे नही है। ये दोनो बाते धर्मशास्त्र के किसी भी ग्रथ मे नही मिलेगी।

सवत्सरसत्र के अनुवाक मे चित्रापूर्णमास, फल्गुनीपूर्णमास और एकाष्टका (माघ कृष्ण ८) को सवत्सरसत्र आरम्भ करने का विचार किया है। इस आधार पर यदि कोई कहे कि भिन्न-भिन्न कालो मे उन दिनो से उदगयनारम्भ और वर्षारम्भ क्रमश. न होता रहा हो तो भी वसन्तारम्भ और वर्षारम्भ अवश्य होता रहा होगा और इससे वर्षारम्भ एक-एक मास पूर्व लाने की परम्परा सिद्ध होती है, तो भी यह असम्भव है, क्योंकि सवत्सरसत्र का अनुवाक तैत्तिरीयसहिता और ताण्ड्यब्राह्मण मे है और ये दोनों ग्रन्थ शकपूर्व २००० वर्ष, अधिकाधिक शकपूर्व १५०० से नवीन नही है, यह बात तिलक को भी स्वीकार करनी चाहिए, अत. उस समय माघ मे वसन्तारम्भ की सम्भावना ही नहीं है अर्थात् एकाष्टका को संवत्सरारम्भ मानने का कोई दूसरा कारण होगा और वह गौण होगा, यह पहिले बता चुके है। अब रह गये चित्रापूर्ण-

मास और फल्गुनीपूर्णमास। प्रत्येक सूर्यसक्रान्ति चान्द्रमास के सम्बन्ध से २९ दिन आगे पीछे होती है, यह प्रसिद्ध है। मेषसक्रान्ति चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से चैत्र कृष्ण-अमावास्या पर्यन्त चाहे जिस दिन हो सकती है। इसी प्रकार प्रत्येक ऋतु के आरम्भ-काल मे इतना अन्तर पड सकता है, अत वसन्तारम्भ एक ही काल मे किसी वर्ष फाल्गुनी-पूर्णिमा को और किसी वर्ष चैत्रीपूर्णिमा को हो सकता है। पूर्णिमान्त मान से मास की समाप्ति पूर्णिमा को होती है, अत वर्षारम्भ के नियम सूक्ष्मतया निश्चित होने के पूर्वकाल मे वसन्त मे इन दोनो तिथियो से वर्षारम्भ की कल्पना होना स्वाभाविक है। सायणाचार्य ने इस अनुवाक का अर्थ इसी दृष्टि से किया है। माधवकृत कालनिर्णय मे भी इसी अर्थ की पुष्टि की गयी है।[1] वर्षारम्भ के भिन्न-भिन्न मास पहिले लिख चुके है, उनमे भी वर्षारम्भ एक-एक मास पूर्व लाने की परम्परा नही है।

धर्मशास्त्र-परिवर्तन असम्भव

वर्षारम्भ एक-एक मास पहिले लाना और चैत्र के धर्मकृत्यो को फाल्गुन मे करना धर्मशास्त्र बदलने के समान ही है। इस मत का समाचारपत्रो तक ही रह जाना ठीक है। मालूम होता है, विद्वानो और साधारण जनता मे इसका कितना उपहास होगा, इसकी इसके उत्पादको और अनुयायियो को कल्पना भी नही हुई। मुजाल ने सम्पात का पूर्ण भ्रमण माना है। मरीचि टीकाकार मुनीश्वर ने उनके इस मत को नास्तिकमत, यवनमत इत्यादि कहा है क्योकि पूर्ण भ्रमण मानने से ऋतुओ के विषय मे श्रुति का विरोध आता है। ऋतुमासव्यत्यय के कारण का केवल कथन भी उन्हे अनुचित प्रतीत हुआ तो फिर ऐसे धर्मशास्त्री चैत्र के धार्मिक कर्मो को फाल्गुन मे करना कब स्वीकार करेगे ?

इस पद्धति को मान लेने पर भी ऋतु की अशुद्धि दूर नही होगी, क्योकि सम्पात सदा चलता रहता है। जिस समय वह निरयन मीनारम्भ मे आयेगा, हम वही से

---

१. लोकमान्य तिलक का ग्रन्थ प्रकाशित होने के पूर्व ही सन् १८८७ ई० मे मैंने यह ग्रन्थ लिखना प्रारम्भ कर दिया था और उसी समय संवत्सरसत्र के अनुवाक के संवत्सरारम्भ सम्बन्धी वाक्यो का विवेचन किया था। उनकी संगति जैसी यहां पहले लगायी गयी है वैसी ही उस समय भी लगायी थी। सन् १८९५ ई० में Indian Antiquary मे तिलक के ग्रन्थ पर प्रो० थीबो का अभिमत प्रकाशित हुआ है। उन्होने भी इन वाक्यों का अर्थ मेरी तरह ही लगाया है। केरोपन्त के आधारभूत वाक्य का अर्थ भी इसमें आ गया है।

वर्षारम्भ कर देंगे पर वह सर्वदा पहिले आता रहेगा और हमारा वर्षारम्भ स्थिर रहेगा। इस प्रकार उसमे तब तक अशुद्धि बढती जायगी, जब तक सम्पात कुम्भारम्भ मे नही आ जायगा। कुम्भारम्भ मे आने पर हम वर्षारम्भ वही से करेगे और फिर अशुद्धि होने लगेगी। वह ३० दिन पर्यन्त जायगी।

अनिवार्य कठिनाई

जिन कर्मों का सम्बन्ध ऋतु-मास-तिथि से ही है, वे कदाचित् एक एक मास पहिले लाये जा सकते है, पर पूर्वोक्त मार्ग स्वीकार करने मे सबसे बडी अडचन यह है कि कुछ कर्म ऋतु, मास, तिथि और साथ ही साथ नक्षत्र से भी सम्बन्ध रखते है। जैसे विजया-दशमी शरदऋतु मे आश्विन शुक्ल दशमी को आती है। उसमे श्रवण नक्षत्र का योग भी अपेक्षित है। पर भाद्रपद की शुक्ल दशमी को श्रवण नक्षत्र कभी नही आयेगा। उस मास मे द्वादशी को आता है और श्रावण की शुक्ल चतुर्दशी को आता है, अत श्रावण मे विजयादशमी यदि दशमी को मानेगे तो श्रवण नक्षत्र नही मिलेगा और श्रवण नक्षत्र लेगे तो दशमी तिथि नही मिलेगी। उस समय दशहरा या दशमी शब्द भी उसमे लागू नही हो सकेगा।

नया धर्मशास्त्र मान्य कैसे हो

यदि पूर्वोक्त पद्धति धर्मशास्त्रसम्मत न होते हुए भी प्रचलित करनी है तो नवीन धर्मशास्त्र बनाना पडेगा, पर धर्मशास्त्रग्रन्थो और लोकस्थिति का विचार करने से यह कार्य दुष्कर प्रतीत होता है। विद्वानो की समिति द्वारा नवीन धर्मशास्त्रग्रन्थ बन-वाया जा सकता है, पर उसका मान्य होना अत्यन्त कठिन है। शकराचार्य की सम्मति मिल जाय, इतना ही नही, उसे कानून का रूप देकर पास करा लिया जाय तो भी उसका प्रचार होना कठिन है। हमारे देश मे धर्मशास्त्र के सहस्रो ग्रन्थ और उनकी लाखो प्रतियाँ विद्यमान है। उन सबो को नष्ट करना होगा। उनका त्याग करने पर भी अन्य विषयो के ग्रन्थ लुप्त नही किये जा सकते। उन सहस्रो ग्रन्थो में वर्णित तथा करोडो मनुष्यो के हृदयपट पर अकित पद्धति को बदलना असम्भव है। उत्तरायण पहिले धनिष्ठारम्भ मे होता था, बाद मे उत्तराषाढा मे होने लगा, फिर भी दो तीन ग्रन्थो में धनिष्ठादि गणना मिलती है। यद्यपि वह कुछ ही प्रान्तो मे कुछ ही काल तक प्रचलित थी, तथापि वराहमिहिर सरीखे विद्वानो को भी उसके कारण भ्रम हो गया था। अत: सहस्रों ग्रन्थो मे लिखित एव दीर्घकाल तक सारे देश मे प्रचलित वर्तमान पद्धति को बदलने से सामान्य जनता मे बडी खलबली मच जायगी। आश्विन की विजयादशमी भाद्रपद की द्वादशी को मानने की आज्ञा देने पर अज्ञ जनता मे बडा बुद्धिभेद उत्पन्न

होगा। उस परिस्थिति मे क्या-क्या उपद्रव खडे होगे, इसका वर्णन करे तो दस-बीस पृष्ठ लग जायँगे। साराश यह है कि चाहे जिस दृष्टि से विचार कीजिए, चैत्र के वर्षारम्भ और अन्य कर्मो को फाल्गुन, माघ इत्यादि पहिले मासो मे लाना त्याज्य सिद्ध होता है।

व्यावहारिक दृष्टि से विचार

अब व्यावहारिक दृष्टि से सायन-निरयन का विचार किया जाय। सायन के बिना व्यवहार मे कोई बडी कठिनाई आवेगी, यह बात नही। जिन्हे व्यवहार मे पञ्चाङ्ग की आवश्यकता नही होती, उनके सम्बन्ध मे विचार करना ही अनावश्यक है। विचार करना है उन्ही के सम्बन्ध में जिन्हे पञ्चाङ्ग की आवश्यकता पडती है। शक ४४४ के करीब आर्द्रा सूर्य नक्षत्र लगभग आधा बीतने पर वर्षा का आरम्भ होता था। सम्प्रति यह मृग के आरम्भ मे होता है। आजकल बार्शी, सोलापुर जिलो की जनता के मुख्य अनाज ज्वार की बुआई हस्तनक्षत्र के आधे के करीब होती है। शक ४४४ के करीब यह स्वाती के आरम्भ मे होती रही होगी, यह स्पष्ट है। किन्तु पहिले स्वाती मे बुआई होती थी, इसकी कल्पना लोगो को स्वप्न मे भी नही हो सकती। लोग समझते है कि हस्त मे ही बुवाई होने का नियम सृष्टि की उत्पत्ति के समय से चला आ रहा है। निरयनमान ऐसा ही रहा तो कुछ काल के बाद बुवाई उत्तरा मे करनी होगी। किन्तु यह फेरफार इतनी मन्दगति से होने वाला है कि किसी व्यक्ति के जीवनकाल मे ही नही, तीन चार पीढियो मे भी उसके समझ मे आने की सम्भावना नही, अत वह बिना परिलक्षित हुए सहज ही होता रहेगा। इस प्रकार अधिकाश व्यवहार के लिए सायनमान न होने पर भी कोई बाधा न पडेगी।

किन्तु विवाह कार्य का व्यवहार से निकट सम्बन्ध है और धर्मशास्त्र से भी है। इसमे निरयन मान से बाधा पडेगी ऐसा पहिले ही बताया गया है। यह बाधा बहुत दिनो मे आयेगी, यह सच है किन्तु वह आयेगी अवश्य, इसमे कोई सन्देह नही। आजकल भी ज्येष्ठ का महीना कभी-कभी वर्षा शुरू हो जाने के कारण विवाह के लिए अनुपयुक्त होने लगा है। इसके विपरीत सायनमान स्वीकार करने से वर्तमान व्यवहार मे बाधा पडेगी या नही, यह देखा जाय। हमारे महीने चान्द्र है, इसलिए हमे अधिक मास मानना पडता है। यह बात सायनमान शुरू होने मे बहुत अनुकूल है। जूलियस सीजर के समय वर्ष के दिन एक बार बढाने पडे थे। पोप ग्रेगरी के समय तथा ईसवी सन् १७५२ में इग्लैड मे कानून बनाकर आज अमुक तारीख है तो कल १०।१२ तारीखे छोडकर अगली तारीख निश्चित करनी पड़ी थी। यह बात लोगों को कुछ विचित्र लगी होगी।

कानून से तो वह कर लिया गया, किन्तु हमे ऐसा नही करना चाहिये। एक वर्ष पुराने पञ्चाङ्ग के अनुसार अधिक मास आने पर उसे बिल्कुल न मानकर आगे सायन पञ्चाङ्ग स्वीकार कर उसके हिसाब से अधिक मास मानने से ही काम चल जायगा। यदि सभी पञ्चाङ्ग बनाने वाले ऐसा करने का विचार करे तो लोगो को पता लगे बिना ही यह फेरफार अनायास हो जायगा। यह उपाय मान लेने मे आसानी है, यह ठीक है। फिर भी निरयन मृग नक्षत्र के आरम्भ मे सायन आर्द्रा नक्षत्र सम्प्रति होता है और तब वर्षा शुरू होती है, इसलिए मृग के आरम्भ मे होने वाली वर्षा आर्द्रा नक्षत्र आधा होने पर भी क्यो नही होती, यह बात लोगो की समझ मे न आयेगी। वर्षा प्रारम्भ होने के समय निरयन मृग के आरम्भ मे करने के कार्य सायन मृग के आरम्भ मे लोग सम्भवत करने लगेगे। इस प्रकार व्यवहार मे बाधा पडेगी। धीरे-धीरे परिवर्तन हुआ तो उससे व्यवहार मे बाधा न पडेगी। किन्तु सभी सक्रान्तियाँ तथा सूर्यनक्षत्र २२ दिन पहले लाना बहुत ही दुष्कर होगा। गुरु कब बदला, चन्द्रमा कौन-सी राशि मे है, आदि बातो मे यदि फेरफार हुआ तो लोगो को उसका विशेष पता न चलेगा, किन्तु हस्त मे की जानेवाली बुवाई स्वाती मे की जाय, यह बात उन्हे विचित्र लगेगी। नक्षत्र, सूर्य-क्रान्ति ये बाते हम लोगो में बद्धमूल होने के कारण तारीखो में १०-१२ दिन का फरक पडने से यूरोपियनो को व्यवहार मे जितनी कठिनाई हुई होगी, उससे कही अधिक कठिनाई हम लोगो को होगी। सायन पञ्चाङ्ग स्वीकार करने के लिए कुछ लोग तैयार हो जायँ तो सभी उसे स्वीकार कर लेंगे, ऐसा नही कहा जा सकता। ऐसी स्थिति मे पुराना पञ्चाङ्ग चालू रहने पर उस पञ्चाङ्ग से फाल्गुन को सायन चैत्र कहना पड़े तो यह अनायास लोगो की समझ मे आ जायगा। ब्रह्मगुप्त की सक्रान्ति एक दिन पहिले थी। वह प्रचार मे भी आ गयी थी, किन्तु अन्त में वह रह नही पायी। केरोपन्ती पञ्चाङ्ग की सक्रान्ति चार दिन पहले है, फिर भी उस पञ्चाङ्ग के प्रचार मे न आने का कारण भी वही है। सायनमान की सक्रान्तियाँ तो २२ दिन पहिले आती है, इसलिए ऐसा पञ्चाङ्ग प्रचार में आने मे तो बहुत कठिनाई होगी। इस प्रकार इसमें कई बाधाएँ है किन्तु उन्हे दूर करने के प्रश्न पर आगे विचार किया गया है।

जातकस्कन्ध की दृष्टि से विचार

सायनमान ग्राह्य है, ऐसा विचार अब तक मुख्यत. गणित और मुहूर्त इन स्कन्धो की दृष्टि से किया गया। इन दोनों को जो मान्य हो, वह जातक स्कन्धो को मान्य होना चाहिए। कौन-से मान से पत्रिका बनाने पर वह अनुभव पर खरी उतरेगी, इस पर ही बहुत कुछ इस बात का निर्णय निर्भर है, इससें सन्देह नही। सायनमान से पत्रिका खरी

उतरती है, ऐसा सायनवादी ज्योतिषी माधव, ब्रह्माजी तथा जीवनराव त्र्यम्बक चिटणीस कहते हैं।[1] यूरोप के वर्तमान प्रसिद्ध ज्योतिषी जडकिल और रफील सायन मान से ही पत्रिका बनाते हैं। हमारे देश मे इस समय सर्वत्र निरयन मान से पत्रिका बनाते हैं तथापि जातकोत्तम ग्रन्थ के ज्योतिर्निबन्ध मे ऐसा वचन है—

उच्चत सप्तम नीच प्रोक्ताशे परिनीचता।
इह कार्यं सायनाशखचरै फल निर्णय ।।

इससे जातक प्रकरण मे सायनमान ग्राह्य है, ऐसा हमारे ग्रन्थकारो का भी मत है। सायन-निरयन के आरम्भस्थान मे जब बहुत अन्तर नही था तभी जातक के अधिकाश ग्रन्थ लिखे गये थे। इसलिए वे सायन के अनुसार होगे, ऐसा लगता है,। इस सम्बन्ध मे अधिक विवेचन आगे जातकस्कन्ध मे किया गया है। सायनमान से पत्रिका ठीक सिद्ध कर दो तो हम सायनमान स्वीकार करेगे, ऐसा कहने वाले मुझे कई मिले हैं, किन्तु मुझे लगता है कि किसी भी मान से वह सर्वांश से साध्य नही ।

उत्तम ग्राह्य मार्ग

पहले तर्क की दृष्टि से जो विचार किया गया, वह सभी काल मे सबको मान्य होने लायक है। इसलिये इस विचार के अनुसार सायन मान स्वीकार करना सबसे उत्तम मार्ग है। ऐतिहासिक दृष्टि और धार्मिक दृष्टि से भी वही मार्ग ग्राह्य है, यह ऊपर दिखाया ही जा चुका है। इस मार्ग से व्यवहार मे पहले कुछ कठिनाई होगी। किन्तु जूलियस सीजर ने ईसवी सन् के पूर्व ४६वे वर्ष मे जब पञ्चाङ्ग शुद्ध किया, तब वर्षारम्भ ६७ दिन एकाएक आगे बढा देने से उस समय लोगो मे जो भ्रम फैला होगा और जो असुविधा हुई होगी, उसके मुकाबले हमारे यहाँ वर्षारम्भ २२ दिन पहले हटाने से होनेवाली असुविधा कुछ भी नही। इसके अलावा अधिकमास के कारण किस प्रकार सुविधा होती है, यह अभी अभी बता ही चुके है। जिस वर्ष ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्ग से अधिकमास है और सायन से नही है, ऐसे वर्ष मे सायन पञ्चाङ्ग शुरू करने से सब ठीक हो जायगा। तिथि दोनो की एक ही है। कृषि के सम्बन्ध मे कुछ वर्ष तक कठि-

---

१. माधवराव ब्रह्माजी ने 'संवत्सर भविष्य माला' नाम की शक १८०६ के भविष्य की पुस्तक प्रकाशित की थी। उसमे भविष्य सायन मान से दिये गये थे। चिटणीस ईसवी सन् १८९५ की मई से 'ज्योतिर्माला' नाम की जो मासिक पत्रिका बम्बई से प्रकाशित करते है, उसमे फलज्योतिष का विचार सायनमान से किया जाता है।

नाई होगी किन्तु पहले अमुक सूर्यनक्षत्र मे खेती के जो काम होते हो वे अब अमुक नक्षत्र मे किये जायें ऐसे नियम पञ्चाङ्गो मे कुछ दिन लिख देने और कुछ वर्ष कार्यान्वित होने पर उनमे कभी बाधा पैदा न होगी और न किसी प्रकार की कठिनाई होगी। आवश्यकता केवल ऐसा ग्रन्थ तैयार करने की है जिसके आधार पर सायन पञ्चाङ्ग बनाया जा सके।

दूसरा मार्ग

उपर्युक्त मार्ग से प्रतिदिन के तिथि-नक्षत्रो मे कोई कठिनाई न होगी, किन्तु वर्षा आदि के सूर्यनक्षत्र २२ दिन पूर्व होने के कारण खेती के काम मे थोडा भ्रम पैदा होगा। तारात्मक नक्षत्रो मे एकदम करीब पौने दो नक्षत्रो का अन्तर पडने से वह कुछ भ्रामक होगा। इसलिए यदि यह मार्ग कुछ परेशानी का प्रतीत हो तो एक दूसरा मार्ग भी है' यह इस प्रकार है—अयनाश सम्प्रति सूर्यसिद्धान्तादि के अनुसार मानने का निश्चय किया जाय (शक १८०५ मे २२), और वर्षमान शुद्ध सायन रखा जाय। इसमे अयनगति अनायास ही शून्य होगी। ऐसा करने से वर्तमान ऋतु मे २२ दिन का जो फरक पडता है वह उतना ही रहेगा, उससे अधिक न होगा। इस मार्ग का ग्रन्थ तैयार होने पर इसके प्रचलित होने मे किसी प्रकार की कठिनाई न होगी। न राजाज्ञा की और न शकराचार्य की आज्ञा या सहायता की आवश्यकता होगी। जब छापाखाने न थे, उस समय जैसे ग्रहलाघव ग्रन्थ सर्वत्र कुछ ही वर्षों मे फैल गया, वैसे ही इस मार्ग का ग्रन्थ और पञ्चाङ्ग भी सहज ही सर्वत्र शीघ्र प्रचलित हो जायगा।

निरयनमान ग्राह्य नही, ऐसा ऊपर सिद्ध किया गया है, तथापि सायनमार्ग स्वीकार करना दुष्कर प्रतीत हो, निरयन ही ग्रहण करना हो तो ग्रहलाघवादि का, केरोपन्ती एव बापूदेव आदि इन तीनो मे से कोई एक लिया जाय अथवा नया ही ग्रहण किया जाय, इस पर विचार करना चाहिए। सूर्यसिद्धान्तादिको का निरयन वर्षमान चालू रहा तो क्या परिणाम होगा, यह तार्किक दृष्टि से ऊपर दिखा ही चुके है। अत वह वर्षमान छोडकर शुद्ध नाक्षत्र सौर वर्षमान ग्रहण किया जाना चाहिए यह हमे मानना होगा। सूर्यसिद्धान्त का वर्ष लिया जाय तथा शुद्ध ग्रहगतिस्थिति लेकर पञ्चाङ्ग तैयार किया जाय, ऐसा बापूदेव का कहना है। रघुनाथाचार्य का भी ऐसा ही कहना है। इसका उद्देश्य इतना ही है कि सूर्यसिद्धान्त का वर्षारम्भ मानने से अयनाश मे पडने वाला फरक इतना कम होगा कि लोगों का ध्यान उधर न जायगा। इस प्रकार सूर्य-संक्रान्तियाँ और अधिमास पूर्व के समान ही आयेंगे और सामान्य लोगो को तथा ज्योतिषियो को भी यह पञ्चाङ्ग मान लेने मे आपत्ति न होगी। उनका उद्देश्य इससे अधिक नही

दिखाई देता। किन्तु यदि इसे साधकर भी शुद्ध वर्षमान स्वीकार किया जा सके, तो वह मार्ग किसी को भी मान्य हो सकेगा। अब केरोपन्त का मत तो यह है कि शुद्ध नाक्षत्र (निरयन) सौरवर्ष ही ग्रहण किया जाय। किन्तु उनकी राय है कि जीटा-पीशियम तारे को आरम्भस्थान मान लिया जाय। ऐसा करने पर सूर्यसक्रमण मे चार दिन का अन्तर पडता है तथा अधिकमास भिन्न होता है। इसी लिए केरोपती पञ्चाङ्ग मान्य नही होता। जीटापीशियम तारा शक ४४४ के करीब आरम्भस्थान के पास था, यह सही है, फिर भी सूर्यसिद्धान्त के रेवतीभोग शून्य नही, ३५९।५० अर्थात् १० कला कम है। लल्ल ने रेवतीभोग ३५९।० माना है, अर्थात् यह एक अश कम है। ब्रह्मगुप्त ने और उसके बाद के ज्योतिषियो ने रेवतीभोग शून्य माना है। फिर भी उनके अथवा हमारे किसी भी ग्रन्थ के आरभस्थान मे जीटापीशियम या कोई भी तारा सर्वदा रह नही सकता, ऐसा मै अयनचलन विचार मे स्पष्ट बता चुका हूँ। आरम्भ-स्थान मे रेवती तारा होना चाहिए, ऐसा ब्रह्मगुप्त तथा उनके बाद के ज्योतिषियो का कहना सही है। रेवती नक्षत्र के ३२ तारे है। उनमे से कोई ऐसा तारा मिले कि जिसका सम्पात से सम्प्रति अन्तर, सभी ग्रन्थो से प्राप्त होने वाले वर्तमान अयनाशो के लगभग हो, तो उसे आरम्भ स्थान मे मानकर शुद्ध नाक्षत्र सौरवर्ष मानने के लिए ब्रह्मगुप्त आदि सब ज्योतिषी, यदि वे आज जीवित होते, खुशी से तैयार हो जाते। केरोपन्त ने हमारे सभी ग्रन्थो मे अयनचलन का इतिहास देखा था, ऐसा नही मालूम होता। अयनाश कम मानने से सक्रमण यदि पहल आता है तो वह लोकप्रिय होगा या नही, इसका विचार पञ्चाङ्ग प्रारम्भ करते समय उन्होने नही किया और यह विचार उस समय उत्पन्न होने का कोई कारण भी नही था। इसी कारण शुद्ध निरयन वर्ष मानने पर भी अन्तर लोगो की समझ मे न आये, ऐसा करने का कोई मार्ग है या नही, इस पर सम्भवत उन्होने विचार नही किया। ऐसा मार्ग है, यह मुझे ज्ञात हुआ है। रेवती के तारो की मृदङ्गा-कृति हमारे ग्रन्थो मे वर्णित है। उसका एक तारा शक १८०९ के आरम्भ मे सम्पात से २१ अश ३२ कला ५७ विकला अन्तर पर है, इसलिए हमारे सिद्धान्त का आरम्भ-स्थान वर्तमान जीटापीशियम से भी उसके लिए अधिक समीप होगा। हमारे अलग-अलग सिद्धान्तो के वर्षमान के अनुरूप शक १८०९ मे अयनाश कितने माने जायँ, यह पहले लिख चुके है। वे २१ अश ५६ कला से २२ अश ३ कला तक है। मध्यम रवि माना जाय तो वे २२।४ से २२।१८ तक होगे। इसी प्रकार हमारे देश के वर्तमान प्रचलन को देखा जाय तो शक १८०९ में अयनाश कही २२।४५, कही २२।४४ और कही २०।४९ है, यह भी लिखा जा चुका है। ऐसी स्थिति में ऊपर मैंने जो तारा बताया है, उसे आरम्भ स्थान में मानने पर शक १८०९ मे अयनाश २१।३३ मानना

पडेगा। यह ऊपर के सब तारो से अधिक नजदीक है। तेजस्विता के सम्बन्ध मे जीटा-पीशियम तारा वेध के लिए अथवा केवल देखने के लिए जितना उपयोगी है, उतना ही यह तारा भी उपयोगी है। जीटापीशियम को आरम्भस्थान मानने से ११ नक्षत्रो में गडबडी होती है, किन्तु इसे मानने पर ७ में[1] ही गडबडी होगी, यही इसकी सुविधा है। इसी लिए इस तारे को आरम्भस्थान मे माना जाय, उसके सम्पात से जो अन्तर हो, उसे अयनाश माना जाय। तात्पर्य यह है कि चित्रा तारा वेध के लिए बहुत उपयोगी है। सूर्यसिद्धान्त में उसका भोग १८० अश है। इसके आधार पर उसके साथ वेधो की तुलना कर प्राचीन ज्योतिषी ग्रहगतिस्थिति साधते होगे, ऐसा अनुमान होता है। तो अब चित्रा तारे का भोग १८० अश मानकर वहाँ से १८० अश पर आरम्भस्थान माना जाय। चित्रा तारे का सायन भोग शक १८०९ मे ६ राशि २२ अश १६ कला है, इसलिए शक १८०९ मे अयनाश २२।१६ माना जाय। यही ऊपर स्पष्ट की गयी बातो से बहुत निकट है। आरम्भस्थान इस प्रकार मानने पर केवल ७—८ नक्षत्रो में गडबडी होगी। साराश, शक १८०९ मे २१।३३ अथवा २२।१६ अयनाश माना जाय।[2]

तीसरा मार्ग

अयन-वर्षगति वास्तविक अर्थात् ५५$\frac{2}{10}$ विकला मानी जाय और वर्षमान शुद्ध नाक्षत्र सौर अर्थात् ३६५ दिन १५ घडी २२ पल ५३ विपल माना जाय। यह मार्ग प्रचलित सभी पञ्चाङ्गो, उसी प्रकार केरोपन्ती, बापूदेव तथा रघुनाथाचार्य आदि के पञ्चाङ्गो से सर्वाधिक उत्तम है। सायन मान के जो दो मार्ग ऊपर बताये गये है, वे यदि प्रचलित न हो तो यह तीसरा मार्ग ग्रहण किया जाय, यह उचित ही होगा। इसमें प्रचलित ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्ग से सूर्यसक्रमण मे केवल कुछ घडियो का ही अन्तर पडेगा तथा अधिक मास सब व्यवस्थित होगे। सामान्यत अन्तर बिलकुल न पडेगा। इसी से स्पष्ट है कि उपर्युक्त मार्ग सहज ही प्रचलित हो सकेगा। इसी प्रकार इस मान का नया सस्कृत ग्रन्थ तथा उसके अनुसार तिथि चिन्तामणि जैसी सारणियाँ तैयार

---

१. पहले हम योगतारा-भोग सूक्ष्म (केरोपन्ती) दे चुके है, वे जीटापीशियम से दूरी पर है। जीटापीशियम से यह तारा लगभग ३ अंश १५ कला आगे है, इस कारण जिनके सामने 'आगे' लिखा है वे उत्तराभाद्रपदा के सिवा सब तारे अपने-अपने प्रदेश में आवेगे। जिन सात में गड़बड़ी पड़ेगी उनमें ज्येष्ठा तारा केवल २ कला पीछे रहेगा।

२. इस ग्रन्थ का यह भाग पहले-पहल शक १८१० मे लिखा गया था, इसलिए इसमें १८०९ के गणित का उल्लेख है।

होने पर यह मार्ग बहुत जल्द प्रचलित हो सकेगा, इसका मुझे विश्वास है। यदि केरोपन्त के सामने यह मार्ग कोई प्रस्तुत करता तो वे उसे तत्काल मान लेते, क्योकि पटवर्द्धनी पञ्चाङ्ग मे उन्होने जो मार्ग स्वीकार किया है उसकी अपेक्षा जीटापीशियम के स्थान पर दूसरा तारा मानना, मात्र इतना ही दोनो मे अन्तर है। बापूदेव तथा रघुनाथाचार्य आदि का उद्देश्य इससे सिद्ध हो जाने से उनके अनुयायियो को भी यह मार्ग पसन्द आयेगा।

उपर्युक्त दूसरे और तीसरे मार्ग मे वर्षमान तथा ग्रहस्थिति शुद्ध लेना, इतना ही पुराने पञ्चाङ्ग से इसमे अन्तर होगा। इस पद्धति का पञ्चाङ्ग किसी भी समझदार मनुष्य के हाथ मे देने पर उसकी समझ मे न आने लायक कोई बात उसमे न मिलेगी। पञ्चाङ्ग बदल गया, ऐसा भी उसे न प्रतीत होगा। साराश इन दोनो मे से कोई भी मार्ग प्रचलित होने मे जरा भी कठिनाई नही है।

इन तीन मार्गो की चर्चा से तथा ग्रहादिको मे ग्रहलाघव से आनेवाला अन्तर जो पहले बताया जा चुका है, उससे स्पष्ट है कि ऐसे नवीन ग्रन्थ की आवश्यकता है, जिससे ग्रहगति-स्थिति शुद्ध प्राप्त हो सके। केरोपन्त के ग्रहसाधनकोष्ठक ग्रन्थ मे ग्रहगति-स्थिति उतनी शुद्ध तो नही है, जितनी इग्लिश नाटिकल आल्मनाक ग्रन्थ के आधार पर प्राप्त होती है, फिर भी कामचलाऊ दृष्टि से वह पर्याप्त शुद्ध है। उसमे वर्षमान सूर्य-सिद्धान्त का लिया गया है और उसके आधार पर ग्रहसायन निकलते है। इस कारण वह व्यवहारत उपर्युक्त तीनो मे से किसी भी मार्ग के लिए उपयोगी नही, फिर भी यदि कोई नया ग्रन्थ निर्माण किया जाय तो उसमे इस ग्रन्थ से पर्याप्त सहाय्यता मिलेगी। जिन ग्रन्थो के आधार पर इग्लिश अथवा फ्रेच नाटिकल आल्मनाक तैयार किया जाता है उन्ही की सहायता से नया ग्रन्थ तैयार होना चाहिए। वे ग्रन्थ फ्रेंच भाषा मे है। उन पर से ग्रह सायन निकलते है तथा उनकी वर्षमानपद्धति हमसे भिन्न है. इस कारण पर्याप्त कठिनाई होगी, फिर भी प्रयत्न करने पर ग्रन्थ तैयार किया जा सकता है। यह ग्रन्थ सस्कृत मे पद्यात्मक होना चाहिए। उसमे गणित के लिए कोष्ठक तैयार हो जाने से ग्रहलाघव के आधार पर ग्रह लाने मे जितना परिश्रम करना पडता है, उतना अथवा उससे भी कम परिश्रम करने पर ग्रह लाये जा सकेगे। इसके सिवा तिथि नक्षत्र योग के घडी पल निकालने मे गणेश दैवज्ञ कृत तिथिचिन्तामणि जैसे कोष्ठक तैयार होने चाहिए। ये भी तैयार किये जा सकते है। ये दो ग्रन्थ तैयार होने पर उपर्युक्त तीनो मे से, और उनमें भी विशेष कर अन्तिम दोनो मे कोई मार्ग प्रचलित होने मे बहुत सहायता मिलेगी। केरोपन्ती पञ्चाङ्ग जैसा पञ्चाङ्ग जिसके आधार पर तैयार किया जा सके, ऐसा ग्रन्थ वेंकटेश बापूजी केतकर ने तैयार किया है, ऐसा ज्ञात हुआ है, किन्तु उसमे अयनाश

जीटापीशियम से गिने गये हैं, इसी लिए उसका प्रचलित होना कठिन प्रतीत होता है. बाबाजी विट्ठल कुलकर्णी ने[1] ग्रहलाघव के अनुसार ग्रन्थ लिखा है, किन्तु उसमे वर्षमान सूर्यसिद्धान्त का है और उसके आधार पर ग्रह सायन आते हैं, ऐसा ज्ञात हुआ। अर्थात् वह वस्तुत किसी भी मार्ग के लिए उपयोगी नही और उसका प्रचलित होना भी कठिन है। सुना जाता है कि बापूदेव ने अथवा उनके शिष्यो मे से किसी ने उपर्युक्त ढग का ग्रन्थ तैयार किया है। रघुनाथाचार्य ने भी एक ग्रन्थ लिखा है किन्तु उसमे वर्षमान कौन-सा है, उसके आधार पर उपर्युक्त तीनो मे से किसी एक प्रकार का पञ्चाङ्ग तैयार किया जा सकता है या नही, यह ज्ञात नही हो सका। साराश, जैसा चाहिए वैसा उपर्युक्त ग्रन्थ अभी नही है। ऐसा ग्रन्थ लिखने की मेरी इच्छा है और मै प्रयत्न भी कर रहा हूँ। यदि ईश्वर की इच्छा होगी तो उसमे मुझे सफलता मिलेगी।

(३) त्रिप्रश्नाधिकार

इसमे दिक्, देश और काल सम्बन्धी प्रश्नो का विचार किया जाता है, इसलिए इसे त्रिप्रश्नाधिकार कहते है। इसमे दिक्साधन कई प्रकार से किया जाता है। इष्टकाल द्वारा लग्न और लग्न द्वारा इष्टकाल का आनयन होता है। छायादिको द्वारा भी कालसाधन किया जाता है। उज्जयिनी से देशान्तर का विचार प्राय. मध्यमाधिकार मे रहता है इसलिए वह इसमे नही रहता, पर विषुववृत्त से किसी स्थान का अन्तर (अक्षाश) लाने की रीतियाँ दी रहती है। इसमे छाया का विचार अधिक रहता है। छायासाधन द्वादशाङ्गुल-शकु द्वारा किया जाता है। उसमे अभीष्टकाल मे ग्रह चाहे जिस दिशा मे हो, शकुच्छाया कितनी होगी और वह किस दिशा मे पड़ेगी इत्यादि बातो, का वर्णन रहता है,। भास्कराचार्य से पहिले के आचार्यो ने शकु की केवल पूर्वापर, दक्षिणोत्तर और कोणछायाएँ लाने की विधियाँ लिखी है, परन्तु भास्कराचार्य ने प्रत्येक दिशा का छायासाधन किया है। उसके विषय मे उन्होने अभिमानपूर्वक लिखा है —

---

१. कुलकर्णी ने 'करणशिरोमणि' तथा 'ग्रह-ज्योत्स्ना' नामक ग्रन्थ लिखे है। मैने उन्हे पढ़ा नहीं है अतः उनकी विशेष जानकारी मुझे नहीं है। ये ग्रन्थ छपे नहीं है। इनके सम्बन्ध में केरोपन्त की राय अच्छी है। कुलकर्णी का जन्म शक १७६७ में मालवण में हुआ था और शक १८१५ मे उनकी मृत्यु हुई। वे रत्नागिरि जिले में सन् १८६५ से १८७५ ईसवी तक शिक्षा विभाग में और फिर अन्त तक मुल्की विभाग में नौकर थे। उनके द्वारा रचित तारकादर्श पुस्तक १८८६ ईसवी मे छपी है।

याम्योदक्समकोणभा किल कृता पूर्वै. पृथक्साधनै—
र्यास्तद्दिग्विवरान्तरान्तरगता या प्रच्छकेच्छावशात्।
ता एकानयनेन चानयति यो मन्ये तमन्य भुवि।
ज्योतिर्विद्विदनारविन्दमुकुलप्रोल्लासने भास्करम् ॥४४॥

सिद्धान्तशिरोमणि, त्रिप्रश्नाधिकार

छाया द्वारा कालसाधन करते है, परन्तु उसका मुख्य उपयोग वेधार्थ नलिकाबन्ध मे होता है। नलिका द्वारा वेध करने का मुख्य स्वरूप यह है—इष्टकाल मे सूर्य (या किसी भी ग्रह) के प्रकाश मे खडे किये हुए शकु की छाया कितनी और किस दिशा मे पडेगी, इसको ग्रन्थोक्त गणित द्वारा लाकर तदनुसार नलिका लगाकर उसमे से ग्रह देखा जाता है। इष्टकाल मे उसके दिखाई देने पर ग्रन्थागत ग्रहस्थिति शुद्ध समझी जाती है।

विषुवदिन द्वादशागुल शकु की छाया उस स्थान की पलभा कही जाती है। यहाँ एक समकोण त्रिभुज बनता है, जिसमे पलभा भुज, शकु कोटि और शक्वग्र तथा छायाग्र को मिलाने वाली रेखा कर्ण होती है। इसे अक्षक्षेत्र कहते है। हमारे ज्योतिष में इस अक्षक्षेत्र का बडा महत्त्व है। इसके सजातीय क्षेत्र बनाकर उनके द्वारा प्रसङ्गानुसार अनेक मान लाये जाते है। इस अधिकार मे उन क्षेत्रो का अधिक विचार किया जाता है।

सिद्धान्ततत्त्वविवेककार-लिखित कुछ नगरो के अक्षाश और रेखाश पहले लिख आये है। यन्त्रराज के टीकाकार मलयेन्दुसूरि ने ७५ नगरो के अक्षाश लिखे है। वह ग्रन्थ छपा है। पहले के किसी पृष्ठ की टिप्पणी मे वर्णित सखाराम जोशी[1] के यन्त्र पर कुछ नगरों के अक्षाश लिखे है। उन्हे यहाँ उद्धृत करते है।

---

१. प्रतोदतुन्त्र की सखारामकृत एक टीका है। उसमें उदाहरण में अक्षांश १७। ४१।५० लिये है। सखाराम जोशी कोडोलीकर ने सतारा के अक्षांश ये ही लिखे हैं और वह टीका की पुस्तक मुझे सतारा जिले में ही आष्टे में मिली है अतः वह टीका इन्हीं की होगी।

	अ०	क०		अ०	क०
श्रीरंगपट्टन	१५	२७	अहमदाबाद	२३	०
बीजापुर	१६	४२	वाराणसी	२५	३६
करवीर	१७	२१	मथुरा	२६	३६
सप्तर्षि (सतारा)	१७	४२	मडव	२७	०
नन्दिग्राम	१८	२६	इन्द्रप्रस्थ	२८	४०
जनस्थान (नासिक)	२०	१२	कुरुक्षेत्र	३०	०
ब्रघ्नपुर (बरारपुर)	२१	०	कश्मीर	३५	०
उज्जयिनी	२२	३७			

सम्प्रति वर्तमान सरकार ने हमारे देश के सहस्रो स्थानो के अत्यन्त सूक्ष्म अक्षाश और रेखाश प्रसिद्ध कराये है, अत. उपर्युक्त अक्षाश-रेखाशो की कोई आवश्यकता नही है, तथापि उनसे यह ज्ञात होता है कि हमारे देशवासी भी इस विषय मे प्रयत्नशील थे और तुलना करने से यह भी ज्ञात होगा कि इस प्रयत्न मे वे कहाँ तक सफल हुए है।

(४, ५) चन्द्रसूर्य—ग्रहणाधिकार

चन्द्रसूर्य-ग्रहणो का कारण राहु नामक दैत्य नही है, बल्कि चन्द्रग्रहण का कारण भूछाया और सूर्यग्रहण का कारण चन्द्रमा है, यह बात सबसे प्राचीन पौरुषग्रन्थकार वराहमिहिर और आर्यभट के समय से ही ज्ञात है। ब्रह्मगुप्त ने श्रुति-स्मृति और ज्योतिषसंहिताओ की ज्योतिषसिद्धान्त से एकवाक्यता दिखाते हुए लिखा है[1] कि राहु चन्द्रग्रहण के समय भूछाया मे और सूर्यग्रहण के समय चन्द्रमा मे प्रवेश करके चन्द्रमा और सूर्य को आच्छादित करता है। भास्कराचार्य ने भी ऐसा ही लिखा है।[2]

लम्बन

सूर्यग्रहण मे चन्द्रलम्बन का विचार करना पडता है। हमारे ग्रन्थों में परम लम्बन ग्रहगति के पञ्चदशाश तुल्य माना है, अर्थात् चन्द्रमा का परम मध्यम लम्बन ५२ कला ४२ विकला और सूर्य का ३ कला ५६ विकला है। आधुनिक मत की दृष्टि से यहाँ चन्द्रलम्बन मे बहुत थोडी पर सूर्य के लम्बन में अधिक अशुद्धि है। आधुनिक सूक्ष्म शोध के अनुसार चन्द्रमा का विषुववृत्तक्षितिजस्थ परम लम्बन ५७ कला १ विकला

---

१. ब्रह्मसिद्धान्त, गोलाध्याय की आर्याएँ ३४-४८ देखिए।

२. सिद्धान्तशिरोमणि, ग्रहणवासना के श्लोक ७-१० देखिए।

और सूर्य का ८.६ विकला ३। हिपार्कस ने चन्द्रलम्बन ५७ कला और सूर्यलम्बन ३ कला तथा टालमी ने चन्द्रलम्बन ५८।१४ और सूर्यलम्बन २।५१ निश्चित किया था।[1] इससे सिद्ध होता है कि हमारे ज्योतिषियो ने लम्बमान इन दोनो से नही लिये है।

भास्कराचार्य ने लिखा है कि सूर्यबिम्ब द्वादशाश तक ग्रस्त हो जाने पर भी अपने तेज के कारण दिखाई नही देता और चन्द्रबिम्ब का षोडशाश ग्रहण भी दिखाई देता है, अत गणित द्वारा इससे कम ग्रास आने पर ग्रहण नही मानना चाहिए। इसी प्रकार अन्य भी अनेक आचार्यो ने इससे किञ्चित् न्यून या अधिक ग्रहण को अदृश्य कहा है। परन्तु १९ अगस्त सन् १८८७ के सूर्यग्रहण को जिसमे ग्वालियर मे बिम्ब के $\frac{७}{१००}$ भाग अर्थात् लगभग चतुर्दशाश का ग्रहण हुआ था—विसाजी रघुनाथ लेले ने केवल नेत्रो से और शीशे मे काजल लगाकर, दो प्रकार से देखा था और वह ठीक दिखाई पडा था। लेले का कथन है कि इतना अल्प ग्रास केवल नेत्रो से देखना भयावह है। इसमे नेत्रो को अत्यधिक हानि पहुँचने की सम्भावना रहती है।

(६) छायाधिकार

कुछ करणग्रन्थो मे यह अधिकार पृथक् नही रहता पर ग्रहलाघव मे है। इसमें सूर्यातिरिक्त ग्रहो के नित्योदयास्तकाल, दिनमान (क्षितिज से ऊपर रहने का काल), इष्टकालीन छाया और वेध इत्यादि का गणित रहता है।

(७) उदयास्त (दर्शनादर्शन)

ग्रहो का उदयास्त हमारे देश मे एक महत्व का विषय समझा जाता है। गुरु और शुक्र के अस्त मे विवाहादि धार्मिक कर्म नही किये जाते। मुख्यतः इसी कारण इसको इतना महत्व मिला है। ज्योतिषग्रथो के अनुसार दृक्प्रतीति होती है या नही, इसकी परीक्षा का लोग इसे एक साधन समझने लगे है।

ग्रह और तारे जिस समय सूर्य के पास रहते है, सूर्योदय के पूर्व और सूर्यास्त के बाद क्षितिज के ऊपर रहते हुए भी दिखाई नही देते, यद्यपि उस समय सूर्य क्षितिज के नीचे रहता है। इस प्रकार वे कुछ दिन या कुछ मास तक अदृश्य रहते है। कोई भी दृश्य

---

१. बर्जेसकृत सूर्यसिद्धान्त के अनुवाद का पृष्ठ १२७ देखिए। ह्विटने का कथन है कि ये मान हिन्दुओं के मानों के बहुत सन्निकट है अतः हिन्दुओं ने ये ग्रीकों से लिये होंगे परन्तु ऐसा कहना सरासर पक्षपात है। ऐसे स्थानों में थोड़ी-सी कलाओ का अन्तर भी बहुत है, इसे प्रत्येक विचारशील मनुष्य स्वीकार करेगा।

तारा या ग्रह क्रमश सूर्य के पास जाते-जाते जिस दिन अदृश्य हो जाता है उस दिन उसका अस्त कहा जाता है और अस्त ग्रह या तारा क्रमश सूर्य से दूर हटते-हटते जिस दिन दिखाई देने लगता है, उस दिन उसका उदय माना जाता है। तारो और ग्रहो के प्रतिदिन क्षितिज के ऊपर आने और नीचे जाने की क्रिया को भी उदयास्त ही कहा जाता है अर्थात् उदयास्त शब्द का प्रयोग दो अर्थो मे होता है। परन्तु यह ठीक नही है। अच्छा होता कि दोनो के भिन्न-भिन्न दो नाम होते। चन्द्रमा के विषय मे दो नाम है भी। कृष्ण पक्ष मे चन्द्रमा क्रमश. सूर्य के पास जाते-जाते अमावास्या के लगभग अदृश्य हो जाता है और उसके बाद शुक्ल प्रतिपदा या द्वितीया को पश्चिम मे दिखाई देने लगता है। उस समय 'चन्द्रमा का दर्शन हुआ' यह कहते है, उसे चन्द्रोदय नही कहते। इसी प्रकार तारो और अन्य ग्रहो की भी सूर्यसान्निध्य के कारण प्रथमत. दिखाई देने और न देने की क्रियाओ को दर्शन-अदर्शन कहना चाहिए, परन्तु हमारे ज्योतिषियो ने उन्हे उदयास्त कहा है और सम्प्रति इसी का प्रचार भी है। चन्द्रमा के नित्योदयास्त और सूर्यसान्निध्य के कारण होने वाले दर्शनादर्शन, दोनो की व्यवहार मे आवश्यकता पडती है, अतः लोग उनसे अधिक परिचित रहे है और इसी कारण उन दोनो के पृथक्-पृथक् दो नाम रखे है, पर अन्य ग्रहो और नक्षत्रो के नित्योदयास्त का प्रायः कोई विचार नही करता। सम्भवत इसी कारण उनके दर्शनादर्शन को भी उदयास्त ही कहा जाता है।

जिस समय गुरु और शुक्र अस्त रहते है, उपनयन, विवाह इत्यादि संस्कार और व्रत, वास्तुप्रतिष्ठा इत्यादि कर्म नही किये जाते। इसके विषय मे लिखा है—

> नीचस्थे वक्रसस्थेऽप्यतिचरणगते बालवृद्धास्तगे वा
> सन्यासो देवयात्राव्रतनियमविधि कर्णवेधस्तु दीक्षा।
> मौजीबन्धोऽगनाना परिणयनविधिर्वास्तुदेवप्रतिष्ठा
> वर्ज्या सद्भिः प्रयत्नात् त्रिदशपतिगुरौ सिंहराशिस्थिते वा ॥
>
> लल्ल०

> बाले वा यदि वा वृद्धे शुक्रे वास्तंगते गुरौ।
> मलमास इवैतानि वर्जयेद्देवदर्शनम् ॥
>
> बृहस्पति०

धर्मशास्त्रनिबन्धकारो ने इसी प्रकार के और भी अनेक वचन लिखे है। सम्प्रति गुरुशुक्रास्त के समय तो विवाहादि शुभ कर्म नही किये जाते, परन्तु उनकी नीचस्थता,

वक्रत्व और अतिचार का विचार कोई नही करता। ग्रह और नक्षत्रो मे केवल गुरु और शुक्र का ही अस्त धर्मकृत्यो मे प्रतिकूल समझा जाता है। ये दोनो औरो की अपेक्षा तेजस्वी है। कुछ न कुछ नक्षत्र सदा अस्त रहते है, बुध वर्ष मे लगभग ६ बार अस्त होता है और मगल का अस्त अधिक समय मे होता है परन्तु अस्त होने के बाद पाँच मास तक वह दिखाई नही देता, अत बुध, मगल और नक्षत्रो के अस्त को धर्मकृत्यो मे प्रतिकूल न मानना धर्मशास्त्र का व्यवहारानुकूलत्व सिद्ध करता है। शनि के अस्त का ग्रहण करने से व्यवहार मे कोई अडचन नही आती, परन्तु धर्मशास्त्रकारो ने उसका विचार नही किया है। सम्भवत पापग्रह होने के कारण उन्होने उसके अस्त को त्याज्य नही माना है।

ग्रह और सूर्य के नित्योदयकाल मे एक नियमित समय से—जिसका परिमाण हमारे प्राचीन आचार्यो ने प्रत्येक ग्रह के लिए पृथक्-पृथक् निश्चित कर दिया है—अधिक अन्तर पडने पर पूर्व मे उसका उदय और न्यून अन्तर पडने पर अस्त होता है। इसी प्रकार सूर्य और ग्रह के नित्यास्तकालो मे उस नियमित समय से न्यूनाधिक अन्तर पडने पर पश्चिम मे उसका अस्तोदय होता है। उदाहरणार्थ, गुरु और सूर्य के नित्योदयास्त मे ११० पल अन्तर पडने पर गुरु का उदयास्त होता है। ग्रहादिक अपने दैनन्दिन भ्रमण मे प्रति दस पल मे एक अश चलते है, क्योकि अहोरात्र मे उनकी एक प्रदक्षिणा पूरी होती है, अत गुरु ११० पलो मे ११ अश चलेगा। ये अश कालसम्बन्धी है, अत इन्हे कालाश कहते है। साराश यह कि सूर्य और गुरु मे ११ अश अन्तर पडने पर उसका उदय या अस्त होगा। भिन्न-भिन्न ग्रन्थो मे बताये हुए ग्रहो के कालाश ये है—

इसमे टालमी के कालाश उस समय के है जब कि ग्रह कर्कराशि मे रहते है और बुध-शुक्र के कालाश पश्चिमास्त सम्बन्धी है (बर्जेसकृत सूर्यसिद्धान्त के अनुवाद का पृष्ठ २२३ देखिए)।

केरोपन्त ने अपने ग्रहसाधनकोष्ठक मे अनुभूत कालाश नही लिखे है क्योकि तदनुसार अनुभव नही होता। वे प्रथम आर्यसिद्धान्त के सर्वथा तुल्य ह।

गणपत कृष्णाजी और निर्णयसागर के पञ्चाङ्गो मे केवल शुक्र के उदयास्त ग्रहलाघवीय कालाश द्वारा लाते है। शेष उदयास्त तथा अन्य ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्गो के सभी उदयास्त ग्रहलाघव की एक स्थूल रीति द्वारा लाये जाते है। इस देश के अन्य पञ्चाङ्ग जिन ग्रन्थो द्वारा बनाये जाते है, उन्ही के कालाशो द्वारा उनमे उदयास्त लाते होगे। नाटिकल आल्मनाक द्वारा बनने वाले केरोपन्ती अथवा पटवर्धनी, बापूदेवकृत,, अपने सायनपञ्चाङ्ग इत्यादि नवीन पञ्चाङ्गो मे भी हमारे ही किसी ग्रन्थ के कालाशो द्वारा उदयास्त साधन किया जाता है। इस प्रकार लाये हुए किसी भी पञ्चाङ्ग के सब उदयास्तकाल सदा शुद्ध नही होते। उनके अनुसार किसी समय ठीक अनुभव होता है और कभी-कभी वे अशुद्ध ठहर जाते है। इतना अवश्य है कि नवीन पञ्चाङ्गो मे उतनी अशुद्धि नही होती जितनी प्राचीनो मे थी। कुछ लोग 'नवीन पञ्चाङ्गो के उदयास्त मे अशुद्धि क्यो होती है' इसका विचार किये बिना ही 'उनके कुछ उदयास्त अशुद्ध होते है' केवल इसी आधार पर यह सिद्ध करने लगते है कि ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्गो की भाँति नवीन पञ्चाङ्गो का गणित भी कभी-कभी अशुद्ध हो जाता है। वे यह नही समझते कि नवीन पञ्चाङ्ग के उदयास्त मे कभी-कभी अशुद्धि हो जाने के कारण उसका गणित अशुद्ध नही कहा जा सकता। उन पञ्चाङ्गो के गणित की सत्यता अन्य अनेक प्रमाणो से सिद्ध होती है। उदयास्त कथित समय पर न होने के कारण दूसरे है। उनमे कालाशसम्बन्धी त्रुटि मुख्य है। ग्रहलाघव के ग्रहगणित मे सम्प्रति सदा थोडी बहुत अशुद्धि रहती है। उसके उदयास्त का यथार्थ अनुभव हुआ तो भी उसे काकतालीय न्याय ही समझना चाहिए। कालाश निश्चित करते समय ग्रह और सूर्य के नित्योदयास्तकालो के अन्तर का या तो प्रत्यक्ष अवलोकन करना चाहिए अथवा उस समय की उनकी गणितागत स्थिति द्वारा उसे गणित करके लाना चाहिए। परन्तु सूर्य और ग्रह के नित्योदयास्त कालो के अन्तर का प्रत्यक्ष अवलोकन करने मे कठिनाई यह है कि सूर्य तो क्षितिज मे आते ही दिखाई देने लगता है, पर अन्य ग्रह उस समय जब कि हम उनके उदय और अस्त का निरीक्षण करने जा रहे है, क्षितिज मे आने पर दिखाई नही देते। उनका दर्शन तब होता है जब वे क्षितिज से कुछ ऊपर आ जाते है। इसका कारण यह है कि जब वे क्षितिज में आते है उस समय अर्थात् सूर्योदय के कुछ पहिले अथवा सूर्यास्त के कुछ समय बाद सूर्य

क्षितिज से थोडा ही नीचे रहता है। वह सन्धिप्रकाश का समय रहता है। उस स्थिति में भी यदि दोनो के उदयास्तकालो का वास्तविक अन्तर जानने का कोई उपाय हो तो भी तदुपयुक्त काल और कोण का सूक्ष्म मान नापने के आजकल सरीखे उत्कृष्ट साधन प्राचीन काल मे रहे होगे, इसकी सम्भावना नही है। इसी प्रकार ग्रहो की उदयास्त-कालीन स्थिति के आधार पर नित्योदयास्त का अन्तर लाने मे भी उनकी शुद्ध स्थिति ज्ञात होनी चाहिए, अन्यथा शुद्ध काल नही आयेगा। परन्तु प्राचीनकाल मे जिस समय कालाश निश्चित किये गये, ग्रहगणित का सूक्ष्म ज्ञान नित्योदयास्तकाल मे एक पल की भी अशुद्धि न होने योग्य था, इसका मुझे विश्वास नही है, अत उस समय निश्चित किये हुए कालाश मे अशुद्धि की सम्भावना है। जिसके आधार पर उदयास्त लाना है वह कालाश ही यदि अशुद्ध है तो उदयास्त कैसे शुद्ध हो सकता है? हम सायन पञ्चाङ्ग मे गुरु का कालाश ११ मानते है, अत उसमे जिस दिन गुरु का अस्त लिखा रहता है, उसी दिन के सूर्य-गुरु के नित्यास्त मे ११० पल से कम अन्तर पडने लगता है, यह हम निश्चयपूर्वक कहेगे और उसके सत्यत्व की परीक्षा अन्य प्रमाणो से भी की जा सकती है, परन्तु गुरु उसी दिन अस्त होता है, यह हम नही कह सकते, क्योकि नित्योद-यास्तकाल मे ११० पल से कम अन्तर पडने पर गुरु का अस्त उसी दिन होना या न होना दूसरा विषय है। सम्भव है, वह एक दो दिन आगे या पीछे अस्त हो। पर ऐसा होने पर यह कहना अनुचित होगा कि पञ्चाङ्ग का गणित अशुद्ध है। इससे केवल इतना ही सिद्ध किया जा सकता है कि गुरु का कालाश ११ से न्यून या अधिक मानना चाहिए।

सम्प्रति ग्रहस्थिति की शुद्धता का परीक्षण करने के साधन उपलब्ध है और काल-साधन भी है। ऐसे समय मे कालाश निश्चित करने चाहिए। मैंने शक १८११ पर्यन्त छ-सात वर्ष इसका प्रयत्न किया पर बाद में समय न मिल सका। यद्यपि दृष्टि धीरे-धीरे मन्द होती जा रही है तो भी स्वय और सूक्ष्मदृष्टि शिष्यों की सहायता से कुछ अनुभव कर रहा हूँ।[1] हमारे सायनपञ्चाङ्ग-मण्डल मे गोपाल बल्लाल भिडे[2] नाम के एक सज्जन

---

१. बम्बई से सृष्टिज्ञान नामक एक मासिकपत्र निकलता था। सन् १८८५ के उसके मई, जून और जुलाई के अंकों में ग्रहों के उदयास्त के विषय में एक विस्तृत निबन्ध लिखा है। उसके अतिरिक्त मेरे ज्योतिर्विलास का भी यह प्रकरण अवलोकनीय है।

२. गोपाल बल्लाल भिडे को आकाशीय चमत्कारों के अवलोकन में बड़ी रुचि थी। शक १७७८ में रत्नागिरि जिले के निर्वेड़ी नामक स्थान में उनका जन्म और शक १८१२ में देहान्त हुआ। सन् १८७४ से मरणपर्यन्त वे उस जिले में स्कूल विभाग में नौकर थे। उन्होंने ग्रहों के उदयास्त सम्बन्धी अनेक अनुभव लिख रखे हैं और नक्षत्र-

थे। उन्होने इस काम मे बडा परिश्रम किया था । अपने सब अनुभवो का एकीकरण करते हुए उसके आधार पर उदयास्त सम्बन्धी नियमो के निर्माण का कार्य अभी समाप्त नही हुआ है। शक १८११ के पूर्व पॉच वर्षो मे शनि के उदयास्त प्राय वर्षाकाल अथवा उसकी सन्धि मे हुए थे अत उनका निरीक्षण करने का अवसर नही मिला। मंगल का उदयास्त देखने का प्रसङ्ग भी दो-एक बार ही आया। पाठको मे से यदि किसी को स्फूर्ति हो और वे अनुभव करके मुझे बताये तो ज्योतिषशास्त्र पर उनका बडा उपकार होगा। ग्रीष्म ऋतु मे भी कभी-कभी आकाश बादलो से ढका रहता है, उदयास्तकाल की सन्धि मे ग्रह क्षितिज के बिलकुल पास रहते है और आकाश का अन्य भाग स्वच्छ रहने पर भी क्षितिज के पास प्राय बादल रहते है। अनुभव करने मे इस प्रकार की अनेक अडचने आती है तथापि सतत अवलोकन से मुझे अनुभव हुआ है कि हमारे ग्रन्थो के कालाश प्राय सूक्ष्म है । यद्यपि यह सत्य है कि बुध-शुक्र जिस समय वक्री रहते है, अधिक तेजस्वी दिखाई देते है, तथापि हमारे कुछ ग्रन्थो मे उनकी सरल और वक्र स्थिति के कालाशो मे जितना अन्तर बताया है, वस्तुत उतना नही है। बल्कि अन्तर है ही नही, यह कहने मे भी कोई आपत्ति नही है ।

विशेषता

उदयास्त के विषय मे मैने एक ऐसी बात का पता लगाया है जो हमारे किसी भी ग्रन्थकार के ध्यान मे नही आयी थी। उदय और अस्त के समय ग्रह सूर्य के पास रहते है। उनका दिखाई देने लगना उनकी तेजस्विता पर अवलम्बित है और तेजस्विता उनके न्यूनाधिक उन्नताश के अनुसार न्यूनाधिक होती है। पृथ्वी पर भिन्न-भिन्न स्थानो मे किसी ग्रह का नित्योदय हुए समान काल व्यतीत हुआ हो तो भी उसके उन्नताश भिन्न-भिन्न होगे। १५ उत्तर अक्षाश वाले स्थान मे उसके उन्नताश जितने होगे उनकी अपेक्षा २५ उत्तर अक्षाश वाले स्थान मे कम होगे और तदनुसार तेज भी कम होगा। १५ अक्षांश वाले प्रदेश की अपेक्षा २५ अक्षाश वाले प्रदेश मे उसका उदय बाद मे और अस्त पहिले होगा। सूर्योदय के पूर्व नित्योदय और सूर्यास्त के बाद नित्यास्त होने के काल या कालाश के समान होने पर भी स्थलभेद के अनुसार उन्नताश मे और उसके कारण अस्तोदय मे अन्तर पडेगा, वह बात क्षेत्र बनाकर सिद्ध की जा सकती है पर ग्रन्थ-विस्तार होने के भय से मै यहाँ उसे सिद्ध नही करता ।आगे के वर्णन से वह स्वयं स्पष्ट

योगतारों के भी कुछ उदयास्तों का निरीक्षण किया है । यदि वे दीर्घायु होते तो हमारे ज्योतिषशास्त्र की ज्ञानवृद्धि में उनका बड़ा उपयोग होता ।

हो जायगी। हमारे देश की अपेक्षा इग्लैण्ड मे सन्धिप्रकाश अधिक समय तक रहता है। इस कारण हमारे देश मे किसी दिन यदि शुक्र का नित्योदय सूर्य से ३२ मिनट पूर्व हुआ है (अर्थात् उस दिन उसके कालाश ८ है) तो उस दिन उसका उदय अर्थात् दर्शन होगा, परन्तु इग्लैण्ड मे सूर्य से ३२ मिनट पूर्व शुक्र का उदय होने पर भी उसका दर्शन नही होगा, वह कई दिन बाद दिखाई देगा। शुक्रक्रान्ति उत्तर रहने पर इस देश मे यदि उसका नित्योदय सूर्य से ३२ मिनट पूर्व होता है तो इग्लैण्ड मे उस दिन ३२ से अधिक मिनट पूर्व होगा, अत यदि केवल कालाश का विचार करते है तो ज्ञात होता है कि इग्लैण्ड मे उसका उदय कुछ दिन पूर्व होना चाहिए, पर अनुभव इसके विपरीत होता है। एक ही स्थान मे भी कालाश समान रहने पर दक्षिणोत्तर क्रान्ति के अनुसार उन्नताश न्यूनाधिक होने पर उनमे अधिक अन्तर नही पडेगा। साराश यह है कि स्थान विषुववृत्त से ज्यो-ज्यो उत्तर बढता जाय त्यो-त्यो उदयास्त के कालाशो को भी बढाते जाना चाहिए और उदयास्त के नियमो का निर्माण कालाश द्वारा न करके उन्नताश के आधार पर करना चाहिए।

उन्नताश सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचना और बार्शी (अक्षाश १८।१३) मे किये हुए अपने अनुभव से मुझे निश्चित ज्ञात होता है कि हमारे ग्रन्थो के कालाश हमारे ही देश में निश्चित किये गये है। टालमी के कालाशो को देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि हमारे कालाशो से उनका कोई सम्बन्ध नही है, बल्कि टालमी के विषय मे हम कह सकते है कि उन्होने कालाश स्वकीय अनुभव के आधार पर नही लिखे है और यदि स्वानुभव द्वारा लिखे है तो उनकी ग्रहस्थिति अशुद्ध रही होगी अथवा उनकी पद्धति मे अन्य कोई दोष रहा होगा। १८ अक्षाश वाले प्रदेश मे मगल, बुध और शुक्र के कालाश १६, १२, ८ से कम नही आते अत अलेक्जड्रिया (अक्षाश ३१।१३) मे इनसे अधिक होने चाहिए, पर टालमी ने १४$\frac{१}{२}$, ११$\frac{१}{२}$, ५$\frac{२}{३}$ लिखे है अत वे बहुत अशुद्ध है। स्थल विशेष के सूक्ष्म कालाश या उन्नतांश निश्चित कर लेने पर भी चन्द्रप्रकाश, क्षितिज के पास दिखाई देने वाली रक्तिमा, द्रष्टा की मन्द-सूक्ष्मदृष्टि[१] इत्यादि के कारण उनमें अन्तर पड जाया करता है। मेघ भी प्रतिबंधक हो जाया करते है। इसी लिए हमारे धर्मशास्त्रकारों ने गणितागत उदयास्त दिवस के पश्चात् और पूर्व ग्रहों की बाल-वृद्धावस्था के कुछ दिन छोड देने की व्यवस्था की है जो कि सर्वथा उचित है।

---

१. सूक्ष्मदृष्टि मनुष्य को उदय दिखाई देने के तीन चार-दिन बाद तक भी मन्ददृष्टि को दिखाई नहीं देता, ऐसा अनुभव हुआ है। ग्रह और सूर्य की गति का अन्तर थोड़ा रहने पर उदयास्त में अधिक अशुद्धि होती है।

सम्प्रति सायनपञ्चाङ्ग मे व्यवहृत स्वानुभूत कालाश मैने ऊपर लिख दिये है। गोपाल बल्लाल भिडे का हेदवी (अक्षाश १७।२०) का अनुभव है कि बुध, गुरु और शुक्र के उदयास्त कभी-कभी ११, १० और ७ कालाशो मे भी होते है।

(८) श्रृंगोन्नति

कृष्णपक्ष के उत्तरार्ध और शुक्लपक्ष के पूर्वार्ध मे चन्द्रमा का कुछ ही भाग प्रकाशित दिखाई देता है। इस प्रकाशित भाग की कोरों को श्रृङ्ग कहते है। शुक्लपक्ष मे सूर्यास्त और कृष्णपक्ष मे सूर्योदय के लगभग और उसमे भी विशेषत शुक्ल प्रतिपदा या द्वितीया को चन्द्रमा का दर्शन होता है। उस समय चन्द्रमा का कितना भाग प्रकाशित रहेगा और उसका किस दिशा का श्रृग ऊचा दिखाई देगा, श्रृगोन्नति अधिकार में इसका आनयन किया रहता है। सहितग्रन्थो मे चन्द्रश्रृगोन्नति के आधार पर बहुत सा फल लिखा रहता है। वस्तुत चन्द्रमा सूर्य द्वारा प्रकाशित होता है अतः सूर्य उसके जिस पार्श्व मे रहेगा तदनुसार श्रृङ्ग की उन्नति दिखाई देगी अर्थात् पृथ्वी पर होने वाली शुभाशुभ घटनाओ का उससे कोई सम्बन्ध नही है। परन्तु वास्तविक कारण का ज्ञान होने के पूर्व ऐसी धारणा होना स्वाभाविक है।

(९) ग्रहयुति

ग्रहो के अत्यन्त सान्निध्य को युति या योग कहते है। युति के समय ग्रहो मे पूर्व-पश्चिम अन्तर नही रहना चाहिए पर दक्षिणोत्तर अन्तर रह सकता है। वह उनके शर के अनुसार न्यूनाधिक रहेगा। युतिकाल मे ग्रहो की किरणो का मिश्रण होने पर अथवा दक्षिणोत्तर अन्तर एक अश से कम होने पर उनका युद्ध कहा जाता है। एक अश से अधिक अन्तर रहने पर समागम कहते हैं। ग्रहबिम्बो के केवल स्पर्श को उल्लेख और परस्पर मिल जाने को भेद कहते है। सहिता ग्रन्थो मे भेदादिको के फल विस्तारपूर्वक लिखे रहते है। भेद का लक्षण और उसका गणित हमारे ग्रन्थो मे लिखा है पर इसका पता नहीं लगता कि शुक्र कभी-कभी सूर्यबिम्ब का भेद करता है—यह बात हमारे आचार्य जानते थे या नही।

(१०) भग्रहयुति

इस अधिकार मे नक्षत्र योगतारो और ग्रहों की युति का गणित रहता है इसलिए योगतारो और कुछ अन्य तारो के ध्रुव (भोग) और शर लिखे रहते है। ये भोग अधिकाश ग्रन्थों मे आयन-दृक्कर्मसस्कृत रहते है, अर्थात् तारे से विषुववृत्त पर डाला हुआ लम्ब क्रान्तिवृत्त को जहाँ काटता है, आरम्भ स्थान में उस बिन्दु तक का अन्तर भोग और तारे से उस बिन्दु तक का अन्तर शर माना जाता है। इस शर और भोग को

ध्रुवाभिमुख कहेगे। कुछ ग्रन्थो मे तारे से क्रान्तिवृत्त पर डाले हुए लम्ब को शर और वह क्रान्तिवृत्त को जहाँ काटता है उस बिन्दु से आरम्भस्थान तक के अन्तर को भोग माना है। क्रान्ति-वृत्त के केन्द्र का नाम कदम्ब है अत उस शर और भोग को कदम्बाभिमुख कहेगे। अगले कोष्ठक मे ६ ग्रन्थो के ध्रुवाभिमुख शर-भोग लिखे है। मैने स्वय नक्षत्रो के जो योगतारे निश्चित किये है, उनके भी ध्रुवाभिमुख शर-भोग वही लिखे दिये है। अयनगति के कारण आयन-दृक्कर्म सस्कार मे सर्वदा थोडा-थोडा अन्तर पडता रहता है अत ध्रुवाभिमुख नक्षत्रध्रुव सदा एक सा नही रहता। कोष्ठक में दिये हुए भिन्न-भिन्न ग्रन्थो के नक्षत्रध्रुवो मे जो थोडा-थोडा अन्तर है वह सम्भवत कुछ अश मे इस कारण भी होगा। योगतारो के भिन्नत्व के कारण भी कुछ अन्तर पडा होगा। सूर्यसिद्धान्त, ब्रह्मगुप्तसिद्धान्त और लल्लतन्त्र के ध्रुव उस समय के है जब, अयनाश बहुत थोडे थे। इसके विषय मे भास्कराचार्य ने लिखा है—

इत्यभावेशनाशाना कृतदृक्कर्मका ध्रुवा.।
कथिताश्च स्फुटा बाणा सुखार्थं पूर्वसूरिभि ॥१७॥

सिद्धान्तशिरोमणि, भग्रहयुति

ब्रह्मगुप्त और लल्ल के ग्रन्थो मे अयनगति का उल्लेख नही है और सूर्यसिद्धान्त मे है, परन्तु उसके नक्षत्रध्रुव ब्रह्मगुप्त और लल्ल के ध्रुवो के लगभग समान है अत भास्कराचार्य का कथन तीनो पर लागू होता है। सुन्दरसिद्धान्त की मेरे पास की प्रति बडी अशुद्ध थी। उसके कुछ अको का निश्चय नही हो सका अत वे मैने यहाँ नही लिखे है।

मैंने जो योगतारे माने है उनके सन् १८८७ के आरम्भ के मध्यम विषुवाश और क्रान्तियाँ फ्रेंच कालज्ञानपुस्तक से लेकर उनके द्वारा ध्रुवाभिमुख शर और सायनभोग लाये गये है। उसमे चित्रा का भोग २०१।२६।१६.३ आया। उसे १८० अश मान कर सब तारो के भोगो मे से २१।२६।१६ ३ अयनाश घटा दिये। इस प्रकार लाये हुए भोग कोष्ठक मे मन्मतवाले घर मे लिये है। ये शक १८०९ के है अर्थात् शर भी उसी वर्ष के है। भोग निरयन है अत. कालान्तर मे इनमे बहुत थोड़ा अन्तर पडेगा। म्यूपीशियम तारे को आरम्भस्थान मानना हो तो मन्मतीय भोगो मे से १ अश २० कला और घटा देना चाहिए।

१. मैं शक १८१५ से सायन पञ्चाङ्ग में युतियाँ इन्हीं तारों के आधार पर लिखता हूँ। भिन्न-भिन्न अन्वेषकों के अभिमत योगतारों के यूरोपियन नाम आगे कोष्ठक में लिखे हैं।

सूर्यसिद्धान्त और ब्रह्मगुप्तसिद्धान्तोक्त[1] ध्रुवाभिमुख भोग और शरो द्वारा लाये हुए कदम्बाभिमुख भोग-शर तृतीय और चतुर्थ कोष्ठको मे लिखे है। द्वितीय आर्य-सिन्द्धात के भोग-शर कदम्बाभिमुख ज्ञात होते है अत वे भी वही लिख दिये है। सिद्धान्त सार्वभौम के भोग-शर कदम्बाभिमुख हे, यह उसी मे स्पष्ट लिखा है अत वे भी उसी कोष्ठक मे लिखे है। केतकर के और मेरे कदाम्बाभिमुख भोग-शर फ्रेंच या इगलिश नाटिकल आल्मनाक द्वारा लाये हुए हे। केतकर के और मेरे निरयन भोगो मे अन्तर केवल इतना ही है कि उन्होने जीटापीशियम को आरम्भस्थान माना है और मैंने चित्रा का भोग १८० अश अर्थात् चित्रा के सामने वाले बिन्दु ,को आरम्भस्थान माना है, परन्तु मेरे सात योगतारे केतकर से भिन्न है अत उनके भोगो मे भिन्नता है। मैंने रेवती के भोग मे दो-दो अक लिखे है। उनमे प्रथम जीटापीशियम के और द्वितीय म्यूपीशियम के है। म्यूपीशियम को आरम्भस्थान मानना हो तो मन्मतीय प्रत्येक भोग मे ४३ कला जोड देनी चाहिए।

पञ्चसिद्धान्तिका मे मूल सूर्यसिद्धान्त के नक्षत्रध्रुव नही लिखे है। मालूम होता है, वे मूलग्रन्थ मे नही थे। प्रथम आर्यभट ने नक्षत्रयोगतारो के विषय मे कुछ नही लिखा है। भास्कराचार्य ने ब्रह्मगुप्त के ही भोग और शर लिये है। बेरुनी ने ब्रह्मगुप्त के जो भोग और शर लिखे है उनमे कुछ मेरे लिखे हुए भोग-शरो से भिन्न है। उन्होने उत्तराभाद्रपदा का भोग ३३६, मार्गशीर्ष का शर ५, आश्लेषा का ६ और मूल का ९½ लिखा है। बेरुनी के मूलग्रन्थ मे ही यह त्रुटि रही होगी अथवा बाद के लेखको के प्रमाद से ऐसा हुआ होगा। मैंने भोग-शरो की मूलग्रन्थोक्त आर्याबद्ध और शब्दबद्ध सख्याएँ लिखी है और वे ब्रह्मगुप्त सिद्धान्त तथा खण्डखाद्य दोनो मे ही एक ही है। मैंने ये सख्याएँ दोनो ग्रन्थो की भिन्न-भिन्न चार प्रतियो के आधार पर लिखी है अत इसमे सशय नही है। ब्रह्मगुप्त ने कृत्तिका, रोहिणी, चित्रा, विशाखा, अनुराधा और ज्येष्ठा नक्षत्रो के शर पहिले क्रमश. ५, ५, २, १½, ३ और ४ लिखे है। बेरुनी ने भी अपने ग्रन्थ में इतने ही लिखे है, परन्तु ब्रह्मगुप्त ने बाद मे तुरन्त ही उपर्युक्त शरो मे से कुछ कलाए' घटाने को कहा है, तदनुसार घटाकर मैंने शरो के यथोक्त मान लिखे है पर बेरुनी ने ऐसा नही किया है। मूल का शर ब्रह्मगुप्त ने 'अर्धनवम' लिखा है। बेरुनी ने उसका अर्थ ९½ किया है पर उसका वास्तविक अर्थ ८½ है।

---

१. सूर्यसिद्धान्त के कदम्बाभिमुख भोग और शर उसमें बतलायी हुई रीति से ह्विटने ने निकाले है। मैंने यहाँ वे ही लिखे है और बेंटली द्वारा लाये हुए ब्रह्मसिद्धान्तीय भोग-शर उनके ग्रन्थों से उद्धृत किये है।

नक्षत्रयोगतारों और कुछ अन्य तारों के ध्रुवाभिमुख भोग

	तारा	वर्तमान सूर्यसिद्धान्त		ब्रह्मगुप्त सिद्धान्त		लल्लतन्त्र		दामोदरीय भटतुल्य		सुन्दर सिद्धान्त	ग्रहलाघव	मन्मत	
		अ०	क०	अ०	क०	अ०	क०	अ०	क०	अ०	अ०	अ०	क०
१	अश्विनी	८		८		८		८	३०	८	८	७	४३
२	भरणी	२०		२०		२०		२१	१५	२०	२१	२१	५१
३	कृत्तिका	३७	३०	३७	२८	३६		३७	४५	३८	३८	३६	२
४	रोहिणी	४९	३०	४९	२८	४९		४९		५०	४९	४७	३७
५	मृगशिरा	६३		६३		६२		६२		६३	६२	६१	२६
६	आर्द्रा	६७	२०	६७		७०		६६		६७	६६	७५	४३
७	पुनर्वसु	९३		९३		९२		९२	४५	९३	९४	९१	२१
८	पुष्य	१०६		१०६		१०५		१०६		१०६	१०६	१०५	४३
९	आश्लेषा	१०९		१०८		११४		१०७	१५	१०८	१०६	१०८	२८
१०	मघा	१२९		१२९		१२८		१२९		१२९	१२९	१२६	५९
११	पूफा.	१४४		१४७		१३९	२०	१४८			१४८	१४४	३१
१२	उफा.	१५५		१५५		१५४		१५५	३०	१५५	१५५	१५४	१
१३	हस्त	१७०		१७०		१७३		१७०			१७०	१६५	६
१४	चित्रा	१८०		१८३		१८४	२०	१८३		१८३	१८३	१८०	
१५	स्वाती	१९९		१९९		१९७		१९८	३०	१९९	१९८	१९३	२८
१६	विशाखा	२१३		२१२	५	२१२		२१२	१५	२१२	२१२	२०२	११
१७	अनुराधा	२२४		२२४	५	२२२		२२४	१५		२२४	२१९	८

		वर्तमान सूर्यसिद्धान्त		ब्रह्मगुप्त सिद्धान्त		लल्लतन्त्र		दामोदरीय भटतुल्य		सुन्दर सिद्धान्त	ग्रहलाघव	मन्मत	
		अं०	क०	अ०	क०	अं०	क०	अ०	क०	अ०	अ०	अ०	क०
१८	ज्येष्ठा	२२९		२२९	५	२२८		२२९	३०	२२९	२३०	२२५	५९
१९	मूल	२४१		२४१		२४१		२४२			२४२	२४०	४५
२०	पूषा०	२५४		२५४		२५४		२५५	३०	२५४	२५५	२५३	२३
२१	उषा०	२६०		२६०		२६७	२०	२६०		२६०	२६१	२६३	५
	अभिजित्	२६६	४०	२६५		२६७		२५९	४५		२५८	२५६	१०
२२	श्रवण	२८०		२७८		२८३	१०	२७५	१५	२७८	२७५	२७२	५८
२३	धनिष्ठा	२९०		२९०		२९६	२०	२८७	३०	२९०	२८६	२८४	४७
२४	शत०	३२०		३२०		३१३	२०	३२०		३२०	३२०	३१८	४३
२५	पू.भा	३२६		३२६		३२७		३२५		३२६	३२५	३२२	३
२६	उ.भा	३३७		३३७		३३५	२०	३३७		३३७	३३७	३४०	३५
२७	रेवती	३५९	५०	०		३५९	०	०		०	०	३५९ }	५७/२० }
	अगस्त्य	९०		८७		८७				८७	८०		
	व्याध	८०		८६		८६				८६	८१		
	अग्नि	५२								५२	५३		
	ब्रह्मा	५२								५७	५५		
	प्रजापति	५७								५७	६१		
	अपावत्स	१८०									१८३		
	आप·	१८०											

नक्षत्र-योगतारों तथा कुछ अन्य तारों के ध्रुवाभिमुख शर—

	तारा	वर्तमान सूर्यसिद्धान्त		ब्रह्मगुप्त सिद्धान्त		लल्ल तंत्र		भटतुल्य दामोदरीय		सुंदर सिद्धा	हलाघव	मन्मत		शर-दिशा
		अ	क	अ	क.	अ	क.	अ.	क	अ	क	अ	क.	
१	अश्विनी	१०		१०		१०		१०		१०	१०	९	५	उ
२	भरणी	१२		१२		१२		१२	१५	१२	१२	१०	५७	उ
३	कृत्तिका	५		४	३१	५		४	३०	५	५	४	९	उ
४	रोहिणी	५		४	३३	५		४	३०	४॥	५	५	३२	द
५	मृग	१०		१०		१०		१०		१०	१०	१३	२४	द
६	आर्द्रा	९		११		११		११		११	११	६	४६	द
७	पुनर्वसु	६		६		६		६		६	६	६	४६	उ
८	पुष्य	०		०		०		०		०	०	०	५	उ
९	आश्लेषा	७		७		७		७		७	७	११	२४	द
१०	मघा	०		०		०		०		०	०	०	२९	उ
११	पूफा	१२		१२		१२		११	४५		१२	१०	३१	उ
१२	उफा	१३		१३		१३		१२	४५		१३	१३	२४	उ
१३	हस्त	११		११		८		११		११	११	१३	१७	द
१४	चित्रा	२		१	४५	२		१	४५	१॥।	२	२	१२	द
१५	स्वाती	३७		३७		३७		३७	१५		३७	३२	५६	उ
१६	विशाखा	१	३०	१	२३	१	३०	१	१५		१	०	२२	द
१७	अनुराधा	३	०	१	४४	३		१	४५		२	२	१	द
१८	ज्येष्ठा	४		३	३०	४		३	३०		३	४	३७	द
१९	मूल	९		८	०	८	३०	८	३०		८	१३	४८	द
२०	पू. षा.	५	३०	५	२०	५	२०	५	३०		५	२	७	द
२१	उषा.	५		५		५		५			५द	१	२०	उ
	अभि०	६०		६२		६३		६२		६२	६२	६१	५५	उ
२२	श्रवण	३०		३०		३०		२९	३०	३०	३०	२९	४९	उ
२३	धनिष्ठा	३६		३६		३६		२५	३०	३६	३६	३४	१५	उ
२४	शत०	०	३०	०	१८	०	२०	०	१५	[illegible]	०	०	२५	द
२५	पूभा.	२४		२४		२४		२३	४५		२४	२१	६	उ
२६	उभा.	२६		२६		२६		२६			२७	१३	४५	उ
२७	रेवती	०		०		०		०			०	[illegible]	१४ १८ }	} द
	अगस्त्य	८०		७७		८०				७७	७६			द
	व्याध	४०		४०		४०				४०	४०			द
	अग्नि	८								८	८			उ
	ब्रह्मा	३०								३०	३०			उ
	प्रजापति	३८								३८	३९			उ
	अपावत्स	३									३			उ
	आप	९												उ

नक्षत्र-योगतारों के कदम्बाभिमुख भोग

	तारे	सूर्य सिद्धान्त		ब्रह्मगुप्त सिद्धान्त		द्वितीय आर्य०		सार्वभौम सिद्धान्त		वे० बा० केतकर		मन्मत	
		अ	क	अ	क	अ	क	अ	क	अ.	क.	अ.	क.
१	अश्विनी	११	५९	१२	५	१२	०	१२	४०	१४	६	१०	८
२	भरणी	२४	३५	२४	४१	२४	२३	२५	८	२८	२०	२४	२२
३	कृत्तिका	३९	८	३८	५८	३८	३३	३९	२	४०	७	३६	९
४	रोहिणी	४८	९	४८	११	४७	३३	४८	९	४९	५५	४५	५७
५	मृग	६१	३	६१	०	६१	३	६१	१	६३	५०	५९	५१
६	आर्द्रा	६५	५०	६५	५	६८	२३	६५	८	६८	५३	७५	१६
७	पुनर्वसु	९२	५२	९२	५२	९२	५३	९२	५३	९३	२२	८९	२४
८	पुष्य	१०६	०	१०६	०	१०६	०	१०६	०	१०८	५१	१०४	५३
९	आश्लेषा	१०९	५९	१०८	५८	१११	०	१०८	५६	११३	४६	११०	४४
१०	मघा	१२९	०	१२९	०	१२९	०	१२९	०	१२९	५८	१२६	०
११	पूफा	१३९	५८	१४२	४५	१४०	२३	१४२	४८	१४३	३२	१३९	३४
१२	उफा	१५०	१०	१५०	४	१५०	२३	१४९	४०	१५१	४५	१४७	४७
१३	हस्त	१७४	२२	१७४	२८	१७४	३	१७५	१३	१७३	३५	१६९	३७
१४	चित्रा	१८०	४८	१८३	४९	१८२	५३	१८३	५०	१८३	५८	१८०	०
१५	स्वाती	१८३	२	१८२	४१	१८४	०	१८२	२४	१८४	२२	१८०	२४
१६	विशाखा	२१३	३५	२१२	३४	२१२	५३	२१२	३६	२११	८	२०१	१४
१७	अनुराधा	२२४	५४	२२३	३३	२२४	५३	२२४	३८	२२२	४२	२१८	४४
१८	ज्येष्ठा	२३०	७	२३०	४	२३०	३	२३०	५	२२९	५४	२२५	५६
१९	मूल	२४२	५२	२४२	४८	२४२	४४	२४२	१६	२४३	०	२४०	४४
२०	पूषा	२५४	३९	२५४	०	२५४	३३	२५४	३४	२५४	४२	२५२	२८
२१	उषा.	२६०	२३	२५९	३७	२६०	२३	२६०	२१	२६२	४७	२६२	२४
	अभि	२६४	१०	२६०	४६	२६३	०	२६२	१०	२६५	२६	२६१	२८
२२	श्रवण	२८२	२९	२८०	३	२८०	३	२८०	३	२८१	५३	२७७	५५
२३	धनिष्ठा	२९६	५	२९६	१५	२९५	३३	२९४	१२	२९७	३१	२९३	३३
२४	शत	३१९	५०	३१९	५४	३१९	५३	३१९	५४	३२१	४२	३१७	४४
२५	पूभा.	३३४	२५	३३४	४६	३३४	५३	३३६	८	३३४	४०	३३०	४२
२६	उभा.	३४७	१६	३४७	२९	३४७	०	३४८	४४	३५४	२६	३४५	१९
२७	रेवती	३५९	५०	०	०	०	०	३५९	५०	०	०	३५६	२
												३५९	१७

नक्षत्र-योगतारों के कदम्बाभिमुख शर

	तारे	शरदिशा	सूर्य सिद्धान्त		ब्रह्मगुप्त सिद्धान्त		द्वितीय आर्य सिद्धान्त		सार्वभौम सिद्धान्त		वे० बा० केतकर		मन्मत	
			अ.	क.	अ.	क.	अ	क.	अं	क.	अ.	क.	अ.	क.
१	अश्विनी	उ	९	११	९	८	१०	०	१०	५५	८	२९	८	२९
२	भरणी	उ	११	६	११	११	१२	०	१२	५६	१०	२६	१०	२६
३	कृत्तिका	उ	४	४४	४	१५	५	०	४	४४	४	२	४	२
४	रोहिणी	द	४	४९	४	२८	५	०	४	४०	५	२८	५	२८
५	मृग	द	९	४९	९	४८	१०	०	१०	१३	१३	२३	१३	२३
६	आर्द्रा	द	८	५३	१०	५०	११	०	११	७	१६	३	६	४५
७	पुनर्वसु	उ	६	०	६	०	६	०	६	०	६	४०	६	४०
८	पुष्य	उ	०	०	०	०	०	०	०	०	०	४	०	४
९	आश्लेषा	द	६	५६	६	५६	७	०	७	४	५	५	१०	५९
१०	मघा	उ	०	०	०	०	०	०	०	०	०	२८	०	२८
११	पूफा.	उ	११	१९	११	१४	१२	०	१२	४२	९	४२	९	४२
१२	उफा.	उ	१२	५	१२	२	१३	०	१३	५५	१२	१६	१२	१६
१३	हस्त	द	१०	६	१०	४	१०	०	१२	४	१२	११	१२	११
१४	चित्रा	द	१	५०	१	५०	२	०	१	५२	२	३	२	३
१५	स्वाती	उ	३३	५०	३३	४१	३७	०	४१	५	३०	४९	३०	४९
१६	विशाखा	द	१	२५	१	१८	१	३०	१	२५	१	४८		
१७	अनुराधा	द	२	५२	१	३९	३	०	१	५०	१	५८	१	५८
१८	ज्येष्ठा	द	३	५०	३	२२	४	०	३	३७	४	३३	४	३३
१९	मूल	द	८	४८	८	१९	९	०	८	४०	६	३६		
२०	पूषा	द	५	२८	५	१८	५	२०	५	२२	६	२७	२	७
२१	उषा.	द	४	५९	४	५९	५	०	५	१	३	२७	उ१	२७
	अभि.	उ	५९	५८	६१	५६	६३	०	६२	१४	६१	४४	६१	४४
२२	श्रवण	उ	२९	५४	२९	५६	३०	०	३०	५	२९	१८	२९	१८
२३	धनिष्ठा	उ	३५	३३	३५	३२	३०	०	२६	२५	३३	२	३३	२
२४	शत	द	०	२८	०	१७	०	२०	०	२०	०	२३	०	२३
२५	पूभा.	उ	२२	३०	२२	२६	२४	०	२६	३	१९	२३	१९	२३
२६	उभा.	उ	२४	१	२३	५६	२६	०	२८	२८	२५	४१	१२	३६
२७	रेवती	द	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१३	०	१३ }
													३	४ }

ऊपर जो ध्रुव दिये गये हैं वे वर्तमान सूर्य सिद्धान्त के है। उसमे आर्द्रा के ध्रुव के विषय मे मतभेद है। सूर्यसिद्धान्त टीकाकार रङ्गनाथ के लेख से ऐसा मालूम होता है कि आर्द्रभोग नार्मद मत ७३।४७ और पर्वत मत से ७३।१० है। रङ्गनाथ का यह भी कहना है कि सर्वजनाभिमत ध्रुव ७४।५० है। परन्तु रङ्गनाथ ने शाकल्य-सहितोक्त आर्द्राध्रुव ६७।२० को ही ठीक मानकर उसी को ग्रहण किया है।[1] सिद्धान्त-तत्वविवेककार कमलाकर ने सब भोग-शर सूर्यसिद्धान्त से लिये है। परन्तु उनमें आर्द्रा भोग ७४।५० दिया है। वर्तमान रोमश, सोम और शाकल्योक्त ब्रह्मसिद्धान्त सूर्यसिद्धान्त के अनुयायी है। इसलिए सूर्यसिद्धान्त के भोग-शर इनमे भी दिये हुए हैं। परन्तु इनमे भी आर्द्रा के विषम मे मतभेद है। शाकल्योक्त ब्रह्मसिद्धान्त के भोग-शर पूर्ण रूप से उपर्युक्त सूर्यसिद्धान्त के समान है। सोमसिद्धान्त मे आर्द्रभोग ७४।५० है। शेष सब भोग और शर सूर्यसिद्धान्त के समान है। रोमश सिद्धान्त की दो प्रतियो को मैंने मिलाकर देखा तो कुछ ध्रुवो मे अन्तर दिखाई दिया, परन्तु यह भेद लेखको के प्रमाद से होना सम्भव है। साराश रोमश-सिद्धान्त के भोग-शर सूर्यसिद्धान्तानुसारी है, यह कहने मे कोई आपत्ति नही है।

सूर्यसिद्धान्त मे नक्षत्र-योगतारो के भोग-शर ९ श्लोको मे (अधिकार ८) देने के बाद अगले तीन श्लोको मे अगस्त्य, व्याध, अग्नि और ब्रह्मा के भोग-शर बतलाये है। इसके बाद तुरन्त प्रजापति, अपावत्स, आप. इनके भोग-शर न देकर बीच ही में सात श्लोकों में विषयान्तर कर अन्त मे २०-२१ श्लोको में प्रजापति इत्यादि तीन तारो के भोग-शर दिये है। इससे यह अनुमान होता है कि ये दो श्लोक प्रक्षिप्त होगे। नवम अध्याय मे अमुक तारा कभी अस्त नही होता, ऐसा लिखा है। उसमे ब्रह्महृदय तारे का उल्लेख है। इन तारो मे प्रजापति का परिगणन आवश्यक था, क्योकि ब्रह्महृदय से प्रजापति का शर ८ अंश उत्तर है, अतएव यह अनुमान होता है कि ये श्लोक प्रक्षिप्त है। तथापि इन तारो मे अपावत्स तारे का उल्लेख बृहत्संहिता मे भी है।[2] इससे यह सिद्ध होता है कि इन तीनो तारो का ज्ञान शक ४२७ मे भी वर्तमान था। प्रो०

---

१. वर्तमान सूर्य, रोमश, शाकल्य, ब्रह्म, सोम सिद्धान्तों में जो नक्षत्रध्रुव दिये हैं वे उस नक्षत्र प्रवेश के आरम्भ से उस तारे तक जितनी कलाएँ होती है उनके दशांश के रूप में दिये हुए हैं। सूर्यसिद्धान्त में आर्द्रभोग "अब्धयः (४)" इस शब्द से सूचित किया है। इस स्थान पर "गोब्धयः ४६", "गोग्नयः ३६" ऐसे भी पाठभेद मिलते है।

२. सममुत्तरेण तारा चित्रायाः कीर्त्यते ह्यापांवत्सः।

बृहत्संहिता, अध्याय २५, पद्य ५

व्हिटने का कहना है कि प्रजापति, अपावत्स और आप. शाकल्योक्त ब्रह्म० मे नही दिये है,[1] परन्तु यह उनकी भूल है। शाकल्य-ब्रह्म, रोमश और सोम इन तीनो सिद्धान्तो मे उनका उल्लेख है। ग्रहलाघव मे इनमे से केवल 'आप' का उल्लेख नही है। शाकल्य-ब्रह्मसिद्धान्त मे सप्तर्षि के शर-भोग दिये हुए है। वे और किसी दूसरे सिद्धान्त मे नही है। यन्त्रराज नामक ग्रन्थ मे १२ तारो के सायन भोग-शर दिये हुए है, सिद्धान्त राज ग्रन्थ मे ८४ तारो के भोग-शर दिये गये है।

नक्षत्र-तारासंख्या

कुछ नक्षत्रो मे एक ही तारा है। किन्ही मे एक से अधिक होते है। अनेक तारो मे योगतारा किस दिशा मे है, यह सूर्यादि चार सिद्धान्तों मे लिखा हुआ है। इस विषय मे चारो मे प्रायः मतभेद नही है। परन्तु इससे योगतारे के विषय मे सम्यक् बोध नही होता। शाकल्य-ब्रह्मसिद्धान्त मे किस नक्षत्र मे कितने तारे है, यह बतलाया है, दूसरों मे नही। तारो की सख्या न देकर केवल दिशा बतलाने से योगतारे का ठीक-ठीक बोध होना कठिन है। शाकल्य-ब्रह्मसिद्धान्त को छोडकर केवल खण्डखाद्य में नक्षत्र-योगतारो की सख्या दी है। कुछ सहिताग्रथो मे भी वह मिलती है। नक्षत्र के तारो के विषय मे मतभेद है। अगले पृष्ठो मे दिये हुए अलग-अलग ग्रन्थो के आधार पर तारासख्याए' दी है। अगले पृष्ठो मे दिये हुए कोष्ठक के प्रथम स्तम्भ मे तैत्तिरीय श्रुति से निश्चय रूप से ज्ञात होने वाली सख्या दी हुई है। नक्षत्रकल्प[2] अथर्ववेद का परिशिष्ट है। श्रीपति कृत रत्नमाला के टीकाकार माधव ने जो लल्लोक्त नक्षत्र-सख्याएँ दी है, वही मैंने लिखी है। वे सम्भवतः रत्नकोश से ली गयी है।

नक्षत्र-तारा सख्याओ के विषय मे मतभेद होने पर भी आकाश मे इष्ट नक्षत्र-पुन्ज कौन-कौन है, इसमे मतभेद नही है, यह बात सब दृष्टियों से विचार करने पर स्पष्ट हो जाती है। शतभिषक् शब्द से इस नक्षत्र मे १०० तारे होगे, यह भ्रम होने के कारण इस नक्षत्र का नाम शततारा रख लिया गया होगा। परन्तु यह भूल वराहमिहिर के

---

१. बर्जेस कृत सूर्यसिद्धान्त का अनुवाद, पृष्ठ २१८

२. नक्षत्रकल्प और बृहत् गर्गसंहिता आज तक मैंने नहीं देखी है। Indian Antiquary, Vol XIV, pp 43-45 में थीबो द्वारा लिखे हुए लेख के आधार पर मैंने ये संख्याएँ दी है। प्रो० थीबो ने बृहत् गर्गसंहिता और खण्डखाद्य के मूल वचन उद्धृत किये है। उनमें रेवती और अश्विनी के सम्बन्ध में जो भूल हुई है उसे मैंने शुद्ध कर दिया है।

समय से ही है। इसी प्रकार रेवती तारे का शर सब मतो मे शून्य है, भोग भी शून्य के लगभग है, इसलिए रेवती योगतारे के विषय मे मतभेद नही है। उसके आसपास मृदङ्गाकार मे अनेक तारे हैं। उनकी सख्या ३२ ही मानी गयी है। इन्हे ३२ ही क्यो माना गया, यह स्पष्ट नही हुआ। परन्तु यह भूल भी वराह के समय से है। शेष सब नक्षत्रो को ध्यानपूर्वक देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक नक्षत्र की मानी हुई सख्या का कुछ न कुछ आधार अवश्य है। अतएव सब की सख्याएँ सयुक्तिक मालूम पडती हैं।

अनुक्रमांक	नक्षत्र नाम	तैत्तिरीयश्रुति	नक्षत्रकल्प	वृद्धगार्गीय संहिता	नारद संहिता	वराहमिहिर	खण्डखाद्यक	लल्लकृतरत्नकोश	शाकल्यब्रह्मसिद्धान्त	श्रीपतिकृतरत्नमाला	मुहूर्ततत्व	मुहूर्तचिन्तामणि
१	अश्विनी	२	२	२	३	३	२	३	२	३	३	३
२	भरणी		३		३	३	३	३	३	३	३	३
३	कृत्तिका	७	६	३	६	६	६	६	६	६	६	६
४	रोहिणी	१		६	५	५	५	५	५	५	५	५
५	मृग		३	५	३	३	३	३	३	३	३	३
६	आर्द्रा १ या	२	१	३	१	१	१	१	१	१	१	१
७	पुनर्वसु	२	२	२१	४	५	२	४	२	४	४	४
८	पुष्य	१	१	१	३	३	१	३	३	३	३	३
९	आश्लेषा		६	६	५	५	६	५	५	५	५	५
१०	मघा		६	६	५	५	६	५	५	५	५	५
११	पूर्वाफाल्गुनी	२	२	२	२	८	२	२	२	२	२	२
१२	उत्तराफाल्गुनी	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२
१३	हस्त		५	५	५	५	५	५	५	५	५	५
१४	चित्रा	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१
१५	स्वाती	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१
१६	विशाखा	२	२	२	२	५	२	४	२	४	४	४
१७	अनुराधा		४	४	४	४	४	३	३	४	४	४
१८	ज्येष्ठा	१		३	३	३	३	३	३	३	३	३
१९	मूल १ या	२		६	११	११	२	११	९	११	११	११
२०	पूर्वाषाढा		४	४	४	२	४	२	४	४	४	२
२१	उत्तराषाढा		४	४	२	८	४	२	४	४	३	२
	अभिजित्	१		३			३	३	३	३	३	३
२२	श्रवण	१	३	३		३	३	३	३	३	३	३
२३	धनिष्ठा	४	५	४		५	५	४	५	४	४	४
२४	शतभिषक्	१	१	१	१००	१००	१	१००	१००	१००	१००	१००
२५	पूर्वाभाद्रपदा		२	२	२	२	२	२	२	२	२	२
२६	उत्तराभाद्रपदा	४	२	२	२	८	२	२	२	२	२	२
२७	रेवती	१	१	४	३२	३२	१	३२	३२	३२	३२	३२

योगतारा

गत दो-तीन शताब्दियो की अवधि मे कई यूरोपियन ज्योतिषियो ने आँख से साधारणत. दीखने वाले तारो की तालिकाएँ बनायी हैं। उन्होने तारो का नाम करण भी किया है और उनके विषुवाश और क्रान्तियो का सूक्ष्मत निश्चय किया है। इनमे हमारे नक्षत्रों के योगतारे कौन से है, इस विषय मे भिन्न-भिन्न शोधको के मत सलग्न कोष्ठक मे दिये गये है।

नक्षत्र-योगतारा

क्रमांक	तारा	कोलब्रुक	बेटली,केरोपन्त	ह्विटने, बर्जेस	बापूदेव	वे० बा०केतकर	मन्मतीय
१	अश्विनी	आल्फा एरैटिस	बीटा एरैटि	बीटा एरै०	आल्फा एरै०	बीटा एरै०	बीटा एरैटि
२	भरणी	म्यूया ३५ ऐरैटिस	३५ एरैटिस	३५ एरै	३५ एरै	४१ एरै	४१ एरैटिस
३	कृत्तिका	ईटाटारी	ईटाटारी	ईटाटारी	ईटाटारी	ईटाटारी	ईटाटारी
४	रोहिणी	आल्डिवरान	आल्डिब०	आल्डि०	आल्डि०	आल्डिव०	आल्डिवरान
५	मृग	लाबडा ओरायन	११६ टारि०	लाबडा ओरा	लाब० ओरा	लाब० ओरा०	लाब० ओराय०
६	आर्द्रा	आल्फा ओरायन	१३३ टारि	आल्फा ओरा	आल्फा ओरा	आल्फा ओ	गामा जेमिनि
७	पुनर्वसु	पोलक्स	पोलक्स	पोलक्स	पोलक्स	पोलक्स	पोलक्स
८	पुष्य	डेल्टाकाक्री	डे० काक्री	डे० काकी	डे० काकी	डे० काकी	डे० काकी
९	आश्लेषा	आल्फा काकी	४९ काक्री	एपसिलान हैड्री	आ० काक्री	आल्फा का०	जीटा हैड्रा०
१०	मघा	रेग्युलस	रेग्युलस	रेग्युलस	रेग्युलस	रेग्युलस	रेग्युलस
११	पूर्वाफा०	डेल्टालिवानिस	थीटालिआनिस	डेल्टालिओनिस	डेल्टालिआ	थीटालिआ	थीटालिआनिस
१२	उत्तराफा०	डेनिबोला	डेनिबोला	डेनिबोला	डेनि०	डेनिबोला	डेनिबोला
१३	हस्त	गामा या डेल्टा कार्व्हि	डेल्टा कार्व्हि	डेल्टा कार्व्हि	गामा या डे० कार्व्हि	डेल्टा कार्व्हि	डेल्टा कार्व्हि
१४	चित्रा	स्पायका	स्पायका	स्पाय०	स्पायका	स्पायका	स्पायका
१५	स्वाती	स्आर्कट्यूरस	आर्कट्यूरस	आर्कट्यू०	आर्कट्यू०	आर्कट्यरस	आर्कट्यूरस

क्रमांक	तारा	कोलब्रुक	बेटली, केरोपन्त	ह्विटने बर्जेस	बापूदेव	वे० बा० केतकर	मन्मतीय
१६	विशाखा	आल्फा या कपा लिब्रा	२४ लिब्रा	२४ लिब्रा	आल्फा या कपा लिब्रा	२४ लिब्रा	आल्फा लिब्रा
१७	अनुराधा	डेल्टा स्कार्पिआन	वीटास्कार्पि	डेल्टा स्कार्पि	डेल्टा स्कार्पि	डे० स्कार्पि	डेल्टा स्कार्पि
१८	ज्येष्ठा	अण्टारिस	अण्टारिस	अण्टारि	अण्टारिस	अण्टारिस	अण्टारिस
१९	मूल	न्यूस्कार्पि या ३४ स्कार्पि	३४ स्कार्पि	लाबडा स्का०	३४ स्कार्पि	४५ ओफि०	लाबडा स्कार्पि०
२०	पूर्वाषाढा	डेल्टासाजिटेरिअस	डे०साजि	डे०साजि	डे० साजि	डेल्टा साजि०	लाबडा साजिटे०
२१	उत्तराषा०	टोसाजिटेरि	फै० साजि	सिग्मासाजि	टो० साजि	सिग्मासाजि०	पाय साजि०
	अभिजित्	ह्वीगा	ह्वीगा	ह्वीगा	ह्वीगा	ह्वीगा०	ह्वीगा०
२२	श्रवण	आल्टेर	आल्टेर	आल्टेर	आल्टेर	आल्टेर	आल्टेर
२३	धनिष्ठा	आल्फा डे०	आल्फा डे०	बीटा डेल्फि०	आल्फा डे०	आल्फा डे०	आल्फा डे०
२४	शतभिषक्	लाबडाआक्वे-रिअस	लाब० आक्वे०	लाब० आक्वे०	लाब आक्वे०	लाब० आक्वे०	लाब० आक्वे०
२५	पूर्वाभाद्रप०	मार्का ब०	मार्का ब०	मार्का० ब०	मार्का ब०	मार्का ब०	मार्का ब०
२६	उत्तराभा०	आल्फेराट	आल्जेनिब आल्फेराट	आल्जेनिब आल्फेराट	आल्फेरा०	आल्फेरा०	आल्जेनिब
७२	रेवती	जीटापीशियम	जीटापीशि	जीटापीशि	जी० पी०	जी० पी०	जीटा या म्यू पीशि०

हमारी नक्षत्र पद्धति तथा अरब लोगो की नक्षत्र पद्धति की तुलना और हमारे योगतारो के यूरोपियन पद्धति के अनुसार नाम और स्थान कौन से है, इस विषय मे विस्तारपूर्वक विचार कोलब्रुक ने किया है। इसके पहिले विलियम जोन्स ने (ई० स० १७९० मे) भी विचार किया था परन्तु वह अपूर्ण ही रहा। कोलब्रुक का निबन्ध Asiatic Researches, Vol. IX 1807 A D. मे प्रकाशित हुआ है। इसी के आधार पर मैंने कोलब्रूक के द्वारा सम्मत तारों के नाम ऊपर के कोष्ठक मे दिये है। बेंटली कृत A Historical View of Indian Astronomy नामक पुस्तक ई० स० १८२३ मे कलकत्ते मे प्रकाशित हुई थी। इसमे उसने ब्रह्मगुप्तोक्त शर-भोगो द्वारा तारो का विचार किया है। इसी पर से ऊपर वाले कोष्ठक मे उसके द्वारा सम्मत योगतारो के नाम दिये है। इनमे उत्तराभाद्रपदा का तारा केवल अल्जेनिब उसने दिया है। केरोपन्त ने इसको स्वीकार न कर आल्फेराट का परिगणन किया है। इसके अतिरिक्त केरोपन्त ने सब तारे बेण्टली के अनुसार दिये है।[1] इनके अतिरिक्त बेण्टली ने जो विकल्पात्मक दूसरे तारो के नाम लिखे है वे इस प्रकार है—अश्विनी गामा एरिस, मृग ११३, ११७ टारी, आश्लेषा ५० कान्क्री, पूर्वाफाल्गुनी ७१ लिओ, हस्त ८ कार्वी, मूल ३५ स्कार्पिओ। ह्विटने ने इस विषय पर विस्तारपूर्वक विचार किया है।[2] और योगतारो को बहुत विवेक-पूर्वक निश्चय किया है। बापूदेव शास्त्री ने अपने सूर्यसिद्धान्त के अंग्रेजी अनुवाद मे योगतारो के नाम दिये है।[3] ये सब कोलब्रुक के अनुसार ही है। परन्तु अपने पञ्चाङ्ग मे ७ तारो मे उन्होने भेद किया है। अश्विनी, आश्लेषा, विशाखा, मूल, उत्तराषाढा, धनिष्ठा, उत्तराभाद्रपदा इनके पहिले तारे को छोडकर उनके स्थान पर बीटा एरैटिस, एपसिलान हैड्री, २४ (आयोटा) लिब्रा, लांबा स्कार्पि, सिग्मा साजिटेरी, बीटा डेल्फिनी, गामा पिगासी ये तारे लिये है। यह सब परिवर्तन ह्विटने के मतानुसार है, यह स्पष्ट है। वेंकटेश बापूजी केतकर ने अपने मतानुसार जो तारे मुझे विदित किये उनका भी सन्निवेश मैंने ऊपर के कोष्ठक में कर दिया है। कोलब्रुक इत्यादि के माने हुए योगतारो के शर-भोग हमारे ग्रन्थो में दिये हुए शर-भोगो से कहाँ तक मिलते है इस पर उन्होने विशेष ध्यान दिया है, परन्तु मैंने इस बात के अतिरिक्त इस बात

१. ग्रहसाधनकोष्ठक पृष्ठ ३२४-५

२. सूर्यसिद्धान्त, अनुवाद पृष्ठ १७५-२२०

३. Bibliothica Indica New Series 1860 A. D. इसमें भरणी क लिए मस्का कहा है, परन्तु अपने पञ्चाङ्ग में वे ३५ एरैटिस लेते है अतएव मैंने कोष्ठक मे वही दी है।

पर भी ध्यान दिया है कि योगतारो मे १३ अ० २० कला या लगभग उतना अन्तर अवश्य रहना चाहिये। आर्द्रा नक्षत्र का तारा मृगपुञ्ज मे मानना ठीक नही है।

आर्द्रया रुद्रः पथमान एति।

तै० ब्रा० ३-१-१

इस वाक्य का, आर्द्रा के साथ रुद्र आता है, यह अर्थ है। व्याध तारा ही रुद्र है । जो आर्द्रा मैने माना है वह व्याध के पहिले केवल ९ मिनिट मध्याह्न मे आती है। इसके सिवाय व्याध के पास दूसरा कोई तेजस्वी तारा इस प्रदेश मे नही दिखाई देता ।

ऊपर के कोष्ठक से स्पष्ट है कि कृत्तिका, रोहिणी, पुनर्वसु, पुष्य, मघा, उत्तरा, फाल्गुनी, चित्रा, स्वाती, ज्येष्ठा, अभिजित्, श्रवण, शतभिषक्, पूर्वभाद्रपदा, रेवती इन १४ तारो के विषय मे सबका एक मत है। इनके अतिरिक्त शेष नक्षत्रो के विषय मे मतभेद है। इनमे कौन-सा मत ठीक है, यह निश्चय करना व्यर्थ है, क्योकि हमारे ग्रन्थो मे जो शर-भोग दिये है वे ऊपर वाले कोष्ठक मे दिये हुए किसी तारे से अशत या पूर्णत. नही मिलते। वे शर-भोग सूक्ष्म रीति से नही निकाले गये है इसलिये नही मिलते तो इसमे आश्चर्य नही होना चाहिये । इसके अतिरिक्त वे किस काल से सम्बन्धित है, यह भी मालूम नही है । यह भी निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता कि प्राचीन काल के शर-भोगो को निकालने की जो पद्धति अपनायी गयी है वह भी सूक्ष्म है या नही, इसलिये उनका न मिलना ठीक ही है। वास्तव मे वे मिलते भी नही हैं। इसलिए जिन तारो के साथ वे प्राय. मिल जाते है उन्ही को योगतारा समझना चाहिए। यदि किसी नक्षत्र मे २—३ तारे है और उनमे से एक तारे का शर प्राय मिल जाता है तो भोग नही मिलता, यदि दूसरे तारे का भोग मिलता है तो शर नही मिलता, इसीलिए किसी ने शर मिलाने की ओर अधिक ध्यान दिया है और किसी ने भोग की ओर। किसी ने केवल दिशा की ही ओर ध्यान दिया है। अतएव प्रत्येक के मत का आधार तो अवश्य ही है। अमुक नक्षत्र को वर्तमान समय मे अमुक पुञ्ज कहते है, उदाहरणार्थ भरणी नक्षत्र मस्का ही है; यह निश्चित हो जाने पर भी उसका योगतारा कौन-सा है इस विषय में मतभेद होना स्वाभाविक है। परन्तु यदि कोई उस पुञ्ज के बाहर के किसी तारे को योगतारा मान ले और इसके लिए कोई आधार न हो तो इसे अवश्य ही भूल समझना चाहिए । उदाहरणार्थ मृग और उसका शीर्ष मिलकर जो तारापुञ्ज दीखता है या माना जाता है , उसके शीर्ष मे जो तीन तारे है उनमे एक को योगतारा मानना उचित है, परन्तु केरोपन्त ने उनसे बाहर किसी तारे को माना है, यह उनकी भूल है। मूल नक्षत्र की आकृति

सब ग्रन्थों में सिंहपुच्छ के समान मानी है। केतकर का योग तारा उसके बाहर का है अत वह ठीक नही। केरोपन्त के ग्रहसाधन मे मूल की क्रान्ति ३७ अश के स्थान पर भूल से २७ अश लिख गयी है इसी से यह भूल हो गयी है। जो हो, प्रत्येक का मत ठीक ही है।

तारा-स्थिति-पत्रक

तारो के वेध लेकर उनके भोग-शरो के पत्रक (क्याटेलाग) यूरोप मे प्रथम हिपार्कस (ई० स० पू० १५०) ने तैयार किये। वे इस समय उपलब्ध नही हैं। परन्तु ई० स० १३८ मे टालमी ने केवल अयन गति का सस्कार देकर उन्हें फिर से तैयार किया। वे उसके सिटाक्सिस नामक ग्रथ मे उपलब्ध हैं। इस पत्रक मे १०२२ तारे हैं, उनको ४८ भागो मे बाँटा है। इसके पश्चात् दूसरा पत्रक तैमूर लंग के पौत्र उलूगबेग ने, जो समरकन्द का बादशाह था, ईसवी सन् १४३७ मे बनाया। इसमे १०१९ तारे हैं। इसके बाद का पत्रक टाइको ब्राहे का ई० स० १६०० का है जिसमे ७७७ तारे है। इसके बाद यूरोप मे बहुत से पत्रक बने है जो इनसे सूक्ष्म है। हमारे देश मे किसी ने वेध लेकर पत्रक बनाये हो ऐसा मालूम नही पडता। महेन्द्र सूरि के यन्त्रराज ग्रन्थ मे ३२ तारो के ध्रुवक और शर यवनागम से लेकर लिखे हुए हैं। इस ग्रन्थ के टीकाकार मलयेन्दु सूरि कहते हैं—

शकमतेन नक्षत्रगोले नक्षत्राणा द्वाविशत्यधिकसहस्रम् १०२२ उक्तमस्ति । तन्मध्ये ग्रन्थकारेण नक्षत्रगोल सम्यग् बुद्ध्वा यन्त्रोपयोगीनिद्वा विशति नक्षत्राणि गृहीतानि।
अध्याय १ श्लोक २१-३८ टीका

इसमे लिखे हुए नक्षत्रपत्रक की १०२२ नक्षत्र-सख्या के कारण और ग्रन्थकार तथा टीकाकार के कालनिर्णय से यह मालूम होता है कि वह टालमी का है। इससे यह मालूम होता है कि वह मुसलमानो के द्वारा इस देश मे लाया गया परन्तु आगे जाकर किसी ने उसका उपयोग नही किया।

नक्षत्रों का परिचय

इस समय हमारे देश मे नक्षत्रो के योगतारो को तो छोड़ ही दीजिए, नक्षत्रो को भी पहचाननेवाले ज्योतिषी प्राय नही मिलते। कोलब्रुक कहता है कि कुछ नक्षत्रो को हिन्दू ज्योतिषियो ने मुझे दिखलाया परन्तु कई को वे न बतला सके। बेरुनी[1] कहता

१. India II p. 83.

है कि मैंने इस विषय मे बहुत परिश्रम किया परन्तु नक्षत्रो के योगतारो को आँख से देखकर बितानेवाला एक भी ज्योतिषी मुझे नही मिला। आजकल भी योगतारे दिखलाने वाला ज्योतिषी शायद ही कही मिले। अधिकाश ज्योतिषी ऐसे है जिन्हे केवल नक्षत्रपुजो से भी परिचय नही। कुण्डली निर्माण और मुहूर्त्त देखने मे अत्यन्त निपुण ऐसा एक ज्योतिषी मुझे मिला, जिसे यह भी मालूम नही था कि 'अश्विन्यादि नक्षत्र पश्चिम से पूर्व की ओर क्रम से स्थित है, पूर्व से पश्चिम की ओर नही। तथापि नक्षत्र दिखनेवाले ज्योतिषी भी प्राय मिल जाते है। कुलाबा जिले के चौल ग्राम का 'फफे' नाम का एक वैदिक ब्राह्मण मुझे मिला था, उसको सब नक्षत्र मालूम थे। उसने मध्याह्नवृत्त पर कौन-सा नक्षत्र आया हुआ है यह देखकर रात्रिमान निकालने के लिए एक श्लोक मुझे बतलाया था। वह बहुत उपयोगी है इसलिए यहाँ देता हूँ :—

खौ ख जा त्री गु चु गै चो छो भू १ युक्॥
१०२ ११२ १२८ १४० १५३ १५६ १८३ १९६ १९७
छ खि त्री कु चू छे को द्वि २ युक्॥
२१७ २३२ २४० २५१ २६६ २७७ २९१
डौ ख छा डी कु घु त्रि ३ युक्॥
३०५ ३१२ ३२७ ३४५ ३५१ ३५४
ख जा कु चू घे घो॥
१२ २८ ५१ ६४ ७४ ९४

अश्विनी नक्षत्र मध्याह्नवृत्त पर आने से लग्न १०२ अश रहता है (अर्थात् कर्क लग्न के १२ अश व्यतीत हुए रहते है)। इसी प्रकार २८ नक्षत्रो के प्राग्लग्न के अश उपर्युक्त श्लोको मे दिये हुए है। लग्न से इष्ट काल लाने की रीति से काल का आनयन करना चाहिए। इस वचन मे द्वितीय आर्यसिद्धान्त के कटपयादि सख्या-सकेत है और साथ साथ अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ यह सकेत १ से ९ तक अक तथा ० के वाचक है। इसी वचन के समानार्थक तीन श्लोक गणेश दैवज्ञ कृत मुहूर्तसिन्धु मे भी दिये हुए है।[1] इनमे अशो की सख्याएँ साधारण नियम के अनुसार है और जिस स्थान की ४ पलभा हो वही के ये लग्नाश है, इतरत्र कुछ न्यूनाधिक होगे ऐसा भी कहा

---

१. इन श्लोको मे चित्रा अंश २६३ और शततारका के ६१ है। ऊपर के वचन में चू और कु ये अक्षर है परन्तु उनके स्थान पर यदि गू और कू ये दो अक्षर हो तो दोनों की संगति बैठ जाती है।

है। इस बात से और चौलग्राम गणेश दैवज्ञ के नादगाव से निकट होने के कारण "खौ" इत्यादि वचन और पूर्वोक्त वैदिक को ज्ञात नक्षत्र गणेश दैवज्ञ से परम्परा से प्राप्त मालूम होते है।

[उक्त वैदिक ने जो नक्षत्र दिखलाये थे उनमे रेवती और विशाखा मे भूल थी। रत्नागिरी के एक ज्योतिषी ने जा० बा० मोडक को जो रेवती तारा दिखलाया था वह इससे मिलता है। धुलिया के एक अच्छे ज्योतिषी ने भी इसी तारे को रेवती नक्षत्र कहा था। परस्पर कोई सम्बन्ध न होने पर भी तीनो को यह समान भ्रम कैसे हुआ यह कहना कठिन है। परन्तु यह सम्भव नही है कि यह भल मूल मे गणेश दैवज्ञ की ही थी। मैंने अपनी ज्योतिर्विलास पुस्तक मे नक्षत्रो का वर्णन दिया है। उसकी सहायता से कोई भी नक्षत्रो का परिचय प्राप्त कर सकता है।]

नक्षत्रपद्धति का मूल

चीनी, पारसी और अरब लोगो मे नक्षत्र पद्धति थी। अतएव नक्षत्र पद्धति हिन्दुओं ने स्वतत्र रूप से ही आविष्कृत की अथवा दूसरे राष्ट्रो से ली, इस विषय को यूरोपियन विद्वान्, विशेष महत्त्व देते है। परन्तु मुझे इस वाद मे कोई विशेष सार दृष्टिगत नही होता, क्योकि सम्पूर्ण ज्योतिर्गणित पद्धति भारतीयो ने स्वयम् आविष्कृत की या दूसरो से ली, इस बात का निर्णय केवल 'नक्षत्रपद्धति किसने निकाली' इससे नही हो सकता। आज नक्षत्र ज्ञान होते ही कल ग्रह ज्ञान अवश्य होना चाहिए। एक राष्ट्र ने नक्षत्रपद्धति स्थापित की तो ग्रहगति पद्धति भी उसी राष्ट्र के द्वारा स्थापित होनी चाहिए अथवा एक राष्ट्र ने किसी दूसरे राष्ट्र से नक्षत्रपद्धति ली हो तो उसे ग्रह-गति-ज्ञान स्वय नही हो सकता, यह कहना युक्तिसङ्गत नही है। नक्षत्रपद्धति मूलतः हिन्दुओं की नही है वह वेबर नामक जर्मन विद्वान् का कहना है। एम बायो नामक फ्रेंच विद्वान् ने आग्रहपूर्वक प्रतिपादन किया है कि नक्षत्रपद्धति मूलतः चीनियो की थी और उन्ही से हिन्दुओं ने उसे प्राप्त किया। परन्तु यह बात ध्यान मे रखने योग्य है कि चीनी लोगो को जो मूल मे नक्षत्रज्ञान था उससे अधिक नक्षत्रज्ञान उनको कभी प्राप्त नही हुआ। ग्रहगति और अयनचलन इन महत्त्व के विषयो का विचार उन्होने कभी नही किया। यह बात ह्विटने और बायो दोनों स्वीकार करते है।[1] भारतीयो ने नक्षत्रपद्धति स्वय स्थापित की है, सम्भवत चीनी लोगो ने भी उसे ढूंढ़ निकाला हो

---

१. इस विषय में बायो और ह्विटने के मतों का जो उल्लेख किया है वह बर्जेस के सूर्यसिद्धान्त के अनुवाद पृष्ठ १८०-२०० से लेकर २०९ और २०४ पृष्ठ पर आधारित है।

परन्तु यह निश्चय है कि हम लोगो ने उसे उनसे प्राप्त नही किया। इस विषय मे हम पहिले ही विवेचन कर चुके है, यहाँ उसकी पुनरुक्ति करने की आवश्यकता नही, किन्तु उक्त यूरोपियनो के कथन का सक्षेप मे विचार किया जाता है। बायो ने Journal des Savants नामक पत्रिका मे चीनी नक्षत्रपद्धति तथा हिन्दू नक्षत्रपद्धति का विस्तारपूर्वक विचार किया है।[1] उसके कहने का तात्पर्य नीचे दिया जाता है—

"चीनी लोगो के वेध-यन्त्र और वेधपद्धति अच्छी थी और उनका वर्त्तमान यूरोपियन पद्धति से साम्य है। उनके पास याम्योतरलघन यन्त्र और कालसाधनार्थ घटिका (Clepsydra) ये दो यन्त्र थे। उन्होने तारो के याम्योत्तर-लघन वेध करके उनके विषुवाश और क्रान्तियो को ठहराया था और इसके लिए और वेध लेने मे काल के सम्बन्ध मे कोई भूल न रह जाय इसलिए ई० स० पूर्व २३५७ के आसपास सम्भावित भूल को शुद्ध करने के लिए विषुववृत्त के निकट २४ तारो का उन्होने परिगणन किया था। ऐसा करने मे विषुववृत्त के सान्निध्य की ओर उन्होने विशेष ध्यान दिया था।' चाहे वे तेजस्वी हो या न हो, दिखाई देने मात्र से उन्होने उनको अपनी गणना मे ले लिया था। वे ऐसे प्रत्येक तारे को सियू (Sieu) कहते है। च्यूकाग राजा के समय (ई० स० पू० ११०० मे) पूर्वोक्त २४ तारो मे मघा, विशाखा, श्रवण और भरणी के चार तारे और जोडे गये।" बायो ने चीनियो के नक्षत्रो का जितना विवेचन किया है उतना हिन्दुओ के नक्षत्रो का नही। ह्विटने ने चीनी, अरबी और हिन्दू तीनो पद्धतियो की तुलना की है। तीनो पद्धतियो मे कुछ बातो मे साम्य है, कुछ विषमता भी। इसलिए ह्विटने ने प्रथमत. यही निष्कर्ष निकाला कि तीनो पद्धतियो मे एक भी ऐसी नही जिसको तीनो का मूल कहा जा सके। ऐसा होने पर भी वह आगे कहता है कि "ई० स० ११०० पूर्व या उसके लगभग चीनी नक्षत्रपद्धति पश्चिम एशिया मे पहुँची और उसको सेमिटिक या ईरानियो ने अपना लिया। उसमे उन्होने अच्छी शास्त्रीय रीति से या विशेष कुशलतापूर्वक नही परन्तु वेध लेकर कुछ परिवर्तन किया। ग्रहगति के अनुसार क्रान्तिवृत्त के प्रदेश मे चीनी 'सू' एक तारा के स्थान पर उन्होने नक्षत्रपुजो की कल्पना की और कुछ नक्षत्रो के स्थान बदले। ऐसी अवस्था मे यह पद्धति और ग्रह-ज्ञान भारत मे आया। इन्ही सेमिटिक या ईरानी लोगो से कालान्तर मे अरब के लोगो ने यह ज्ञान प्राप्त किया।" ध्यान देने योग्य बात है कि हिन्दुओ की नक्षत्रपद्धति दृष्टिवेध से सिद्ध की हुई है, चीनियो की यन्त्रवेध से सिद्ध की गयी थी। हमारे नक्षत्रो मे से रोहिणी,

---

१. Journal des Savants 1840, 1845 and 1859.

पुनर्वसु, मघा, पूर्वोत्तर फाल्गुनी, स्वाती, अनुराधा, ज्येष्ठा, मूल, अभिजित् और श्रवण का योगतारा देखने मे स्पष्ट अर्थात् प्रथम या द्वितीय और क्वचित् तृतीय परिमाण का है, परन्तु चीनी लोगों ने उनको ग्रहण न कर उन्ही नक्षत्रो मे कम तेजस्वी तारो को ग्रहण किया है,[1] इसका कारण यह है कि वे तारे उनको वेधोपयोगी मालूम हुए। इतना होने पर भी यद्यपि ह्विटने को यह कहने का साहस नही हुआ कि हिन्दुओ ने चीनी पद्धति को अविकल वैसा का वैसा उठा लिया है तथापि उसने एक ऐसी सेमिटिक अथवा ईरानी पद्धति की कल्पना की जिसका कही पता नही लगता। फिर इस सेमिटिक अथवा ईरानी पद्धति को चीनी पद्धति का हीन स्वरूप देकर उसे हिन्दुओ के माथे मढ़ दिया। यह सृष्टि मे क्रमोन्नति के सिद्धान्त का विपर्यास तो है ही, साथ ही साथ ह्विटने के दुराग्रह का द्योतक है। ईरानियो मे नक्षत्रपद्धति थी परन्तु उसके विषय मे ह्विटने स्वय कहता है—"जेन्दावेस्ता मे उसका अस्तित्व अब तक किसी ने नही दिखाया है। बुन्देहेश नामक ग्रन्थ मे नक्षत्रो की सख्या २८ और उनके नाम मात्र दिए हुए है। यह ग्रन्थ भी बहुत प्राचीन नही है। ईसवी सन् की तीसरी शताब्दी मे सासनियन राजाओ के समय ईरान स्वतन्त्र हुआ था। उसी समय का यह ग्रन्थ होना सम्भव है।" खाल्डियन लोगो मे नक्षत्रपद्धति थी या नही इस विषय मे वह लिखता है—"वेबर का कथन है कि बाइबल के मज्जलॉथ (Mazzaloth) और मजरॉथ (Mazzaroth) ये दो शब्द (Job 38, 32 kings 23-5) अरबी के नक्षत्रवाचक शब्द मजिल (Manzil) के समान है। अतएव इससे सिद्ध होता है कि पाश्चात्य सेमिटिक लोगो मे नक्षत्र-पद्धति वर्तमान थी और उसे खाल्डियन लोगो ने निकाला होगा।" उपर्युक्त बात इतनी अप्रसिद्ध और सशयग्रस्त है कि नक्षत्रपद्धति के अस्तित्व के विषय मे प्रमाणभूत नही मानी जा सकती। तद्व्यतिरिक्त यदि यह पद्धति इतने प्राचीन काल मे और इतने पश्चिम मे वर्त्तमान थी तो ग्रीक लोगो ने इसके विषय मे नितान्त मौन क्यों धारण किया? यह बात विश्वसनीय नही है। इससे यह सिद्ध होता है कि जिन सेमिटिक अथवा ईरानियो के द्वारा ह्विटने के कथनानुसार यह पद्धति भारत मे आयी वे खाल्डि-यन या पारसी नही थे। इनके सिवाय कोई दूसरी सेमिटिक अथवा ईरानी जातियाँ, जिनमे यह पद्धति परम्परा रूप से प्रचलित थी, इतिहास को अवगत नहीं। इसी से यह सिद्ध होता है कि तथाकथित मध्यस्थ सेमिटिक अथवा ईरानी जातियाँ जिनका भारत ऋणी हो सकता है केवल कपोलकल्पित है।

ई० स० ११०० पूर्व चीनी पद्धति मे केवल २४ तारे थे इसलिये बायो अथवा

---

१. बर्जेस कृत सूर्यसिद्धान्त का अनुवाद, पृष्ठ २२४ देखिए।

ह्विटने यह नही कह सकते कि इसके पहले यह पद्धति भारत मे आयी। हिन्दू पद्धति मे अभिजित् नक्षत्र था वह ई० स० ९७२ मे निकाल दिया गया, ऐसा बायो का कथन है। इससे वह सिद्ध करना चाहता है कि तब तक चीनियो के २८ नक्षत्र भारत मे चालू थे। परन्तु इसके पूर्व दीर्घकाल से हिन्दुओ ने गणित मे २७ नक्षत्र ही लिये है। ह्विटने ने तैत्तिरीय सहिता का उल्लेख कर बायो का खण्डन किया है, क्योकि इस सहिता मे केवल २७ नक्षत्र ही परिगणित है। उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध हो जाता है कि बायो और ह्विटने का यह कथन कि हम लोगो ने नक्षत्र-पद्धति चीनियो से ग्रहण की, सर्वथा त्याज्य है। बेवर भी कहता है कि 'यह मान्य नही है कि हिन्दुओ ने चीनियो से नक्षत्र-पद्धति सीखी थी।'[1]

सर विलियम जोन्स ने हिन्दू और अरब नक्षत्र-पद्धति की तुलना की है[2] परन्तु ह्विटने का कहना है कि वह अपूर्ण और स्थूल है अतएव विश्वसनीय नही।[3] यह तुलना जोन्स ने केवल नक्षत्रो के सम्बन्ध मेनही की है, नक्षत्रो की राशि के सम्बन्ध मे की है। उसका मत है कि हिन्दुओ ने नक्षत्र-पद्धति खाल्डियन लोगो से न लेकर नक्षत्र-राशि पद्धति ग्रीक लोगो से ली है। ह्विटने का यह कथन कि नक्षत्रपद्धति खाल्डियन लोगो मे नही थी हम ऊपर ही लिख चुके है। हिन्दू और अरब पद्धति की तुलना कोलब्रुक ने विस्तारपूर्वक की है परन्तु हिन्दुओ ने अरबो से यह पद्धति ली, यह वह या और कोई भी विद्वान् नही कहता। तद्विपरीत कोलब्रुक का यह कहना है कि अरबो ने ही हिन्दुओ से यह सीखी।[4] इस बात का विवेचन हम पहिले भी कर चुके है। मैक्समूलर का कथन है कि नक्षत्र-पद्धति बैबिलोनिया से सर्वत्र प्रसृत हुई।[5] वेबर का भी कहना है कि हिन्दुओ ने उसे बैबिलोनियन अथवा खाल्डियन लोगो से लिया, परन्तु मैक्समूलर ने इस विषय पर कोई सप्रमाण और विस्तृत विवेचन नही किया है अतएव यह मत सर्वथा अग्राह्य है, यह ह्विटने ने भी स्वीकार किया है। साराश नक्षत्र-पद्धति भारतीयो ही का स्वतन्त्र अविष्कार है, यह पूर्णत सिद्ध हो जाता है।

---

१ History of Indian Literature, p. 247.

२ Asiatic Researches, p. 2 (1790).

३. सूर्यसिद्धान्त अनुवाद, पृष्ठ १८०,

४ Algebra, Introduction, p. xxii.

५ History of Indian Literature, p, 2. Note 2 and p. 247

(११) महापात

चन्द्र-सूर्य से क्रान्तिसाम्य को महापात कहते है। सायन रविचन्द्र का योग जब ६ अथवा १२ राशि होता है उसके आसपास क्रान्तिसाम्य होता है। पहिले को व्यतीपात और दूसरे को वैधृति कहते है। इन क्रान्तिसाम्यो के समय शुभ कर्म वर्जित किये गये है। इसलिए प्रत्येक गणितग्रन्थ मे इनका गणित रहता है। गणेश दैवज्ञ ने ग्रहलाघव मे इनका गणित देकर भी सुलभ रीति से इसका समय निकालने के लिए पात सारणी नामक एक छोटा सा अलग ग्रन्थ लिखा है।

यहाँ तक गणित स्कन्ध का विचार हुआ, अब दूसरे स्कन्धो का विचार करे।

२. संहितास्कन्ध

ज्योतिष की सब शाखाओ के विवेचन से युक्त ग्रन्थ को पहिले सहिता कहते थे, परन्तु वराहमिहिर के समय गणित और होरा से भिन्न तृतीय शाखा को ही सहिता कहने लगे थे। कुछ दिनो बाद शीघ्र ही वाराहीसहिता मे वर्णित विषयों की चर्चा लुप्त हो गयी और मुहूर्त ही तृतीय स्कन्ध बन बैठा। इसका विवेचन आगे करेंगे। सहिता शाखा के स्वरूप का ज्ञान होने के लिए यहाँ पहिले यह बतायेंगे कि वराह की सहिता मे किन-किन विषयो का वर्णन किया गया है।

संहिताविषय

सहिताग्रन्थो मे राष्ट्रविषयक शुभाशुभ फल जानने की विधि लिखी रहती है, व्यक्तिविषयक नही। वाराहीसहिता के आरम्भ के ११ अध्यायो मे सूर्य, चन्द्र, राहु और अन्य ग्रह तथा केतु के चार (गमन) और नक्षत्रमण्डल मे उनके गमन से संसार को होनेवाले शुभाशुभ फलो का वर्णन है। १२वे और १३वे अध्यायो में अगस्त्य और सप्तर्षियो मे उदयादि के फल है। १४वे अध्याय का नाम कूर्माध्याय है। उसमें भारतवर्ष के ९ विभाग मान कर उन विभागो और तदन्तर्गत देशो पर अमुकामुक नक्षत्रों का आधिपत्य है—इत्यादि बाते बतायी है। इसके बाद नक्षत्रव्यूह तथा ग्रहो के युद्ध और समागम के फल है। इसके बाद वर्षफलविचार है। वह कुछ इस ढग का है, जैसा कि आजकल पञ्चाङ्गो मे संवत्सरफल लिखा जाता है। इसके बाद ग्रह-शृङ्गाटक प्रकरण है। उसमे सूर्य या किसी नक्षत्र के पास एक ही समय सब या कुछ ग्रहो के एकत्रित होने से जो धनुष या शृङ्गादि सदृश आकृतियाँ बनती है, उनके फल बताये है। इसके बाद पर्जन्यगर्भलक्षण, गर्भधारण और वर्षण विषय हैं। उनमे मार्गशीर्षादि मासो में पर्जन्य के गर्भधारण और तदनुसार पर्जन्यवृष्टि इत्यादि का विवेचन है। आजकल भी कुछ लोग इसका विचार करते है। लोग कहते है कि गर्भ-धारण द्वारा वृष्टि की बिलकुल ठीक स्थिति बतानेवाले कुछ लोग इस समय भी है। इस प्रकरण मे बरसा हुआ पानी नापने के लिए कहा है और उसे नापने की रीति बतायी है। इसके बाद चन्द्रमा से रोहिणी, स्वाती, आषाढ़ा और भाद्रपदा के योग के फल लिखे

है। तदनन्तर सद्योवर्षण, कुसुमफललक्षण, सन्ध्या (प्रात· और सायकालीन आकाश की लालिमा इत्यादि), दिग्दाह, भूकम्प, उल्का, परिवेष (मण्डल), इन्द्रधनुष, गन्धर्वनगर,[1] (आकाश मे दिखाई देने वाला नगर), प्रतिसूर्य और निर्घात—इन सृष्टिचमत्कारो का वर्णन है। उसके बाद धान्यादिको के मूल्य, इन्द्रध्वज और नीराजन का वर्णन है। इसके बाद खञ्जन नामक पक्षी के दर्शनादिको के फल है और दिव्य, भौम तथा अन्तरिक्ष उत्पातो का वर्णन है। इसके बाद मयूरचित्रक प्रकरण है। आगे राजोपयोगी पुष्यस्नान, पट्टलक्षण और खड्गलक्षण है। इसके बाद वास्तु-प्रकरण है। यह बडा विस्तृत है। इसमे गृह बनाने के लिए स्थान कैसा होना चाहिए, काष्ठ कैसे होने चाहिए, भिन्न-भिन्न कार्यो के लिए किस-किस प्रकार के गृह बनाने चाहिए, इत्यादि उपयुक्त बाते बतायी है। इसकी टीका मे भटोत्पल ने ५ नक्शे दिये है। इसके बाद उदकार्गल प्रकरण है। उसमे मुख्यतः यह बताया है कि भूमि मे पानी कितने नीचे मिलेगा। प्रसङ्गवशात् उसमे भूस्तरविद्या सम्बन्धी भी कुछ बाते आयी है। लोग कहते है कि आजकल भी कुछ ऐसे मनुष्य है जो बताते है कि अमुक स्थान मे कुआँ खोदने से पानी शीघ्र मिलेगा। इसके बाद बृक्षायुर्वेद, प्रासादलक्षण और वज्र लेप प्रकरण है। वज्रलेप एक प्रकार का पलस्तर है। इसके विषय मे लिखा है कि यह मयकथित है। इसके बाद देवप्रतिमाविचार, वास्तुप्रतिष्ठा, गौ, कुक्कुर, कुक्कुट, कूर्म, अज, मनुष्य पद्मराग इत्यादिको की परीक्षा, दीप लक्षण, दन्तधावन और शकुन का विचार है। इसके बाद श्वान और शृगाल के शब्द से होने वाले शुभाशुभ का और मृग, हाथी इत्यादिको का वर्णन है। इसके बाद तिथि, नक्षत्र, करण और गोचर ग्रहो के फल है।

मैने अधिक सहिताग्रन्थ नही देखे है, तथापि वराह के पहिले की गर्गादि सभी सहिताओ मे अनुमानत ये ही अथवा इनमें से कुछ विषय होगे। विवाहादि कर्मोपयोगी शुभकाल (मुहूर्त) का विचार सम्भवत सहिताग्रन्थो मे ही रहता है। किन्तु वराह ने यात्रा और विवाह विषयक दो ग्रन्थ पृथक् बनाये है, मालूम होता है इसी कारण उन्होने अपनी सहिता मे ये विषय नही लिखे है। वराह ने अनेक स्थानो पर लिखा है कि अमुक ऋषि के कथनानुसार अमुक विषय का वर्णन कर रहा हूँ। इस प्रकार उन्होने गर्ग, पराशर, असित, देवल, वृद्धवर्ग, कश्यप, भृगु, वसिष्ठ, बृहस्पति, मनु, मय, सारस्वत

---

१. न्यूहालैण्ड से कुछ मील दूर समुद्रस्थित एक जहाज के मनुष्यों ने न्यूहालैण्ड का एक नगर आकाश में देखा था। यह समाचार सन् १८८७ के लगभग प्रकाशित हुआ था। इससे ज्ञात होता है कि गन्धर्वनगर बिलकुल असत्य पदार्थ नहीं है।

और ऋषिपुत्र के नाम दिये है।[1] इससे ज्ञात होता है कि उस समय इतनी सहिताएँ उपलब्ध थी। कुछ और भी रही होगी, क्योकि उन्होने कही-कही "अन्यान् बहून्" लिखा है। टीकाकार ने टीका मे इन सब सहिताओं के अतिरिक्त व्यास, भानुभट्ट विष्णुगुप्त, विष्णुचन्द्र, यवन, रोम, सिद्धासन, नन्दी और नग्नजित् इत्यादिको के तथा भद्रबाहु नामक ग्रन्थ के वचन दिये हैं। इनमे से कुछ ग्रन्थकार वराह से प्राचीन और कुछ अर्वाचीन होगे। वास्तुप्रकरण मे किरणाख्य तन्त्रावली और मय के वचन दिये है।

उपर्युक्त विषयो में आधुनिक अनेक शास्त्र भी है। उनका सम्बन्ध केवल ज्योतिष-शास्त्र से ही नही है, उनमे आकाश और पृथ्वी सम्बन्धी अनेक सृष्टिचमत्कार तथा व्यावहारिक विषय भी आये है। मालूम होता है, इनमे से कुछ विषयो का विचार वराहमिहिर के बहुत पहिले ही हो चुका था और कुछ का प्राचीनकाल से वराहमिहिर के समय तक होता आया। अनेक स्थानो मे वराहमिहिर ने स्वकीय मतो का ही उल्लेख किया है। सारस्वतमुनिकथित उदकार्गल प्रकरण लिखने के बाद 'मानव वक्ष्ये' कह कर उन्होने अनेक बाते लिखी है। वाराहीसहिता मे वर्णित विषयो की शोध बाद मे भी होती रहती तो बडा लाभ होता। वराह के बाद एक भी ऐसा ग्रन्थ नही बना, जिसमे उनकी सहिता के सभी अथवा कुछ विषयो का विवेचन हो। मुहूर्ततत्त्व मे सक्षेपतः बहुत से विषय आये है और ज्योतिषदर्पण मे ग्रहचार का वर्णन है तथापि यह कथन अनुचित नही है कि वराह के बाद वे विषय सर्वथा लुप्त हो गये। गर्भावली (पर्जन्य-गर्भ) इत्यादि दो-तीन प्रकरणो का विचार आजकल भी कुछ लोग करते है और उनका सक्षिप्त वर्णन कुछ ग्रन्थो मे मिलता है। तथापि उनमे महत्व की बाते बहुत कम है। वास्तुप्रकरण आधुनिक सभी मुहूर्तग्रन्थो मे है, उसमे कुछ उपयुक्त बाते भी है तथापि मूल हेतु ग्रन्थकारो को प्राय विस्मृत हो गया है और उसमे लिखी हुई बातो का प्रत्यक्ष उपयोग प्राय कम होता है। घर की लम्बाई-चौड़ाई के योग इत्यादि मे अमुक सख्या का भाग देने से अमुक शेष रहे तो शुभ और अमुक रहे तो अशुभ फल होता है—इत्यादि नियमो को तो कोई नही ही पूछता,[2] पर इनके साथ-साथ उपयुक्त बाते भी लोगो ने छोड दी है।

---

१. सारस्वत का नाम उदकार्गल प्रकरण मे और मय का केवल वास्तु और तत्सदृश प्रकरणों में ही आया है।

२. नक्षत्र सम्बन्धी शुभत्वाशुभत्व के अनुसार लम्बाई-चौड़ाई के विषय में कुछ नियम बताये गये है और उनमें ज्योतिषियों ने बड़ी चतुराई दिखाई है। मुहूर्तमार्तण्ड के वास्तु प्रकरण में क्षेत्रफलादिकों का बहुत विचार किया है। मैंने एक बार एक ज्योतिषी को

मुहूर्तग्रन्थ और उनके विषय

गर्भाधानादि सस्कार, प्रयाण तथा अन्य व्यावहारिक अनेक कार्य अमुकामुक समयो मे करने से लाभप्रद होते है—इसके अनेक नियम बनाये गये है। उन नियमो के अनुसार निश्चित किए हुए समय का नाम मुहूर्त है। मुहूर्तविचार प्राचीनकाल मे सहिताग्रन्थो का एक अङ्ग था, परन्तु बाद मे सहितोक्त अन्य विषयो का लोप और मुहूर्त का प्राधान्य हो गया और मुहूर्तविषयक ग्रन्थो को लोग मुहूर्तग्रन्थ ही कहने लगे। मुहूर्तग्रन्थो मे मुख्यतः ये विषय रहते है—प्राय सभी मुहुर्तग्रन्थो मे त्याज्यप्रकरण नामक एक सामान्य प्रकरण रहता है। उसमे प्रत्येक शुभकार्य मे वर्जित तिथिनक्षत्रादि लिखे रहते हैं। उसके बाद, तिथि, वार, नक्षत्र, योग और सक्रान्ति के शुभाशुभत्व का वर्णन रहता है। उसके बाद गर्भाधानादि १५ सस्कारो के मुहूर्त का विचार रहता है। विवाह में वधू-वर की कुण्डलियाँ मिलाने के विषय मे एक विस्तृत प्रकरण रहता है। इनके अतिरिक्त वास्तु, यात्रा, राज्याभिषेक और कुछ अन्य फुटकर प्रकरण रहते है। नक्षत्रप्रकरण मे कुछ ग्रन्थो मे दुष्टनक्षत्र-जननशान्ति इत्यादि शान्तियाँ भी रहती है।[1]

मुहूर्तग्रन्थो के ये ही विषय श्रीपति की रत्नमाला मे भी है, अन्य विषय नही है, पर श्रीपति ने अपने विषय का नाम मुहूर्तग्रन्थ नही रखा है। इस प्रकार के ग्रन्थो के नाम मुहूर्तमार्तण्ड इत्यादि बाद मे पडने लगे। श्रीपति ने रत्नमाला लल्ल के रत्नकोश के आधार पर बनायी है, अत. लल्ल के ग्रन्थ मे भी मुहूर्तव्यतिरिक्त विषय नही होगे और वराह के बाद उनकी सहिता सरीखा अन्य ग्रन्थ नही बना, इससे ज्ञात होता है कि शक ५०० या ६०० से मुहूर्त ही तृतीय स्कन्ध हो गया।

शुभत्वाशुभत्व का बीज

नक्षत्रो के नाम और उनके देवता, अश्विन्यादि नक्षत्रो की अश्वादि कल्पित-योनियाँ[2] और स्थिरचरादि सज्ञाएँ, राशियों की मेषादि सज्ञाओ से बोधित होने

वह समझा दिया, उससे मुझे ज्ञात हुआ कि उस विषय को बहुत कम ज्योतिषी समझते होंगे। रेखागणित इत्यादि बिल्कुल न जानने वालो को इसे समझाना भी बड़ा कठिन है।

१. मुहूर्तविचार में जन्मलग्नकुण्डली और इष्टकालीन लग्नकुण्डलियों में से एक का अथवा दोनों का विचार अनेक स्थानों में किया गया है। कुण्डली का विवेचन आगे किया जायगा। विवाहादिक मुहूर्तों में षड्वर्ग का भी विचार किया गया है।

२. योनि के विषय में रत्नमालाटीकाकार माधव ने नक्षत्र प्रकरण में लिखा है—एता योनयः आगमसिद्धा एव दम्पत्यादियोगार्थं पूर्वाचार्यैः कल्पिता न पारमार्थिकाः।

वाले मेषादि प्राणी को राशियों के भौमादि स्वामी, तिथियो की नन्दादि संज्ञाएँ और तिथियों के स्वामी—इत्यादि बातो के आधार पर भिन्न-भिन्न कर्मों के नक्षत्रो का शुभत्वाशुभत्व माना गया है। जैसे—चर नक्षत्रो मे स्थिर कर्म करना अशुभ है, वधूवर के नक्षत्र रोहिणी और उत्तराषाढा हो तो उनकी सर्प और नकुल योनियों मे परस्पर शत्रुत्व होने के कारण यह विवाह अशुभ माना गया है। इसी प्रकार और भी बहुत-सी बाते है।

मुहूर्त की आवश्यकता

मुहूर्तों का लोकव्यवहार से निकट का सम्बन्ध है, इस ग्रन्थ के प्रथम भाग के अनेक स्थानो के विवेचन से ज्ञात होता है कि ये अनादिकाल से चले आ रहेहै। सम्प्रति विवाहादि सस्कार तो मुहूर्त बिना होते ही नही। गृहारम्भ, गृहप्रवेश, बोआई, कटाई, दँवाई इत्यादि कर्म भी मुहूर्त बिना नही होते। अन्य भी अनेक व्यावहारिक कार्य अनेक मनुष्य मुहूर्तानुसार करते है। केवल वैदिकधर्मी ही नही, लिगायत और जैन भी पद-पद पर मुहूर्त पूछते हैं। पारसी और मुसलमानों के भी कुछ कार्य मुहूर्तानुसार होते है। हमे थोडा सा ज्योतिषज्ञान होने के बाद उसकी क्रमश वृद्धि होने का और आज तक उसका अस्तित्व रहने का एक मुख्य कारण मुहूर्त की आवश्यकता है।

मुहूर्तग्रन्थों का इतिहास

मुहूर्तग्रन्थ और उनके कर्ताओ का थोडा-सा इतिहास लिख-कर यह स्कन्ध समाप्त करेगे। आगे लिखे हुए स्वल्प इतिहास से ज्ञात होगा कि मुहूर्तविषयक ग्रन्थ अनेक है। उनमे से जिनका प्रत्यक्ष या परम्परया थोडा-बहुत परिचय है, उन्ही का वर्णन यहाँ करेंगे।

रत्नकोश (लगभग शक ५६०)—यह ग्रन्थ लल्ल का है। इसे मैने नही देखा है। श्रीपति ने रत्नमाला इसी के आधार पर बनायी है, अत. वह आधुनिक मुहूर्तग्रन्थो सदृश ही होगा।

रत्नमाला (लगभग शक ९६१)—यह ग्रन्थ श्रीपतिकृत है। इसमे केवल उपर्युक्त मुहूर्तग्रन्थोक्त ही विषय हैं।[1] इस पर माधव की टीका है। माधव का काल शक ११८५ है। इन्होंने टीका मे अनेक ग्रन्थो के वचन दिये है। उनमे से यहाँ मुहूर्तस्कन्ध-सम्बन्धी ग्रन्थो और ग्रन्थकारो के वे नाम लिखते है जिनके विषय मे इसके पूर्व या पश्चात्

१. तथापि टीकाकार ने लिखा है कि—संहितार्थमभिधातुमिच्छुराह।

कुछ भी नही लिखा गया है। ग्रन्थकारो के नाम[1]—ब्रह्मशम्भु, योगेश्वर (ये दोनो नाम वास्तुप्रकरण मे आये हैं) और श्रीधर। ग्रन्थो के नाम—भास्करव्यवहार, भीमपराक्रम, दैवज्ञवल्लभ, आचारसार (यह कदाचित् आचारविषयक ग्रन्थ होगा), त्रिविक्रमशत, केशवव्यवहार, तिलकव्यवहार, योगयात्रा, विद्याधारी विलास, विवाहपटल, विश्वकर्मशास्त्र (यह नाम वास्तुप्रकरण मे आया है)। इनके अतिरिक्त जातकग्रन्थ लघुजातक, यवनजातक, वृद्धजातक, शकुनग्रन्थ नरपतिजयचर्या और प्रश्नग्रन्थ विद्वज्जनवल्लभ के भी वचन दिये हैं। टीका मे वारप्रकरण मे इन्होने लिखा है—इह आनन्दपुरे विषुवच्छाया ५।२० विषुवत्कर्ण १३।८। इससे ज्ञात होता है कि इनका स्थान आनन्दपुर है और उसका अक्षाश २४ है।

राजमार्तण्ड—यह ग्रन्थ भोजकृत है। यह शक ९६४ के लगभग बना होगा।

विद्वज्जनवल्लभ—तजौर के महाराष्ट्र राजकीय[2] पुस्तकालय की सूची मे इस ग्रन्थ के विषय में लिखा है—यह ग्रन्थ भोजकृत (अर्थात् शक ९६४ के आसपास का) है। इसमे १८ प्रकरण और सब लगभग १८५ श्लोक हे। प्रकरणो के नाम क्रमश लाभालाभ, शत्रुगमागम, गमागम, प्रेषितागम, यात्रा, जयपराजय, सन्धि, आश्रय, बन्धाबन्ध, रोगी, कन्यालाभ, गर्भधारणा, जन्म, वृष्टि, क्षिप्तधन (१६वाँ प्रकरण खण्डित है), मिश्र और चिन्ता है। भोजकृत सहितास्कन्धीय एक ग्रन्थ राजमार्तण्ड के रहते हुए उनका यह दूसरा ग्रन्थ बनाना शंकास्पद है। दूसरे का हो तो भी यह निश्चित

---

१. माधव ने प्रसंगवशात् अन्य विषयों के ग्रन्थकारों के भी वचन दिये हैं। चूंकि वे उपयोगी हैं इसलिए यहाँ उन ग्रन्थों या ग्रन्थकारों नाम लिखते है—न्यायकिरणावली, कणादसूत्र, प्रशस्तकरभाष्य, भविष्योत्तरपुराण, मत्स्यपुराण, शिवरहस्य, बौधायन, गृहस्थधर्म-समुच्चय, स्मृतिमञ्जरी, सौरधर्मोत्तर, स्कन्दपुराण, विष्णुधर्मोत्तर, विश्वरूप, विज्ञानेश्वर, पुराणसमुच्चय, वाग्भट, याज्ञवल्क्यस्मृति, दुर्गसिह, गरुड़ पुराण, विश्वादर्शभाष्य, वैद्यनिघण्टु, सुश्रुतचिकित्सित।

२. शिवाजी के भाई वेकोजी (एकोजी) और उनके वंशजों ने तञ्जौर प्रान्त में राज्य किया था। तञ्जौर के राजाओं के वाड़े मे पुस्तक संग्रह बड़ा अच्छा है। मद्रास सरकार की आज्ञानुसार ए० सी० बर्नेल की बनायी हुई उसकी सूची सन् १८७९ में छपी है। इस वंश के तुलाजी नामक राजा सन् १७६५ से १७८८ तक गद्दी पर थे उनके बनाये (या बनवाये) हुए ग्रन्थ उस पुस्तकालय में हैं। यह संग्रह प्रायः उन्हीं के समय हुआ होगा।

हैं कि यह शक ११८५ के पहिले का है, क्योंकि माधवकृत रत्नमाला की टीका मे इसका नाम है।

अद्भुतसागर—मिथिला के राजा लक्ष्मणसेन के पुत्र महाराजाधिराज बल्लालसेन ने यह ग्रन्थ बनाया है। इसमे लिखा है कि बल्लालसेन शक १०८२ मे गद्दी पर बैठे और उन्होने शक १०९० मे यह ग्रन्थ बनाया। इसमे वाराहीसहिता सदृश विषय है। उसकी अपेक्षा कुछ नवीन भी है या नही—यह मैंने नही देखा है। तथापि सुधाकर ने लिखा है कि ग्रन्थ देखने योग्य है। इसमे अध्यायो को आवर्त कहा है। ग्रहणविषयक आवर्त मे लिखा है कि बुधभार्गवाच्छादन के बिना यदि सूर्य मे छिद्र दिखाई दें तो परचक्र आता है। इससे सिद्ध होता है कि उन्हे बुधशुक्रकृत सूर्यबिम्बभेद और सूर्य के धब्बो का ज्ञान था, क्योकि बिम्बभेद के बिना दिखाई देने वाले छिद्र सूर्य के धब्बे ही हैं। इन्होने लिखा है कि दोनो अयन कब होते है, इसे मैंने ठीक देखा है (और उसके द्वारा अयनाश निश्चित किये है)। इससे इनकी अन्वेषकता व्यक्त होती है। इस ग्रन्थ मे अनेक ग्रन्थकारादिको के नाम आये है। उनमे वसन्तराज और प्रभाकर तथा वटकणिका, विष्णुधर्मोत्तर और भागवत ग्रन्थ है।

व्यवहारप्रदीप—इस नाम का सहितामुहूर्त स्कन्ध का एक उत्तम ग्रन्थ पद्मनाभकृत है। यमुनापुर नगर के निवासी शिवदास नामक ब्राह्मण के पुत्र गगादास थे। उनके पुत्र कृष्णदास पद्मनाभ के पिता थे। इनके ग्रन्थ मे भीमपराक्रम, श्रीपतिकृत रत्नमाला, दीपिका रूपनारायण, राजमार्तण्ड, सारसागर, रत्नावली, ज्योतिस्तन्त्र (गणितग्रन्थ), व्यवहारचण्डेश्वर और मुक्तावली के वचन आये है। सुधाकर ने लिखा है कि भास्करकथित बीजगणितग्रन्थकार पद्नाभ ये ही है, परन्तु बात ऐसी नही है। बीजगणित ग्रन्थकार पद्मनाभ शक ७०० के पहिले के है और व्यवहारप्रदीप शक ९६४ के बाद का है, क्योकि इसमे रत्नमाला और राजमार्तण्ड का उल्लेख है। पद्मनाभ के ग्रन्थ में लिखे हुए सूर्यसिद्धान्त और वाराहीसहिता इत्यादिको के वचन उन ग्रन्थो मे मिलते है, परन्तु उसका एक श्लोक और उसमे शौनकसहिता, वसिष्ठसहिता और ज्योतिस्तन्त्र के नाम पर उद्धृत किये हुए एक-एक श्लोक अर्थात् सब चार श्लोक सिद्धान्तशिरोमणि मे हैं।[1] सुधाकर ने लिखा है कि भास्कराचार्य ने ये श्लोक उन ग्रन्थो से लिये है, परन्तु उन श्लोको के स्वरूप से मुझे पद्म नाभ का ही लेख अविश्वसनीय प्रतीत होता है और यह ग्रन्थ शक १०७२ के बाद का ज्ञात होता है।

---

१. 'तुष्यन्तु' गणिताध्याय मध्यमाधिकार श्लोक ५। 'दिव्यं ज्ञानं' गोल-छेद्यक श्लोक ६। 'यो वेद' गो० श्लोक ८। 'असंक्रान्ति' मध्यमाधि० श्लोक ६।

ज्योतिर्विदाभरण—यह मुहूर्तग्रन्थ है। इसमे लिखा है कि इसे रघुवंशादि काव्यो के रचयिता कालिदास ने गतकलि ३०६८ मे बनाया है, पर यह कथन मिथ्या है। इसमे ऐन्द्रयोग का तृतीय अश व्यतीत होने पर सूर्य-चन्द्रमा का क्रान्तिसाम्य बताया है, इससे इसका रचनाकाल लगभग शक ११६४ निश्चित होता है। यदि इसके रचयिता कालिदास ही है तो निश्चित है कि वे रघुवशकार कालिदास से भिन्न है।

विवाहवृन्दावन (लगभग शक ११६५)—मुहूर्तग्रन्थो मे एक प्रकरण विवाह के विषय में केशव नामक ज्योतिषी ने यह ग्रन्थ बनाया है। इसका वर्णन ऊपर कर चुके है। रत्नमालाटीकाकार माधव की शक ११८५ की टीका मे केशव का नाम आया है, वे केशव अनुमानत विवाहवृन्दावनकार ही होगे, अत इस ग्रन्थ का काल लगभग शक ११६५ अधिक सयुक्तिक ज्ञात होता है। माधव की टीका मे केशव-व्यवहार नामक एक ग्रन्थ का उल्लेख है। वह भी इन्ही का होगा।

विवाहपटल (शार्ङ्गधरकृत)—यह विवाहविषयक मुहूर्तग्रन्थ है। इसमे हेमाद्रि और माधव के नाम आये है और पीताम्बरकृत विवाहपटल की शक १४४६ की टीका मे इसका उल्लेख है, अत इसका रचनाकाल शक १४०० के आसपास होगा। मालूम होता है, इसका एक नाम सारसमुच्चय भी है। गणेशकृत मुहूर्ततत्त्व की टीका (लगभग शक १४५०) मे शार्ङ्गधर और सारसमुच्चय के नाम आये है। इससे भी सिद्ध होता है कि शार्ङ्गधर का काल शक १४०० से अर्वाचीन नही है। अब यहाँ इसमे आये हुए उन ग्रन्थकारादिको के नाम लिखते है, जिनके विषय मे इसके पूर्व कुछ भी नही लिखा गया है। ग्रन्थकार—हरि, गदाधर, मुकुन्द, भार्गव, पवनेश्वर, लक्ष्मीधरभट्ट। ग्रन्थ-मुक्तावली, लक्ष्मीधरपटल, गदाधरपटल, रत्नोज्ज्वलसहिता। ये सब ग्रन्थ और ग्रन्थकार प्रायः मुहूर्तस्कन्ध के है।

मुहूर्ततत्त्व—यह ग्रन्थ नन्दिग्रामस्थ केशव का है। अत. इसका काल लगभग शक १४२० होगा। इसमें आरम्भ मे मुहूर्त ग्रन्थो के उपर्युक्त विषय तो है ही, पर उनके आगे "मुहूर्तखण्डः समाप्तः अथ सहिताखण्ड.) लिखकर ग्रहचार, ग्रहयुद्ध इत्यादि वाराहीसहिता के बहुत-से विषयों का सक्षिप्त वर्णन किया है, तथापि उस समय इन विषयो का प्रत्यक्ष उपयोग होता रहा होगा—यह शङ्कास्पद है। इस ग्रन्थ मे नौकाविषयक एक विशिष्ट प्रकरण है। यह यात्रा के बाद है। उसमे नौका बनाने, उसे पानी में छोडने, उससे यात्रा करने इत्यादि के मुहूर्त लिखे है। अन्य किसी भी मुहूर्तग्रन्थ मे यह प्रकरण नही है। इसकी टीका मे पूर्वाचार्यों के आधारभूत वचन बिलकुल नही दिये है। श्लोको मे नाल और सुकाण शब्दों का प्रयोग किया गया है। इनके विषय मे टीकाकार गणेशदैवज्ञ ने लिखा है—"लौकिकाविमौ प्रयोगौ गृहीतौ अभिधानादिष्व-

दृष्टत्वात्।' समुद्रतटवासी होने के कारण मल्लाह इनसे नौका सम्बन्धी मुहूर्त पूछते रहे होगे, अत यह नवीन प्रकरण इन्होने स्वय बनाया होगा। नावप्रदीप नामक इनका एक स्वतन्त्र ग्रन्थ (डे० का० सं० न० ३३२, सन् १८८२-८३) भी है। मुहूर्ततत्त्व सम्प्रति प्रचलित है। उस पर ग्रन्थकार के पुत्र गणेशदैवज्ञ की टीका है। वह लगभग शक १४५० की होगी। वह छप चुकी है। उसमे आये हुए मुहूर्तग्रन्थकारो और ग्रन्थो के वे नाम यहाँ लिखते है जिनके विषय मे अब तक कुछ नही लिखा गया है। ग्रन्थकार—वसन्तराज, भूपाल, नृसिह। ग्रन्थ—विवाहपटल, ज्योति सार, शान्तिपटल, सहितादीपक सग्रह, मुहूर्तसग्रह, अर्णव, विधिरत्न, श्रीधरीय, ज्योतिषार्क, भूपाल, वल्लभ, ज्योतिषप्रकाश।[1]

विवाहपटल (पीताम्बरकृत)—यह ग्रन्थ शक १४४४ का है। इसमे ५२श्लोक है। इस पर ग्रन्थकार की ही शक १४४६ की निर्णयामृत नाम की विस्तृत टीका है। पीताम्बर के पिता का नाम राम और पितामह का नाम जगन्नाथ था। वे महानदीमुखस्थ स्तम्भतीर्थ (खभात) के निवासी गौड ब्राह्मण थे। अब यहाँ इस ग्रन्थ की टीका में आये हुए ज्योतिष-ग्रन्थादिको के वे नाम लिखते है, जिनके विषय मे इसके पूर्व कुछ नही लिखा है।[2] ग्रन्थकार—प्रभाकर, वैद्यनाथ, मधुसूदन, वसन्तराज, सुरेश्वर, वामन, भागुरि, आशाधर, अनन्तभट्ट, मदन भूपालवल्लभ। ग्रन्थ—चिन्तामणि, विवाहकौमुदी, वैद्यनाथकृत विवाहपटल, व्यवहारतत्त्वशत, रूपनारायणग्रन्थ, ज्योतिषप्रकाश, सहिताप्रदीप, चूडारत्न, सहितासार, मौजीपटल, धर्मतत्त्वकलानिधि सग्रह, त्रिविक्रमभाष्य, ज्योति.सार, ज्योतिर्निबन्ध, सन्देहदोषौषध, सज्जनवल्लभ, ज्योतिश्चिन्तामणि, ज्योतिर्विवरण, ज्योतिर्विवेक, फलप्रदीप, गोरजपटल, कालविवेक। ये सब ग्रन्थकार और ग्रंथ प्रायः मुहूर्तस्कन्ध के है। इनके अतिरिक्त ताजिकतिलक और समुद्रतिलक के नाम आये है। अन्य विषयो के ग्रन्थो मे शब्द रत्नाकर नामक कोश का नाम है।

ज्योतिर्निबन्ध—यह शिवदासविरचित धर्मशास्त्रीय मुहूर्तग्रन्थ है। पीताम्बरकृत विवाहपटल की टीका मे इसका उल्लेख है अत. यह शक १४४६ के पहिले का है।

---

१. अन्य विषयों के ग्रन्थों के नाम—भागवत, आश्वलायन गृह्यकारिका, पद्मपुराण, स्मृत्यर्थसार, स्मृतिरत्नावली, नैषधकाव्य, नृसिहप्रबन्ध।

२. मुहूर्ततत्व की टीका लगभग इस टीका के समय की ही है पर उसका निश्चित शक ज्ञात नहीं है और इसका ज्ञात है इसलिए उसमें आये हुए ग्रन्थादिको के नाम यहाँ पुनः लिखे हैं।

हैं। पीयूषधारा टीका (शक १५२५) मे आये हुए ज्योतिषग्रन्थो के वे नाम जिनके विषय मे अब तक कुछ नही लिखा गया है, ये है—जगन्मोहन और ज्योतिषरत्नसग्रह।

मुहूर्तचूडामणि—इसे शिव नामक ज्योतिषी ने बनाया है। शिव का कुलवृत्तान्त ऊपर लिख चुके हैं। इस ग्रन्थ का रचनाकाल लगभग शक १५४० होगा।

मुहूर्तकल्पद्रुम—कृष्णात्रिगोत्रीय विठ्ठलदीक्षित ने यह ग्रन्थ बनाया है। इस पर उन्ही की शक १५४९ की मुहूर्तकल्पद्रुममञ्जरी नाम की टीका है।

मुहूर्तमाला—इसे विक्रमसवत् १७१७ (शक १५८२, सन् १६६०) में रघुनाथ नामक ज्योतिषी ने काशी मे बनाया है। रघुनाथ शाण्डिल्य गोत्रीय महाराष्ट्र चित्पावन ब्राह्मण थे। इनके पूर्वज दक्षिण कोकण मे दाभोल के दक्षिण पालशेत मे रहते थे। इनके पितामह का नाम केशव था। इनके पिता नृसिह काशी मे जाकर रहने लगे थे। वे अकबर बादशाह के मान्य थे। अकबर ने जब आसेरी का किला जीता, उस समय नृसिह को ज्योतिर्वित्सरस पदवी मिली। यह ग्रन्थ छप चुका है। ग्रन्थकार ने लिखा है :—

जित्वा दाराशाह सूजाशाहं मुरादशाहञ्च।
अवरगजेबशाहे शासत्यवनी ममायमुद्योग ॥

मुहूर्तदीपक—इसे भुज (कच्छ) निवासी महादेव नामक ज्योतिषी ने शक १५८३ मे बनाया है। उनके पिता का नाम कान्हजी था। उन्होने अपने पिता को रैवतकराज-पूजितपद कहा है। ग्रन्थकार ने स्वय इसकी टीका की है। आफ्रेंच के कथनानुसार उसमे अमृतकुम्भ, लक्षणसमुच्चय और सारसंग्रह ग्रन्थों के भी नाम आये हैं। ग्रन्थकार ने लिखा है कि मैं अमुकामुक ग्रन्थ बना रहा हूँ। उसमे इसके पहिले न आये हुए नाम व्यवहारप्रकाश, और राजवल्लभ है। यह ग्रन्थ छप चुका है।

मुहूर्तगणपति—विक्रमसवत् १७४२ (शक १६०७) मे गणपति नामक ज्योतिषी ने इसे बनाया है। इन्होने अपने वृत्तान्त मे लिखा है —

गौडोर्वीशशिरोविभूषणमणिर्गोपालदासोऽभवन-
मान्धातेत्यभिरक्षिताद् व्यलभते ख्याति स दिल्लीश्वरात् (यह औरंगजेब होगा)।
तत्पुत्रो विजयी मनोहरनृपो विद्योतते सर्वदा ॥

इस मनोहर राजा को ग्रन्थकार ने 'गौडान्वयकुमुदगणानन्दिचद्र' भी कहा है। मनोहर के पुत्र युवराज राम की इच्छानुसार उन्होने यह ग्रन्थ बनाया है। ये भारद्वाज गोत्रीय औदीच्य गुर्जर ब्राह्मण थे। इनका उपनाम रावल मालूम होता है। इनके

पिता इत्यादिको के नाम क्रमश हरिशकर, रामदास, यशोधर और ब्रह्मर्षि थे। यह ग्रन्थ छप चुका है।

मुहूर्तसिन्धु—पूनानिवासी वेदशास्त्रसम्पन्न गगाधरशास्त्री दातार (जन्मशक १७४४, समाधिशक १८१०) ने मुहूर्तसिन्धु नामक सस्कृत मराठी ग्रन्थ शक १८०५ मे बनाया है। इसमे भिन्न-भिन्न लगभग ३८ ग्रन्थो के आधार पर मुहूर्तादिक और उनके अपवाद-प्रत्यपवादो का विस्तृत विवेचन किया है। यह ग्रन्थ छप चुका है।

जिनके काल के विषय मे कुछ बाते ज्ञात थी, उन ग्रन्थो का वर्णन यहाँ तक किया गया। इनके अतिरिक्त और भी बहुत-से मुहुर्तग्रन्थ है।

सम्प्रति इस (महाराष्ट्र) प्रान्त के पञ्चाङ्गो मे संवत्सरफल प्राय कल्पलता नामक ग्रन्थ द्वारा लिखा जाता है। इसे जलदग्रामवासी रुद्रभटात्मज सोमदैवज्ञ ने शक १५६४ मे बनाया है। कोई-कोई राजावली ग्रन्थ से भी फल लिखते है। कुछ अन्य प्रान्तो मे जगन्मोहन, नरेन्द्रवल्ली और समयसिद्धांजन इत्यादिको द्वारा लिखते है।

शकुन

सहितास्कन्ध का ही एक अङ्ग शकुन है। इस पर नरपतिकृत नरपतिजयचर्या नामक एक बडा प्राचीन अर्थात् विक्रम संवत् १२३२ (शक १०९७) का ग्रन्थ है। नरपति जैन मालूम होते है। इसे उन्होने अन्हिलपट्टन में बनाया था। इनके पिता आम्रदेव धारा नगरी में रहते थे। वे बहुत बडे विद्वान् थे। इस ग्रन्थ मे स्वर द्वारा मुख्यत. राजाओ के लिए शुभाशुभफल बताये है। ग्रन्थकार ने इसकी ग्रन्थसंख्या ४५०० लिखी है। मालूम होता है इसे स्वरोदय और सारोद्धार भी कहते है। जिन ग्रन्थों के आधार पर यह बना है उनके नाम ग्रन्थकार ने आरम्भ में इस प्रकार लिखे है—

> श्रुत्वादौ यामलान् सप्त तथा युद्धजयार्णवम्। कौमारीकौशलञ्चैव योगिना योगसम्भवम्।।४।। रक्तत्रिमूर्तिक (रक्ताक्ष तन्त्रमुख्यं) च स्वरसिंह स्वरार्णवम्। भूबल गारुडं नाम लम्पट स्वरभैरवम्।।५।। तन्त्रबलञ्च ताक्ष्य (तन्त्र रुणाग दाक्ष) च सिद्धान्तं जयपद्धतिम्। पुस्तकेन्द्रं पटौकश्रीदर्पण ज्योतिषार्णवम्।।६।। सारोद्धार प्रवक्ष्यामि ···

इनके अतिरिक्त इसमे वसन्तराज ग्रन्थकार तथा चूणामणि[1] और गणितसार ग्रन्थो के नाम भी आये है, अत ये सब शक १०९७ के पहिले के है। इस पर हरिवशकृत

---

१. राजमार्तण्ड में चूड़ामणि का उल्लेख है अतः यह ग्रन्थ शक ९६४ के पहले का है।

जयलक्ष्मी नाम्नी तथा नरहरि, भूधर और रामनाथ की टीकाएँ हैं।[1] नैमिषक्षेत्रवासी सूरदास के पुत्र राम वाजपेयी[2] का स्वरशास्त्र पर समरसार नामक ग्रन्थ है। उस पर उनके भाई भरत की टीका है। यह स्वरशास्त्र मुख्यत नासिका से निकले हुए वायु के आधार पर बनाया गया है। इस विषय के अन्य भी बहुत-से ग्रन्थ हैं।

१. नरपतिजयचर्या के विषय में यहाँ लिखी हुई बातें भिन्न-भिन्न ५ ग्रन्थो से ली गयी हैं। नरपति ने लिखा है कि मैंने ज्योतिषकल्पवृक्ष नामक ग्रन्थ में सम्पूर्ण ज्योतिषगणित लिखा है।

२. राम के लेख से ज्ञात होता है कि उनका करणचिन्तामणि नामक एक करण ग्रन्थ है। उनका एक और ग्रन्थ कुण्डविषयक है। वह शक १३७१ का है।

३. जातकस्कन्ध

मनुष्य की जन्मकालीन ग्रहस्थिति या तिथि - नक्षत्रादिकों द्वारा उसके जीवन के सुख-दु खादिको का निर्णय जिस शास्त्र द्वारा किया जाता है, उसे होराशास्त्र या जातक कहते हैं । ज्योतिषशास्त्र के इसी स्कन्ध मे से ताजिक नाम की एक शाखा बाद मे निकली ।. उसका विवेचन आगे करेगे । यहाँ पहिले जातक का सक्षिप्त स्वरूप दिखाते है ।
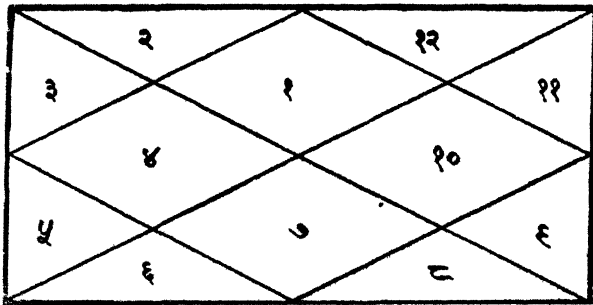
इस क्षेत्र को कुण्डली कहते है । इसमे जहाँ १ लिखा है उस घर मे जन्मकालीन लग्न की राशि का अक लिखते है । जैसे यदि सिंह लग्न मे जन्म हुआ है तो यहाँ ५ लिखेंगे । इसे प्रथम स्थान कहते है । इसके बाद के घरो मे क्रमश. आगे की राशियाँ लिखी जाती है । जन्म के समय ग्रह जिन राशियो मे रहते है वे राशियाँ कुण्डली के जिन घरो मे रहती है, उन्ही मे वे ग्रह भी लिखे जाते है । जन्मलग्न उस राशि को कहते है जो जन्म के समय क्षितिज के पूर्व भाग मे लगी रहती है । लग्नकुण्डली को भूमि पर क्रान्तिवृत्त के धरातल में इस प्रकार खड़ी करिए जिसमे लग्न पूर्व की ओर और सप्तम स्थान पश्चिम ओर पडे । बस, यही जन्मकालीन आकाशस्थिति है । इसमें कुण्डली के ऊपर वाले आधे भाग को क्षितिज के ऊपर का आकाशार्ध, नीचे वाले आधे को क्षितिजाध: स्थित आकाशार्ध, दशम स्थान को खमध्य और चतुर्थ को बिल्कुल नीचे वाला पातालस्थान समझिए । कुण्डली के जिन घरो मे, २, ३ इत्यादि अक लिखे है, उन्हें

द्वितीयस्थान, तृतीयस्थान इत्यादि कहते हैं, उनमे राशि चाहे जो हो। इन १२ स्थानो के क्रमश तनु, धन, सहज, सुहृद, सुत, रिपु, जाया, मृत्यु, धर्म, कर्म, आय और व्यय ये १२ नाम हैं। इन नामो से सम्बोधित होने वाले तथा तत्सम्बन्धी अन्य सभी पदार्थो का विचार उन स्थानो मे स्थित ग्रहो द्वारा तथा अन्य स्थानो मे स्थित ग्रहो के दृष्ट्यादि सम्बन्ध द्वारा किया जाता है। उदाहरणार्थ—पत्नी सम्बन्धी सब फलो का विचार सप्तम स्थान से किया जाता है। इन १२ स्थानो के अन्य भी बहुत से नाम हैं। मनुष्यो के सुख-दु ख का सम्बन्ध इन १२ के अतिरिक्त अन्य भी अनेक बातो से रहता है पर ये सामान्य नाम हैं। विचारणीय सभी विषयो का समावेश इनमे से किसी न किसी मे कर दिया जाता है। उदाहरणार्थ—राजा से सम्बन्ध रखनेवाली अधिकाश बातो का विचार दशम स्थान से किया जाता है। फलादेश अधिकतर इस लग्नकुण्डली द्वारा और कभी-कभी राशिकुण्डली द्वारा किया जाता है। राशिकुण्डली उसे कहते हैं जिसमे प्रथम घर मे चन्द्रराशि लिखी रहती है और शेष बाते जन्मकुण्डली के समान ही रहती हैं। कुछ अन्य प्रकार की कुण्डलियाँ भी कल्पित की गयी हैं। इस पद्धति मे स्वगृह और उच्च की भी एक कल्पना की गयी है। कर्क और सिह राशियाँ क्रमश चन्द्रमा और सूर्य के गृह और इनके दोनो ओर की मिथुन और कन्या बुध-गृह मानी गयी हैं। इसी प्रकार वृष और तुला शुक्र के, मेष-वृश्चिक मगल के, मीन और धनु गुरु के, कुभ और मकर शनि के गृह माने गये हैं। उच्चो मे यह क्रम नही है। जातक के उच्च गणित के उच्चो से भिन्न हैं। गणित सम्बन्धी सूर्य का उच्च सम्प्रति निरयन मिथुन और सायन कर्क मे है पर जातक मे सूर्य का उच्च मेष है। पता नही चलता, इन उच्चो की कल्पना किस आधार पर की गयी है। सायन उच्चो की गति है। कुछ लोगो का कथन है कि जातक मे उच्चो की कल्पना उस समय की गयी जब कि कक्षान्तर्गत उच्चो के सायन मान जातकोक्त उच्चो के तुल्य थे। निरयनमतवादियो को तो यह बात मान्य नही होगी पर समय का विचार करने से मुझे भी ऐसा होना असम्भव मालूम होता है, क्योकि सूर्य का उच्च सायन मेष मे शकपूर्व लगभग ४१०० से २३०० तक था। मगल का जातकोक्त उच्च मकर है। उसकी कक्षा का उच्च सायन मकर मे शक पूर्व ११५०० से ९७०० तक था। इसके बाद कभी भी नही था, इसमे कोई सन्देह नही है। इतने प्राचीन काल मे जातकशास्त्र का होना ही सन्देहग्रस्त है तो फिर उपर्युक्त कल्पना का क्या ठिकाना! ऐसा कहने वाले भी कुछ लोग हैं कि उस समय मेषादि सज्ञाएँ थी, ग्रहो का ज्ञान था, इतना ही नही ज्योतिषगणित और जातक का उत्तम ज्ञान था, पर मुझे यह सब असम्भव मालूम होता है। जातक मे ग्रहो का परस्पर मित्रत्व, शत्रुत्व इत्यादि माना गया है। ग्रह अपने गृह या उच्च मे रहने पर अच्छा फल

देते है, शत्रुगृह या नीच में रहने पर अथवा वक्री होने पर उनके फल भिन्न प्रकार के होते है, ग्रहो की दृष्टि के अनुसार फलो का न्यूनत्व, अधिकत्व और शुभाशुभत्व होता है— इस प्रकार की बहुत सी कल्पनाएँ की गयी है। उनमे से कुछ तो व्यवहार के अनुसार है पर कुछ ऐसी है जिनके आधार का पता नही लगता। फलादिकों के विषय मे सब ग्रन्थो का मतैक्य नही है। उनमे बहुत से भेद है। यूरोप मे आजकल सायन राशियो द्वारा फलादेश किया जाता है। माधवराव ब्रह्माजी और जीवनराव त्र्यम्बकराव चिटणीस[1] इत्यादिको का कथन है कि हमारे ग्रन्थो के फल निरयन की अपेक्षा सायन मान से अधिक घटते है।

ग्रहों से मनुष्यों का सम्बन्ध

मनुष्य के जीवन से आकाशस्थ ग्रहो का सम्बन्ध होने मे बहुतो को सन्देह होता है और ऐसा होना स्वाभाविक है, परन्तु मेरा यह निश्चित मत है कि वह सम्बन्ध है। यद्यपि इस समय इसके सूक्ष्म हेतु नही बतलाये जा सकते पर सम्बन्ध होने मे सन्देह नही है। मनुष्यो के शरीरलक्षणों द्वारा जन्मलग्न बताने वाले ज्योतिषी पटवर्धन के निम्नलिखित जीवनचरित्र से इसका स्पष्टीकरण हो जायगा।

बाबाजी काशीनाथ पटवर्धन

इनकी महाडकर नाम से विशेष प्रसिद्धि है। इनका जन्म शक १७८७ वैशाख कृष्ण १४ को धनु लग्न मे चिपलूण के पास पाचेरी सडा उर्फ मोभार नामक स्थान मे हुआ। उन्होने जातकशास्त्र का यह अश्रुतपूर्व ज्ञान प्राय स्वयं सम्पादित किया है। जब ये १३ वर्ष के थे, इनके पिता का देहावसान हो गया। इनका मराठी-शिक्षण प्रथम सन् १८७७ मे गणपति पुले मे, सन् १८७८ से १८८० तक मालगुण्ड में और इसके बाद १८८२ तक थाना मे हुआ। सन् १८८३ मे इन्हें अलीबाग जिले मे कोर्ट की नौकरी मिली। वहाँ १८८६ तक रहे। इसके बाद कुछ दिनो तक महाड के कोर्ट मे थे इसी लिए इन्हे महाडकर कहते है। सन् १८९३ से ये नौकरी छोडकर इचलकरजी और मुख्यत कोल्हापुर मे वकालत करते हैं। इनका अधिक समय अन्य व्यवसाय मे व्यतीत होता है।

सन् १८८२ मे इन्हे एक द्रविड ब्राह्मण ज्योतिषी ने, जो कि विक्षिप्त था— मनुष्य के शरीर-लक्षणों द्वारा जन्मलग्न जानने के कुछ मूलतत्व बताये। उसके बाद इन्होने अनेक ग्रन्थ देखकर, जहाँ तक हो सका उनमे बतलाये हुए लक्षणो की एकवाक्यता

---

१. सम्प्रति ये दोनों बम्बई में रहते हैं।

तथा स्वयं सैकडो मनुष्यो की आकृतियो का निरीक्षण करते हुए अपना ज्ञान बढाया। सन् १८९१ से इनके इस ज्ञान की प्रसिद्धि हुई। मुखचर्या देखकर कुण्डली बनाने मे इनकी बुद्धि बडी तीव्र है। मनुष्य पर दृष्टि पडते ही थोड़े से समय मे ये उसकी कुण्डली बना लेते है। यह कार्य ये मुख्यत मुखचर्या के आधार पर करते है और कभी-कभी जीभ तथा हस्ततल भी देखते है। ये शरीरलक्षणो द्वारा जन्मकालीन लग्न और ग्रहो की राशियाँ ही नही, ग्रहो के अश तक बताते है। अशो मे औसत एक या दो से अधिक अन्तर नही पडता, इसका मैने स्वय प्रत्यक्ष अनुभव किया है। सर्वदा अश नही बताते, अधिकतर केवल राशियाँ ही बताते है।

गुरु किसी राशि से चलकर १२ वर्षो मे पुन उसी राशि मे आ जाता है। शनि ३० वर्षों मे आता है। सूर्य चैत्रादि मासो मे मेषादि राशियो मे रहता है। सूर्य और चन्द्रमा के अन्तर द्वारा तिथि लायी जाती है। इन नियमो द्वारा ज्योतिषगणित जानने वाला कोई भी मनुष्य लग्नकुण्डली देखकर यदि मनुष्य सामने हो तो उसका जन्मकाल बता सकता है। जन्मकाल ज्ञात होने पर तो ज्योतिषगणित द्वारा तत्कालीन लग्न और ग्रहो का ज्ञान हो ही जाता है, पर पटवर्धन ये बाते शरीरलक्षणो द्वारा बताते है अर्थात् शरीर-लक्षणो से वे यह जान लेते है कि जन्म के समय अमुक राशि का उदय हो रहा था और अमुक ग्रह आकाश मे अमुक स्थान मे था। कुण्डली मे उनकी स्थापना करने पर उपर्युक्त रीति से जन्मकाल बताया जा सकता है।

इससे यह सिद्ध होता है कि जन्मकालीन आकाशस्थ ग्रहस्थिति और लग्न के अनुसार मनुष्यों के शरीर मे कुछ लक्षण उत्पन्न होते है अर्थात् ग्रहो का मनुष्यों से सम्बन्ध है। इस विषय में अनेक शकाएँ हो सकती है पर यहाँ उन सबो का समाधान करने की आवश्यकता नही है। पटवर्धन की विद्या जाने बिना इस विषय का पूर्ण विवेचन नही किया जा सकता। फिर भी सम्भवनीय शकाओ का यथाशक्ति विचार कर लेने के बाद ही मैने अपना उपर्युक्त मत निश्चित किया है। पटवर्धन प्रत्येक शका का उत्तर देने के लिए तैयार है और इस काम की फीस वे कुछ भी नही लेते—यह सर्वत्र प्रसिद्ध है।

पटवर्धन केवल जन्मकाल और थोडा सा फल बताते है। बहुत से लोग उनकी जन्मकाल बताने की प्रक्रिया न जानने के कारण उनकी विद्या का महत्व नही समझ पाते। कुछ लोग तो ऐसा भी समझते है कि ये बाते मन्त्रसिद्धि के बल पर बताते है परन्तु यह उनका भ्रम है। शरीरलक्षणो द्वारा जन्मलग्न इत्यादि बताने वाली विद्या को सामुद्रिक कह सकते है पर पटवर्धन के सामुद्रिक का ज्योतिष से निकट सम्बन्ध है। वे मनुष्यो का थोडा सा भूत-भविष्य भी बताते है। मैने देखा है, उनमे से बहुत

सी बाते ठीक होती है, पर उनकी इस शाखा ने अभी पूर्णत्व नही प्राप्त किया है। सैकडो अनुभवो द्वारा इसके नये-नये नियम बनाने होगे। शरीरलक्षणो द्वारा जन्मकालीन ग्रहस्थिति बतलाना पटवर्धन का मुख्य विषय है। कुछ ऐसे भी उदाहरण मिलते है जिनमे जन्मलग्न सशयित रह जाता है पर उनकी सख्या बहुत थोडी है। यद्यपि गुरु एक राशि मे वर्ष भर रहता है पर उसकी राशि सदा वर्षारम्भ मे नही बदलती। वर्ष के मध्य मे राशि बदलने से उसकी एक ही राशि का सम्बन्ध दो वर्षों से हो जाता है, जैसे कि शक १८१८ और १८१९ दोनो मे वह कुछ दिनो तक सिहस्थ था। इसी प्रकार सूर्य की प्रत्येक राशि का सम्बन्ध प्राय दो मासो मे रहता है अर्थात् यदि जन्म कालीन सूर्य मेष का है तो केवल राशि द्वारा निश्चित रूप से यह नही बताया जा सकता कि जन्म के समय चैत्र था या वैशाख। इसी प्रकार चन्द्रमा एक राशि मे सवा दो दिन तक रहता है। इस कारण केवल राशि द्वारा जन्मकाल बताने मे कभी-कभी एक वर्ष, एक मास या एक दिन का अन्तर पड जाता है, पर पटवर्धन राशियो के अश भी जान लेते है, इसलिए यदि वे सन्दिग्ध वर्ष का पञ्चाङ्ग देखकर बतायेगे तो अशुद्धि कभी न होगी। मुझे इस बात का पूर्ण विश्वास है कि यदि वे पञ्चाङ्ग देखकर ध्यानपूर्वक बतायेगे तो दस मे से कम से कम आठ कुण्डलियाँ बिलकुल ठीक-ठीक मिलेगी।

मनुष्य का मनुष्य से सम्बन्ध

पिता के शरीरलक्षणो द्वारा पुत्र की जन्मकुण्डली बनाते हुए भी मैंने पटवर्धन को कई बार देखा है। एक बार रा० ब० नारायण भाई दाडेकर की मुखाकृति देखकर उन्होंने १५-२० मिनट में उनके गणेश नामक पुत्र की प्राय सभी ग्रहो से युक्त जन्म-कुण्डली मेरे सामने बनायी। यह विधि किसी भी ग्रन्थ में नही लिखी है। पट-वर्धन ने इसका अभ्यास स्वयं किया है। जातकशास्त्र द्वारा क्या-क्या विलक्षण बाते निष्पन्न हो सकती है, यह बतलाना कठिन है। अनुभव द्वारा इस शास्त्र को बढाना चाहिए। मै समझता हूँ, ऐसा करने से आधुनिक अन्य शास्त्रो की भाँति जातक भी अनुभवालम्बी एक उत्कृष्ट शास्त्र बन जायगा।

जातकशास्त्र

कुभकोण मे गोविन्द चेट्टी नाम का एक शूद्र है। उसकी विद्या पटवर्धन से भी विचित्र है। वह केवल जन्मकाल ही नही, मनुष्य के मन का किसी भी भाषा का प्रश्न और उसका उत्तर बतलाता है—ऐसा लोग कहते हैं। वह ये बाते ज्योतिषशास्त्र की सहायता से बताता है या किसी अन्य विद्या द्वारा, इसका पता नही लगा है। अभी तक उसका इस विषय का कोई ग्रन्थ प्रकाशित नही हुआ है। पटवर्धन ने भी अभी तक कोई

ग्रन्थ नही लिखा है। यदि लिखेगे तो ससार को कुछ स्थायी लाभ होगा अन्यथा जैसा कि बहुत से ज्योतिषियो के विषय मे लोग कहा करते है कि वे बडे अच्छे थे, उनका भविष्य ठीक मिलता था और कुछ दिनो बाद उनका नाम तक लुप्त हो जाता है, वही स्थिति इनकी भी होगी। शरीरलक्षणो द्वारा जन्मलग्न जानने के कुछ प्रकार जातक-ग्रन्थो मे मिलते है परन्तु पटवर्धन और गोविन्द चेट्टी ने जो विद्या सिद्ध की है उसके ग्रन्थ नही है। हो तो भी वे सबको प्राप्त नही है परन्तु इस विद्या के मूलतत्त्व परम्परागत है, इसमे कोई सन्देह नही है।

अमुक लग्न मे उत्पन्न मनुष्य के अमुक लक्षण होगे, मनुष्य के शरीर का विचार कुण्डली के प्रथम स्थान से, पत्नी का सप्तम से, सम्पत्ति का अमुक से करना चाहिए, हाथ मे अमुक रेखा अमुक प्रकार की हो तो जन्म के समय सूर्य अमुक राशि मे रहा होगा——इत्यादि नियमो और जातकशास्त्र के मूलतत्त्वो को जिन्होने सर्वप्रथम निश्चित किया वे पुरुष धन्य है। इस समय हम इतना नि सकोच कह सकते है कि जातकशास्त्र की रचना किसी न किसी आधार पर हुई है और मनुष्य का ग्रहो से सम्बन्ध है।[1]

१ जातक के विषय मे सायन मान नैसर्गिक है या निरयन——पटवर्धन की विद्या के आधार पर इसका निर्णय करने के उद्देश्य से मैंने शक १८१५ से बडा परिश्रम किया, पर सम्प्रति इसमें सफलता प्राप्त होने की आशा नही दिखाई देती। शरीरलक्षणो द्वारा पटवर्धन को ज्ञात होने वाले कुछ ग्रह सापेक्ष रहते है। जैसे——अमुक मनुष्य के जन्म-काल में सूर्य और बुध मे २ अंश का अन्तर था, अमुक ग्रह लग्न से अमुक स्थान मे था। इससे सायन-निरयन का निर्णय नही हो पाता। दूसरी बात मुख्य यह है कि पटवर्धन ने इन लक्षणों का अभ्यास पटवर्धनी पञ्चाङ्ग से किया है। एक ही लक्षण कई मनुष्यो मे दिखाई देने पर उन्होंने उन मनुष्यो के जन्मकालीन लग्न और ग्रहपटवर्धनी पञ्चाङ्ग से निश्चित किये। उनमे से कुछ बाते मिलती-जुलती देखकर एक नियम बनाया और बार-बार उसका अनुभव होने पर उन्होंने यह निश्चित किया कि यह लक्षण होने पर अमुक लग्न या ग्रह के इतने अंश बीते होंगे। ये सिद्धान्त सायनपञ्चाङ्ग द्वारा भी बनाये जा सकते थे। सायन और निरयन ग्रहों के अन्तर पाँच-छः सौ वर्षों में सात-आठ अंश बढ़ जाते है। सायन-निरयन का भेद और पटवर्धन की विद्या, दोनों बातो के अच्छे ज्ञाता इतने दिनों तक अनुभव करें तो इसका निर्णय हो सकता है। पटवर्धन सम्प्रति मुखचर्यादिकों द्वारा ग्रहों के जो राश्यंश लाते है वे सायन राश्यंस से लगभग १८ अंश न्यून रहते हैं। ६०० वर्षों के बाद पटवर्धन के नियमानुसार मुखचर्या द्वारा निश्चित ग्रह और गणितागत सायन ग्रह में १८ अंश का ही अन्तर रहे तो जातक के विषय में सायन मान

जातक ग्रन्थो के पूर्ण स्वरूप का थोडे मे वर्णन करना कठिन है अत यहाँ जातक-स्कन्ध का केवल सक्षिप्त इतिहास लिखते है।

वर्तमान जातक पद्धति का आरम्भकाल

जातकस्कन्ध के सम्प्रति उपलब्ध दैवी ग्रन्थ गौरीजातक और कालचक्रजातक अथवा कालजातक और अपौरुषेय या आर्ष ग्रन्थ पाराशरी, जैमिनिसूत्र और भृगुसहिता मुझे मालूम है। पाराशरी के बृहत् और लघु दो भेद है। जातकस्कन्ध का उपलब्ध सबसे प्राचीन पौरुषेय ग्रन्थ वराहमिहिर का बृहज्जातक है। उसके अन्त मे लिखा है—

मुनिमतान्यवलोक्य सम्यग्घोरा वराहमिहिरो रुचिरा चकार ॥

उपसहाराध्याय

बीच मे भी एक जगह (अध्याय ६ श्लोक १०) 'मुनिगदित' लिखा है। पराशर का नाम दो जगह आया है। बृहत्सहिता के ग्रहगोचराध्याय मे माण्डव्य का उल्लेख है। बृहज्जातकटीकाकार भटोत्पल ने गार्गी, बादरायण, याज्ञवल्क्य और माण्डव्य के जातकसम्बन्धी वचन दिये है, उनमे गार्गी के वचन तो अनेक है। इनका ग्रन्थ वराह के पहिले का होगा। इससे ज्ञात होता है कि वराह के पूर्व जातक के कम से कम पाँच आर्ष ग्रन्थ अवश्य रहे होगे।[1] इनके अतिरिक्त वराह ने सत्य, मय, यवन, मणित्थ, जीवशर्मा और विष्णुगुप्त आचार्यो का भी उल्लेख किया है।[2] उनमे सत्य का नाम ६ बार आया है और "एके, केचित्, अन्ये, पूर्वशास्त्र, आद्याः" इत्यादि अस्पष्ट उल्लेख तो अनेक है। इससे सिद्ध होता है कि वराह के पहिले पौरुषग्रन्थकार भी बहुत से थे।

और यदि लगभग २६ अंश का अन्तर रहे तो शुद्ध नाक्षत्र (निरयन) मान नैसर्गिक सिद्ध होगा। पटवर्धन फलादेश में ग्रहों के उच्च, क्षेत्र, उनकी राशियाँ और लग्नादि निरयन लेते हैं तथापि केवल इतने से ही अभी कोई निर्णय नहीं किया जा सकता।

१. इनके अतिरिक्त गर्ग, वसिष्ठ, भारद्वाज, शौनक और अत्रि ऋषि के वचन अन्य ग्रन्थों में मिलते हैं। वरुणसंहिता नामक एक और ग्रन्थ सुनने में आता है।

२. इनके अतिरिक्त सप्तम अध्याय के ७-८ श्लोकों में देवस्वामी और सिद्धसेन के नाम आये हैं परन्तु उत्पल ने लिखा है कि ये दोनों श्लोक वराह के नहीं हैं। इनके अतिरिक्त शक्ति और भदन्त अथवा भवत्त क नाम आये हैं। उत्पल ने शक्ति का पराशर और भदन्त का सत्य अर्थ किया है।

छ. के तो उन्होंने नाम ही लिख दिये है। साराश यह कि वराह के पूर्व इस विषय के १०-१२ लोकमान्य ग्रन्थ थे और उनमे से पॉच तो ऋषिप्रणीत माने जाते थे। यह बात सौ-पचास वर्षो मे नही हो सकती, इसमे कम से कम चार सौ वर्ष लगे होगे। उत्पल ने लिखा है कि (बृ० जा० ७।७ टीका) वराहकथित विष्णुगुप्त चाणक्य है, अतः ये चन्द्रगुप्त के मन्त्री चाणक्य विष्णुगुप्त ही होगे। इसमे सन्देह होने का कोई हेतु नही है। इससे सिद्ध होता है कि वराहमिहिर के ८०० वर्ष पूर्व जातकस्कन्ध के ग्रन्थ प्रचलित थे अर्थात् हमे वर्तमान जातकशास्त्र का ज्ञान शककाल के चार-पॉच सौ वर्ष पूर्व भी था। वह आरम्भ से ही वराहकालीन जातक सदृश न रहा हो तो भी क्रमश वैसा बनता आया होगा। शकपूर्व ५०० के लगभग मेषादि सज्ञाएँ प्रचलित थी। उसी समय वर्तमान जातकपद्धति का प्रचार हुआ होगा। इसके पूर्व अथर्वज्योतिष की जातकपद्धति थी ही।

शकपूर्व चार-पॉच सौ वर्ष के लगभग जातकज्ञान था अत. गणितस्कन्ध भी उतना ही प्राचीन होगा, क्योकि ग्रहस्थिति का ज्ञान हुए बिना जातकविचार नही हो सकता। इतने प्राचीन काल मे गणितस्कन्ध का पूर्ण ज्ञान नही रहा होगा—यह भी नही कहा जा सकता। इसका विवेचन पहिले कर चुके है और शकपूर्व ५०० वर्ष के पूर्व गणितस्कन्ध का पूर्ण ज्ञान अर्थात् ग्रहस्पष्टगति का ज्ञान न रहा हो तो भी मध्यम गतिस्थिति का और सामान्यत. ग्रहो की राशियॉ जानने योग्य ज्ञान होने मे सन्देह बिलकुल नही है। गणित द्वारा शुद्ध ग्रहस्पष्टगति लाने का ज्ञान न होने पर भी केवल नेत्रो से ग्रहस्थान, उनके वक्री, मार्गी, उदित और अस्त होने के काल जाने जा सकते है और केवल इतने से जातकपद्धति का आरम्भ हो सकता है। साराश यह कि हमारे देश मे इतने प्राचीन काल मे पूर्ण गणित का ज्ञान नही रहा होगा अत॰ वर्तमान जातकपद्धति इतनी प्राचीन नही हो सकती—यह कथन अनुचित है। हमारे देश मे ग्रहगति का विचार हुआ और गणितस्कन्ध (हमारे ग्रन्थ जितने पूर्ण है उतने ही) पूर्णत्व को प्राप्त होकर आज तक टिका है—इसका एक मुख्य कारण ग्रहचार द्वारा होने वाले परिणाम का विचार है। सहिताग्रन्थो मे बताये हुए ग्रहचार के फलो को समझने की इच्छा, यज्ञ अथवा अन्य कार्यो के लिए मुहूर्त की आवश्यकता और ग्रहचार का प्रत्येक व्यक्ति पर होने वाला परिणाम—इन्ही तीन कारणो से हमारे देश मे ग्रहगणित उत्पन्न हुआ, बहुत कुछ पूर्ण हुआ और आज तक है (यूरोप मे वर्तमान पूर्णावस्था को पहुँचने का मुख्य कारण नौकागमन है तथापि वहॉ भी हमारे इतना पूर्णत्व प्राप्त होने के मुख्य कारण ये ही तीन है)। अत स्पष्ट है कि गणित की पूर्णावस्था आने के पहिले अर्थात् ग्रहगतिस्थिति का उत्तम ज्ञान होने के पूर्व ही वर्तमान जातकपद्धति की

स्थापना हुई होगी। इससे सिद्ध हुआ कि शककाल के चार-पाँच सौ वर्ष पूर्व हमारे देश मे वर्तमान जातकपद्धति स्थापित हुई—इस कथन मे अविश्वास का स्थान बिलकुल नही है।

जातकग्रन्थों का इतिहास

जातकस्कन्ध हमने पाश्चात्यो से लिया है अथवा नही, इसका विवेचन उपसहार मे करेंगे। जातक के सैकडो ग्रन्थ है। उन सबो का अवलोकन करना कठिन है। मुझे जिन थोडे से ग्रन्थो का प्रत्यक्ष या परम्परया कुछ ज्ञान है और जिनके काल के विषय मे कुछ बाते ज्ञात हुई है उन्ही का यहाँ संक्षिप्त इतिहास लिखा है। ये ग्रन्थ जातकसागर के एक कणतुल्य हैं।

पाराशरी

पाराशरी का नाम ज्योतिषियो मे बडा प्रसिद्ध है। इसके बृहत् और लघु दो भेद है। लघुपाराशरी उपलब्ध है और वह बडी प्रचलित है। उसकी बहुत सी टीकाएँ भी हो चुकी है। बृहत्पाराशरी नामक एक ग्रन्थ बम्बई के ज्ञानसागर प्रेस मे श्रीधर शिवलाल ने शक १८१४ मे छपाया है। इसके पूर्व और उत्तर दो खण्ड है। पूर्वखण्ड मे ८० अध्याय है। उस पुस्तक मे लिखा है कि इनमे से ५१ अध्याय भिन्न-भिन्न स्थानो मे बहुत प्रयत्न करने पर मिले और वे भी खण्डित थे, जटाशकरसुत श्रीधर ने इन्हे पूर्ण करके छपाया। पूर्वखण्ड मे ४१९६ श्लोक है। इनमे से कितने मूलग्रन्थ के है और कितने श्रीधर अथवा मुद्रक ने अन्य ग्रन्थों से लिये है, इसे जानने का कोई उपाय नही है। एक जगह अयनाश लाने के लिए ग्रहलाघव का श्लोक दिया है पर वहाँ यह नहीं लिखा है कि यह श्लोक ग्रहलाघव का है। साराश यह कि इसके पूर्वखण्ड को पराशरकृत कहना व्यर्थ है। उत्तर खण्ड मे २० अध्याय है। उनमे अधिकतर अनुष्टुप् छन्द के ८१२ श्लोक है। इसमे न लिखी हुई बाते गर्गकृत होराशास्त्र मे देखने को कहा है। कही-कही कुछ कार्य सायन ग्रहो द्वारा करने को कहे है। इससे अनुमान होता है कि शक ५०० के बाद इसमे कुछ मिश्रण हुआ होगा। तजौर के राजकीय पुस्तकालय मे पाराशरी का पूर्वार्ध है। उसकी ग्रन्थसंख्या १६५० है। उसके प्रथम अध्याय मे राशिस्वरूप का वर्णन है। उसके आरम्भ के दो श्लोक ये है—

मनोहरदाय दृष्टि (?) मन्दहासलसन्मुख·।
मंगलाय ······सर्वमंगलाजानिरस्तु न ॥१॥

मेषोक्षनरयुक्कर्किसिहकन्यातुलादय
धनुर्नक्रघटी ' ' इति द्वादश राशय ।।२।।

बम्बई की छपी हुई प्रति मे यह अध्याय और ये श्लोक नही है। उसके तृतीय अध्याय मे राशिस्वरूप बताया है पर उसमे भी ये श्लोक नही है। तजौर की प्रति मे अरिष्टाध्याय अन्त मे है और इसमे पाँचवाँ है। पता नही, वराह के पहिले की पाराशरी अपने वास्तव रूप मे कही उपलब्ध है या नही। भटोत्पल ने बृहज्जातक के सप्तम अध्याय के नवे श्लोक की टीका मे लिखा है--

पाराशरीया सहिता केवलमस्माभिर्दृष्टा न जातकम्। श्रुयते स्कन्धत्रय पराशरस्येति। तदर्थ वराहमिहिर शक्तिपूर्वैरित्याह।

अर्थात् "पराशर के तीन स्कन्ध सुनने मे आते है, इसी लिए वराहमिहिर ने शक्ति (पराशर) का उल्लेख किया है (अध्याय ७ श्लोक १), पर मैने वराह की केवल सहिता देखी है, उसका जातक नही देखा है।" भटोत्पल के समय (शक ८८८) भी पाराशरी उपलब्ध नही थी तो फिर इस समय कहाँ मिलेगी! लघु पाराशरी मिलती है पर उसकी भी यही अवस्था होगी। उसका एक दूसरा नाम उडुदायप्रदीप है। उसके आरम्भ मे लिखा है कि पाराशरी होरा के अनुसार दैवज्ञो के सन्तोषार्थ उडुदायप्रदीप बना रहे है। केवल इतने से ही यह बात सिद्ध हो जाती है कि वह वराह के पहिले की नही है।

जैमिनिसूत्र

जैमिनिसूत्र नाम का एक छोटा सा चार अध्यायो का गद्यात्मक सूत्ररूप ग्रन्थ सम्प्रति बहुत प्रचलित है। उसकी बहुत सी टीकाएँ हो चुकी है। उसमे रिफ और आर ये यावनी भाषा के शब्द आये है। वराहमिहिर और भटोत्पल के ग्रन्थो मे जैमिनिसूत्र का उल्लेख नही है अत जैमिनिसूत्र नामक आर्ष ग्रन्थ यदि है तो वह आज भी अपने आरभिक रूप मे ही है--इसमे सन्देह है। बर्नेल ने लिखा है कि मलावार मे जैमिनिसूत्र का बडा प्रचार है।

भृगुसहिता--यह बडा प्रसिद्ध ग्रन्थ है। नाम से तो यह आर्ष मालूम होता है परन्तु वराहमिहिर और भटोत्पल ने इसका उल्लेख नही किया है अत यह उनसे प्राचीन होगा, यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता। लोग कहते है कि इसमे प्रत्येक मनुष्य की जन्मकुण्डली रहती है। यदि यह सत्य है तो भिन्न-भिन्न लग्नो और भिन्न-भिन्न स्थानस्थित ग्रहो के भेदानुसार इसमें ७४६४९६०० कुण्डलियाँ और प्रत्येक कुण्डली

का फल यदि १० श्लोको मे लिखा हो तो ७५ कोटि श्लोक होने चाहिए । भृगुसहितोक्त कुछ ऐसी पत्रिकाएँ मिलती है जिनमे एक लग्न के भिन्न भिन्न अशो की भिन्न-भिन्न कुण्डलियाँ बनायी रहती है । इतनी कुण्डलियाँ मानने से उनकी सख्या बहुत बढ जायगी। इतना बडा ग्रन्थ होना असम्भव है। पूना मे एक मारवाडी ज्योतिषी के पास भृगुसहिता का कुछ छपा हुआ भाग मैने देखा है। उसमे लगभग २०० कुण्डलिया है । प्रत्येक का फल लगभग ७० श्लोको मे लिखा है और इस प्रकार उसकी ग्रन्थसख्या १४००० है। वह ग्रन्थ बडा अशुद्ध है और उसमे लग्नो का कोई क्रम नही है। कश्मीर मे जम्ब के सरकारी पुस्तकालय मे भृगुसहिता है। उस पुस्तकालय का सूचीपत्र छपा है, उससे ज्ञात होता है कि वहाँ की भृगुसहिता मे लग्नो का क्रम है और उसकी ग्रन्थसंख्या लगभग १६०००० है। प्रत्येक कुण्डली का फल यदि ७० श्लोको मे लिखा होगा तो उसमे लगभग २३०० पत्रिकाएँ होगी। भृगुसहिता का कुछ भाग जिनके पास है वे प्रसग-वशात् कुछ धूर्तता करते होगे। किसी की नवीन पत्रिका बनाकर उसे वे भृगु-सहितोक्त कहकर देते होगे, फिर भी भृगुसहिता ग्रन्थ है—इसमे सन्देह नही है। भृगुसहितोक्त कुछ पत्रिकाएँ मैने देखी है, उनके अधिकतर फल ठीक होते है—यह मेरा मत है।

आनन्दाश्रम मे भृगुसहिता सरीखा ही भृगूक्त जातककल्पलता नाम का एक ग्रन्थ है। उसकी ग्रन्थसख्या १८०० है और उसमे २०० कुण्डलियो का विचार है।

नाडीग्रन्थ—चिदम्बरम् ऐयर बी० ए० ने The Hindu Zodiac मे लिखा है कि "नाडीग्रन्थ मे सभी भूत, वर्तमान और भविष्य मनुष्यो की जन्मकुण्डलियाँ है। मैने स्वय पाँच नाडीग्रन्थ देखे है और पाँच सुने है। सत्याचार्यकृत ध्रुवनाडीग्रन्थ सर्वोत्तम है। उसके लगभग ७० भाग दक्षिण भारत मे भिन्न-भिन्न मनुष्यो के पास है। उनमे प्रत्येक मनुष्य के जन्मकालीन निरयन स्पष्ट ग्रह लिखे है। उनमे और (नाटिकल आल्मनाक द्वारा लाये हुए) सूक्ष्म सायन ग्रहो मे सन् १८८३ के आरम्भ मे २०।२३'। ८" से २०।२५'।२२" पर्यन्त अन्तर है। अत मैने उस वर्ष का अयनाश २०।२४।१५ निश्चित किया है।" इस लेख मे दो बाते बडे महत्व की है। एक यह कि मद्रास प्रात में भृगुसंहिता सदृश बडे-बडे ग्रन्थ है और दूसरी यह कि उनके और नाटिकल आल्मनाक के ग्रहो मे केवल सवा दो कला का अन्तर है (अयनाश का सान्तर होना अशुद्धि नही है)। चिदम्बरम् के लेख से वे तज्ज्ञ और विश्वसनीय पुरुष ज्ञात होते है। नाडीग्रन्थ की ग्रहस्थिति बडी सूक्ष्म है, यह अत्यन्त आश्चर्य की बात है।

यवनाचार्य—वराहमिहिर ने यवनाचार्य का उल्लेख किया है। बृहज्जातक के सप्तम अध्याय के नवे श्लोक की टीका मे भटोत्पल ने लिखा है कि "यवनेश्वर स्फुजि-

ध्वज ने शककालारम्भ के बाद दूसरा शास्त्र बनाया। वराहमिहिर ने उनके पहिले के यवनाचार्य के मत लिखे हैं। मैंने उस यवनाचार्य का ग्रन्थ नही देखा है पर स्फुजिध्वज का देखा है। स्फुजिध्वज ने अपने ग्रन्थ मे लिखा है—"यवना ऊचु ।" इससे ज्ञात होता है कि वराह के पूर्व एक या अनेक ऐसे यवन ग्रन्थकार हो चुके थे जिनके ग्रन्थ भटोत्पल के समय उपलब्ध नही थे। उत्पल के मतानुसार वे शककाल से प्राचीन ज्ञात होते हैं। यवन शब्द का बहुवचनान्त प्रयोग होने का एक कारण यह भी हो सकता है कि वराह के समय यवनो का ग्रन्थ एक ही रहा होगा पर उसे मानने वाले यवन अनेक रहे होंगे। भटोत्पल ने स्फुजिध्वज को ही यवनेश्वर कहा है और उन्होंने यवनो के नाम पर जो वचन उद्धृत किये हैं वे उन्ही के ग्रन्थ से लिये हैं (वह ग्रन्थ सस्कृत मे है)। सम्प्रति मीनराजजातक नाम का एक ग्रन्थ उपलब्ध है। उसे बृद्धयवनजातक अथवा यवनजातक भी कहते हैं। उसके आरम्भ मे लिखा है कि पूर्वमुनि ने मय को जो एक लक्ष होराशास्त्र बताया था उसे मीनराज ने आठ सहस्र किया। भटोत्पललिखित (बृहज्जातक अध्याय १ श्लोक ५ की टीका) राशिस्वरूप सम्बन्धी यवनाचाय के १२ श्लोक तो मीनराजजातक मे हैं पर अन्य बहुत से नही हैं। इससे ज्ञात होता है कि स्फुजिध्वज का ग्रन्थ मीनराजजातक से भिन्न है और वराह के पहिले के यवनाचार्य इन दोनो के कर्ताओ से भिन्न तृतीय व्यक्ति है। प्राचीन ग्रन्थो को सक्षिप्त अथवा विस्तृत करके उनके बाद के ग्रन्थ बने होंगे परन्तु तीनो का मत सम्भवत एक ही होगा।

वराहमिहिर का बृहज्जातक और लघुजातक और उनके पुत्र पृथुयशा की षट्पंचाशिका सम्प्रति प्रचलित है। इन तीनो पर उत्पल की टीका है। लघुजातक पर ग्रहलाघवकार गणेशदैवज्ञ के भाई अनन्त की शक १४५६ की एक टीका है। बृहज्जातक पर बलभद्र की टीका थी। उसके अतिरिक्त महीदास और महीधर की टीकाएँ है। ये दोनो और लीलावतीटीकाकार महीदास और महीधर एक ही होंगे। तजौरराजसग्रह मे बृहज्जातक की सुबोधिनी नाम की एक और टीका है। आफ्रेचसूची मे इनके अतिरिक्त और ५-६ टीकाएँ लिखी हैं।

मीनराजजातक मे लल्ल का एक वचन दिया है। जातकसार ग्रन्थ के रचयिता नृहरि ने भी जातकग्रन्थकारो मे लल्ल का नाम लिखा है, अत· लल्ल का जातकविषयक भी एक ग्रन्थ रहा होगा।

भटोत्पल ने बृहज्जातक की टीका मे सारावली नामक ग्रन्थ के बहुत से वचन लिखे हैं और उनमे एक स्थान पर (अ० ७ श्लो० १३ की टीका) वराहमिहिर का नाम आया है, अतः सारावली ग्रन्थ वराह के बाद का और शक ८८८ के पहिले का है। सारावली नामक एक ग्रन्थ मैंने देखा है, उसमे उत्पलोद्धृत वचन नही है। उसके कर्ता का

नाम कल्याण वर्मा है। उन्होंने अपने को वटेश्वर भी कहा है। वराहमिहिर, यवननरेन्द्र इत्यादिको के ग्रन्थो का सार लेकर उन्होंने यह ग्रन्थ बनाया है। वटेश्वर नाम के एक ज्योतिषी शक ८२१ के लगभग थे अत उत्पलोद्धृत सारावली ही वटेश्वर या कल्याण वर्मा कृत सारावली है और उसका रचनाकाल लगभग शक ८२१ है।[1] उत्पल की टीका मे देवकीर्ति (१।१९) और श्रुतकीर्ति (१।७,८।९) के भी नाम आये है।

श्रीपति का जातकपद्धति नामक एक ग्रन्थ है। मुझे ये श्रीपति और रत्नमालाकार श्रीपति एक ही मालूम होते है क्योकि इन दोनो ग्रन्थो पर माधव की टीका है। रत्नमाला की माधवकृत टीका मे वृद्धजातक नामक जातकग्रन्थ का उल्लेख है अत. वह शक ११८५ के पहिले का होगा। नन्दिग्रामस्थ केशव (लगभग शक १४१८) ने अपनी जातकपद्धति की टीका मे श्रीधरपद्धति म्हालुगिपद्धति, दामोधर, रामकृष्णपद्धति, केशव मिश्र, वल्लयुपद्धति, होरामकरन्द और लघुपद्धति इन ग्रन्थो और ग्रन्थकारो का उल्लेख किया है। इनमे से आरम्भ के चार नाम विश्वनाथी टीका मे भी है। ये सब शक १४१८ के पहिले के है। नन्दिग्रामस्थ केशव ने श्रीपतिपद्धतिकार, भास्कराचार्य ने बीजगणितग्रन्थकार, रत्नमालाटीकाकार माधव ने मुहूर्तग्रन्थकार और कोलब्रुक ने गणितसारकार श्रीधर का उल्लेख किया है। ये चारो कदाचित् एक ही होगे। भटतुल्यकरणकार (शक १३३९) ही दामोधर होगे। भावनिर्णय नामक एक छोटा-सा जातकग्रन्थ विद्यारण्यकृत है। नन्दिग्रामस्थ केशव का जातकपद्धति नामक एक छोटा सा ४० श्लोको का ग्रन्थ है परन्तु वह बडा प्रसिद्ध है। उसे केशवी ही कहते है। उस पर विश्वनाथ का उदाहरण और ग्रन्थकार, नारायण तथा दिवाकर की टीकाएँ है। आफ्रेचसूची मे उसकी ७ और टीकाएँ लिखी है। जातकाभरण नामक एक प्रसिद्ध ग्रन्थ ढुण्ढिराजकृत है। वह लगभग शक १४६० मे बना है। उसमे फल क्रमश लिखे है अत कुण्डली बनाने वाले उसका अधिक उपयोग करते है। अनन्तकृत जातकपद्धति नामक एक ग्रन्थ शक १४८० के आसपास का है। मुहूर्तमार्तण्ड की टीका मे जातकोत्तम का उल्लेख है अत वह ग्रन्थ शक १४९३ के पहिले का है। केशवीय जातकपद्धति की विश्वनाथकृत टीका मे शिवदासकृत जातकमुक्तावली नामक ग्रन्थ का उल्लेख है।

---

१. सुधाकर ने लिखा है कि उसमें मन्दिल, देवकीर्ति और कनकाचार्य के नाम आये है। उनके मतानुसार वह ब्रह्मगुप्तकालीन है पर इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता।

वीरसिंह नामक राजा ने रामपुत्र विश्वनाथ पण्डित द्वारा होरास्कन्धनिरूपण नामक एक विस्तृत ग्रन्थ बनवाया है। इसे वीरसिंहोदयजातकखण्ड भी कहते हैं। इस ग्रन्थ का काल ज्ञात नही है, परन्तु इसमे जातकभरण के वचन दिये है। अत यह शक १४६० के बाद शक १५०० के आसपास बना होगा। इसमे अनेक प्राचीन ग्रन्थो के वचन देकर फल क्रमश लिखे है, अत कुण्डली बनाने वालो के लिए यह बडा उपयोगी है। यह अभी तक छपा नही है, पर छपाने योग्य है। इसमे शौनक और गुणाकर ग्रन्थ-कार तथा समुद्रजातक, होराप्रदीप और जन्मप्रदीप प्राचीन ग्रन्थो के नाम आये है।

जातकसार नामक एक विस्तृत ग्रन्थ नृहरिकृत है। ग्रन्थकार ने उसके आरम्भ मे लिखा है—वसिष्ठ, गर्ग, अत्रि, पराशर, वराह, लल्ल इत्यादिको ने होराशास्त्र बनाया है, पर उन्होने फल क्रमश नही लिखे है, अत जन्मपत्रिका मे क्रमश फल लिखने के लिए मै सारावली, होराप्रदीप, जन्मप्रदीप इत्यादि ग्रन्थो की सहायता से यह ग्रन्थ बना रहा हूँ। जातकालकार नामक एक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ गणेशकृत है। गणेश के पितामह कान्हजी भारद्वाजगोत्रीय ब्राह्मण थे। वे गुर्जराधिपति की सभा के भूषणीभूत थे। उनके सूर्यदास, गोपाल और रामकृष्ण तीन पुत्र थे। गोपाल के पुत्र गणेश ने ब्रध्नपुर मे शक १५३५ मे जातकालकार बनाया है। इसमे ६ अध्याय है। गणेश के गुरु का नाम शिवदास था। एक ग्रन्थ मे ब्रध्नपुर का अर्थ बरारपुर किया है, पर उसका निश्चित प्रमाण नही मिलता। इस ग्रन्थ पर शुक्लोपनामक कृष्णपुत्र हरभानु की टीका है। टीकाकार ने ब्रध्नपुर का अर्थ सूर्यपुर किया है।

दिवाकर का पद्मजातक नामक १०४ श्लोको का ग्रन्थ शक १५४७ का है। पद्धतिभूषण नामक एक ग्रन्थ शक १५५९ मे जलदग्रामवासी ऋग्वेदी रुद्रभटात्मज सोमदैवज्ञ ने बनाया है। जलदग्राम खानदेश का जलगाँव होगा। पद्धतिभूषण पर दिवाकरकृत टीका है। उसमे उदाहरणार्थ शक १७२९ लिया है। ये दिनकर और दूसरे भाग के शुरू मे वर्णित दिनकर एक ही है या भिन्न-भिन्न, इसका निश्चित प्रमाण नही मिलता। होरारत्न नामक ग्रन्थ दामोदरसुत बलभद्र ने बनाया है। वह शक १५७७ के आसपास का होगा। होराकौस्तुभ नामक एक ग्रन्थ नरहरिसुत गोविन्द ने शक १६०० के लगभग बनाया है। नारायणकृत दो ग्रन्थ होरासारसुधानिधि और नर-जातकव्याख्या शक १६६० के आसपास के है। सुधाकर ने लिखा है कि परमानन्द पाठककृत प्रश्नमाणिक्यमाला नामक एक उत्तम जातकग्रन्थ है। उसके चार भाग है। परमानन्द सारस्वत ब्राह्मण थे। वे काशीराज बलवन्तसिह के मुख्य गणक थे। उनका काल शक १६७० के लगभग है। पद्धतिचन्द्रिका नामक एक ग्रन्थ राघवकृत है। सुधाकर ने लिखा है कि काशी में गोविन्दाचारी नामक एक उत्तम ज्योतिषी थे। वे

मारण, मोहनादिक मन्त्र-तन्त्र कृत्यों मे प्रवीण थे। बाद मे वे विन्ध्यवासिनी के सन्निकट रहने लगे थे। उन्होने शक १७७५ के बाद साधनसुबोध, योगिनीदशा इत्यादि दो-तीन ग्रन्थ बनाये है। शक १७८५ मे उनका देहान्त हुआ। सोलापुरवासी अनन्ताचार्य म्हालगी नामक ज्योतिषी ने अनन्तफलदर्पण और आपाभटी जातक नामक दो ग्रन्थ बनाये है। पहिला शक १७९८ का है। उसमे जातक और ताजिक दोनो विषय है। अनन्ताचार्य के गुरु का नाम आपा जोशी भाण्डारकवठेकर था (शक १७८८ के लगभग उनका देहान्त हुआ)। शक १८०६ मे अनन्ताचार्य ने मुझसे कहा था कि उनके बताये हुए सभी फल बिलकुल ठीक होते थे और उन्होने प्राचीन ग्रन्थो के नियमो मे कही-कही परिवर्तन करके नये नियम बनाये थे। वे नियम इस ग्रन्थ मे है।

केरलमत

जातक मे एक केरलमत है। इसके नियम अन्य जातकग्रन्थो से कुछ भिन्न मालूम होते है। केरलमत के ग्रन्थ अनेक है।

प्रश्न

अमुक कार्य होगा या नही, किस प्रकार होगा इत्यादि अनेक प्रश्न लोग ज्योतिषियो से पूछते है। प्रश्न बताने की बहुत-सी रीतियाँ है। कुछ लोग प्रश्नकालीन लग्न के अनुसार फल बताते है, इसलिए प्रश्न होरास्कन्ध का एक अङ्ग कहा जा सकता है पर कुछ रीतियाँ ऐसी है जिनका ज्योतिष से कोई सम्बन्ध नही है। फिर भी लोगो की यह धारणा है कि ज्योतिषी सब प्रकार का भविष्य बताते है, इसलिए हर प्रकार का प्रश्न ज्योतिष का विषय समझा जाता है और सब प्रश्नग्रन्थो की गणना ज्योतिषग्रन्थो मे की जाती है। प्रश्न के बहुत से ग्रन्थ है।

प्रश्ननारदी नामक एक छोटा-सा ३२ श्लोको का आर्ष ग्रन्थ है। वह नारदसहितान्तर्गत कहा गया है, पर इस समय की उपलब्ध नारदसहिता बृहत्सहिता सरीखी है और उसमे यह प्रकरण नही है। उपलब्ध पौरुषेय ग्रन्थो मे भटोत्पलकृत ७२ आर्याओ का प्रश्नज्ञान या प्रश्नसमाप्ति नामक ग्रन्थ ही प्राचीन मालूम होता है।

रमल

पासों पर कुछ चिह्न बनाये रहते है। उन्हे फेकने पर चिह्नो की जो स्थिति बनती उसके अनुसार हर एक प्रश्न का उत्तर बताने की एक प्रश्नविद्या है, उसे पाशकविद्या रमल कहते है। रमल शब्द अरबी भाषा का है और इस समय सस्कृत मे इस विषय जो ग्रन्थ उपलब्ध है, उनमे पारिभाषिक शब्द प्राय अरबी के ही है, इससे आपाततः

यह विद्या मुसलमानो की प्रतीत होती है, पर बात ऐसी नही है। बावर नामक एक यूरोपियन को प्राचीन गुप्त राजाओ के समय की लिपि मे भोपपत्र पर लिखी हुई एक पुस्तक मिली है। उसमे भिन्न-भिन्न तीन विषयो का वर्णन है। वह सन् ३५० और ५०० के मध्य लिखी गयी है—यह सिद्ध हो चुका है। उसमे[1] आधुनिक रमल सरीखी पद्धति है, परन्तु पारिभाषिक नाम अधिकतर सस्कृत और कुछ प्राकृत है। तजौर के राजकीय पुस्तकालय मे गर्गसहिता की एक प्रति है। उसमे पाशकावलि नामक २३५ श्लोको का एक प्रकरण है। मैने देखा[2], उसके एक श्लोक मे दुन्दुभि शब्द आया है जो कि उपर्युक्त पुस्तक मे भी है। इससे सिद्ध होता है कि रमल विद्या इसी देश की है। बावर की पुस्तक की पाशकावलि की भाषा से अनुमान होता है कि वह शककाल के तीन-चार सौ वर्ष पहिले की होगी[3], इससे सिद्ध होता है कि उस समय हमारे देश मे यह विद्या थी। बाद मे इसके मूल सस्कृत ग्रन्थ लुप्त हो गये और उसके बाद अरबी ग्रन्थो के आधार पर सस्कृत मे ग्रन्थ बनने लगे। वे कब से बनने लगे, इसका निश्चित समय ज्ञात नही है। आफ्रेचसूची मे भटोत्पल और श्रीपति का एक-एक रमलग्रन्थ लिखा है। शक १६६७ के रमलामृत ग्रन्थ मे श्रीपति और भोज के रमलग्रन्थो का उल्लेख है। शक ७०० के लगभग सिन्ध प्रान्त के ज्योतिषी अरब गये थे। पता नही, वे अपने साथ रमल लाये थे या नही। उपर्युक्त दोनो पाशकावलियो और रमल की पद्धति पूर्णतया एक है या भिन्न, इसे मैने नही देखा है। इसे देखने पर निर्णय हो सकता है कि मुसलमानो ने रमल का स्वय आविष्कार किया है या उनके यहाँ प्राचीन काल मे वह भारत से ही गया है।

रमल के ग्रन्थ अनेक है। रमलचिन्तामणि नामक एक ग्रन्थ चिन्तामणि नामक ज्योतिषी ने बनाया है। उसकी ग्रन्थसख्या लगभग ७०० है। आनन्दाश्रम मे शक

---

१. उस पुस्तक का इतिहास, उसका कुछ भाग और उसके लेखनकाल का निर्णय इत्यादि विषयक लेख बंगाल एशियाटिक सोसायटी के १८९० नवम्बर और १८९१ अप्रैल के मासिकों में और इण्डियन ऐंटिक्वेरी की सन् १८९२ की पुस्तक मे छपे हैं। इस समय डॉ० रूडोल्फ होरनल इस पुस्तक को छपा रहे हैं।

२. Burnell's Catalogue

३. बावर की पुस्तक में मन्त्रशास्त्र का एक ग्रन्थ है। उसे देखने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि उसे किसी बौद्ध ने बनाया है। उसकी पाशकावलि की भाषा शुद्ध संस्कृति नही है। बौद्ध लोग अपने ग्रन्थ अधिकतर प्राकृत भाषा मे बनाते थे अतः पाशकावलि चन्द्रगुप्त के समय की होगी।

१६५३ की लिखी हुई उसकी एक प्रति है, अत वह ग्रन्थ लगभग शक १६०० के पहिले का होगा। रमलामृत ग्रन्थ खानदेश के प्रकाश नामक स्थान के निवासी जयराम नामक औदीच्य ब्राह्मण ने सूरत मे सवत् १८०२ (शक १६६७) मे बनाया है। उसकी ग्रन्थ-सख्या लगभग ८०० है।

स्वप्नादि

स्वप्न और पल्लीपतन सहिता तथा होरा दोनो के अङ्ग कहे जा सकते है। इनके कुछ स्वतन्त्र ग्रन्थ मिलते है।

ताजिक

जिस समय मनुष्य के जन्मकालीन सूर्य तुल्य सूर्य होता है अर्थात् जब उसकी आयु का कोई भी सौरवर्ष समाप्त होकर दूसरा सौरवर्ष लगता है, उस समय के लग्न और ग्रहस्थिति द्वारा मनुष्य को उस वर्ष मे होने वाले सुख-दुख का निर्णय जिस पद्धति द्वारा किया जाता है उसे ताजिक कहते है। दामोदरसुत बलभद्रकृत[1] हायनरत्न नामक एक ताजिकग्रन्थ है। उसमे लिखा है—

यवनाचार्येण पारसीकभाषया प्रणीत ज्योतिषशास्त्रैकदेशरूप वार्षिकादिनानाविध-फलादेशफलकशास्त्र ताजिकशब्दवाच्य तदनन्तरभूतै समरसिहादिभि ब्राह्मणैस्त-

---

१. बलभद्र भागीरथीतटवर्ती कान्यकुब्जनगर के निवासी भारद्वाज गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनके गुरु का नाम राम था। इनके लेख से ज्ञात होता है कि इन्होने यह ग्रन्थ उस समय बनाया जब ये बादशाह शाहशुजा के साथ राजमहल मे रहते थे। इनके पितामह लाल ज्योतिषी थे। उनके पुत्र देवीदास, क्षेमङ्कर, (क्षेमकर्ण?), नारायण, चतुर्भुज मिश्र और दामोदर सभी विद्वान् थे। देवीदास ने व्यक्तगणित और श्रीपति-पद्धति की टीकाएँ की है। दामोदर ने भास्करकृत करणकुतुहल की टीका की है। बलभद्र के लघुभ्राता हरि नामक थे। हायनरत्न मे यह सम्पूर्ण वृत्तान्त लिखा है। इस ग्रन्थ के काल के विषय में लिखा है—

योगो मासकृतेः समः करहृ (ह) तो योगस्थितिः स्यात्तिथिस्त्रिघ्ना वारमितिस्तदर्ध-
(? दूर्ध्वं)

सदृशं (दशं) भं सर्वयोगो युतः। भूबाणाक्षकुभि १५५१ र्भवेच्छकमितिर्ग्रन्थस्य।।

इसमें कई संशयग्रस्त स्थल है। भिन्न-भिन्न वर्ष और मास मानकर गणित करने का अवकाश इस समय नही है। सुधाकर ने इस श्लोक द्वारा शक १५६४ निश्चित किया है पर वह अशुद्ध है। आफ्रेचसूची में इसका काल सन् १६५६ लिखा है।

देव शास्त्र संस्कृतशब्दोपनिबद्ध ताजिकशब्दवाच्यम् । अतएव तैस्ता एव इक्कबालादयो यावन्य. सज्ञा उपनिबद्धा ।।

इसमे भी मुख्यत. ताजिक का उपर्युक्त ही लक्षण है। इस उद्धरण से यह भी सिद्ध होता है कि ताजिक शाखा यवनो से ली गयी है। पार्थपुरस्थ ढुण्ढिराजात्मज गणेश का लगभग शक १४८० का ताजिकभूषणपद्धति नामक ग्रन्थ है। उसमे लिखा है—
"गर्गाद्यैर्यवनैश्च रोमकमुखै सत्यादिभि कीर्तित शास्त्र ताजिकसञ्ज्ञकम् ।"
इससे भी ज्ञात होता है कि ताजिक यवनो से लिया गया है। दैवज्ञालकृति नामक तेजसिहकृत एक ताजिकग्रन्थ है। प्रो० भाण्डारकरकृत विवेचन[1] से उसका काल लगभग सन् १३०० ज्ञात होता है। समरसिहकृत ताजिकतन्त्रसार नामक एक ग्रन्थ है। डेक्कनकालेजसग्रह की उसकी प्रति[2] सवत् १४९१ (शक २३५६) की लिखी है, अत उसकी रचना इसके बहुत पहिले हुई होगी। हायनरत्नकारकथित समरसिह ये ही होगे।

इससे ज्ञात होता है कि शक १२०० के बाद अर्थात् इस देश मे मुसलमानी राज्य होने पर हमारे यहाँ ताजिक शाखा आयी है। बहुत-से ग्रन्थो मे ताजिक को तार्तीयक कहा है पर ताजिक शब्द द्वारा उसका यह संस्कृत रूप बनाया हुआ ज्ञात होता है। ताजिक को ताजक भी कहते है।

ताजिकशाखा यवनो से ली गयी, इसका अर्थ केवल इतना ही है कि वर्षप्रवेशकालीन लग्न द्वारा फलादेश करने की कल्पना और कुछ पारिभाषिक नाम यवनो से लिये गये। लग्नकुण्डली और उसके फल के नियम ताजिक मे प्राय जातक सदृश ही है और वे हमारे ही है।

ताजिक के और भी अनेक ग्रन्थ है। नन्दिग्रामस्थ केशव का ताजिकपद्धति नामक ग्रन्थ है। उस पर मल्लारि और विश्वनाथ की टीकाएँ है। हरिभट्टकृत ताजकसार नामक एक ग्रन्थ शक १४४५ के लगभग का है। ज्ञानराज के पुत्र सूर्य का ताजकालकार नामक एक ग्रन्थ है। नीलकण्ठकृत ताजिकनीलकण्ठी नामक ग्रन्थ शक १५०९ का है। उस पर ग्रन्थकार के पुत्र गोविन्द की शक १५४४ की रसाला नाम्नी टीका है। वह छप चुकी है। इसके अतिरिक्त ग्रन्थकार के पौत्र माधव की शक १५५५ की और विश्वनाथ की टीका है। इस ग्रन्थ का सम्प्रति बडा प्रचार है। ताप्ती

---

१. पुस्तक संग्रह की सन् १८८२–८३ की रिपोर्ट देखिए।

२. डेक्कन कालेज संग्रह नं० ३२२ सन् १८८२-८३ में ग्रन्थलेखनकाल 'मार्गशीर्ष वदि १० गुरौ' लिखा है। शक १३५६ के अमान्त मार्गशीर्ष की वदी १० को गुरुवार था अतः उसमे लिखा हुआ १४९१ विक्रम संवत् होगा।

के उत्तरतटस्थ प्रकाश नामक स्थान के निवासी याज्ञवल्क्यगोत्रीय बालकृष्ण ने ताजिककौस्तुभ नामक ग्रन्थ शक १५७१ में बनाया है। बालकृष्ण के पिता इत्यादिको के नाम क्रमश यादव, रामकृष्ण, नारायण और राम थे। नारायणकृत ताजकसुधा-निधि नामक शक १६६० के आसपास का एक विस्तृत ग्रन्थ है।